वीर शासन के प्रभावक आचार्य

□

भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर प्रकाशित

वीर शासन के प्रभावक आचार्य

डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर

डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल

★

SHREE ARIHANT SILK MILLS
Shop No. 123, Kashi Market,
Ring Road, SURAT-2.
Ph- 629327, 636854 (S)
211054, 211895 (R)

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक ३८१
सम्पादक एवं नियोजक
लक्ष्मीचन्द्र जैन
जगदीश

Lokodaya Series : Title No. 381
VEER SHASAN KE
PRABHAVAK ACHARYA
(Biographical)
DR. VIDYADHAR JOHRAPURKAR
DR. KASTURCHANDRA KASLIWAL
First Edition : April 1975
Price : Rs. 12.00

©
BHARATIYA JNANPITH
B/45-47 Connaught Place
NEW DELHI-110001

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/४५-४७ कॅनॉट प्लेस, नयी दिल्ली-११०००१
प्रथम संस्करण : अप्रैल १९७५
मूल्य : बारह रुपये

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-२२१००५

प्रस्तुति

☐

भगवान् महावीर के निर्वाण की यह पचीसवीं शती धन्य है कि इसने हमारी पीढ़ी को गौरव का नया आयाम दिया। हमने भगवान् महावीर का ही पुण्य-स्मरण नहीं किया, उन पूज्य पुरुषों के प्रति भी श्रद्धा-सुमन अर्पित किये हैं जिन्होंने भगवान् महावीर की वाणी को 'गणों' के लिए शब्द-बद्ध किया, और फिर अनागत के लिए लिपि-बद्ध किया—वे सब आचार्य जिन्होंने भगवान् महावीर के निर्वाणोपरान्त के इस लम्बे काल में ज्ञान की ज्योति को प्रज्वलित रखा, झंझाओं और तूफ़ानों के आक्रमण को सहा और अपनी तपस्या के तेज से अन्धकार को निरस्त किया। उनके अवदान का स्मरण जब हम करते हैं तो गद्गद और पुलकित हो जाते हैं।

भारत के मध्यकालीन इतिहास में विदेशियों के हमलों की एक लम्बी और अटूट श्रृंखला का वर्णन है जिसने राष्ट्र के प्राणों को कस लिया था; देशजों की कलह के नाग ने व्यवस्था को ही डस लिया था। अहिंसा और तपस्या जिनका धन था; मन्दिर, मूर्ति और शास्त्रों को जो उनके उपासक अपना श्वासोच्छ्वास मानते थे—वे नग्न दिगम्बर साधु और उनके अनुगत श्रमण मुस्लिम काल में उच्छेद की असि और ध्वंस की लपटों से कैसे बच पाये, यह बहुत बड़ा आश्चर्य है। दक्षिणापथ की महान्-यात्रा का संकल्प लेकर आचार्यों और मुनियों के, जो संघ पग-पग पर विपत् और मृत्यु को चुनौती देते हुए जब आगे बढ़े तो क्या प्राणरक्षा ही उनका उद्देश्य था? उनके प्राण जिस धर्म के लिए समर्पित थे, उनका धर्म जिस ज्ञान की आत्मा से निर्मित था उस ज्ञान की कृतार्थता इस बात में थी कि वह जन-जन के मन को पावन तीर्थ बना दे।

उस उद्देश्य को साध सकना, ज्ञान-कोष को सुरक्षित रख सकना, प्राण-रक्षा से भी बड़ा विस्मय है।

हम जो उत्तर में रहते हैं, प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के ग्रन्थों का अध्ययन करते समय, श्रुत-पूजा करते समय, कभी सोच भी नहीं पाते कि इन शास्त्रों के रचयिता आचार्य या मुनि अथवा भट्टारक प्रायः वे हैं जिन्होंने दक्षिण के पर्वतों और वहाँ की गुफाओं में रहकर इनका सृजन किया है।

भारतीय ज्ञानपीठ ने भगवान् महावीर के निर्वाणोत्सव के अवसर पर जिस गुरुतर कार्यक्रम को हाथ में लिया था उसकी पूर्ति श्री साहू शान्तिप्रसादजी की सतत प्रेरणा और मार्ग-दर्शन से ही सम्भव हो पायी है।

इस कार्यक्रम का एक महत्त्वपूर्ण अंग यह था कि ऐसे दो प्रकाशन नियोजित किये जायें जिनमें से एक की विषय-वस्तु भगवान् महावीर की धार्मिक-दार्शनिक-साहित्यिक परम्परा की ज्योति को प्रज्वलित रखनेवाले आचार्यों के कृतित्व से सम्बन्धित हो और उसके अन्तर्गत वह सब परम्परानुमोदित अतिशय सम्बन्धी कथाएँ भी आ जायें जिनका लक्ष्य धर्म-प्रभावना और धर्म को पराभव से बचाना रहा है। दूसरे प्रकाशन का विषय ऐसे प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाओं के कृतित्व का परिचय प्रस्तुत करता है जो भगवान् महावीर के काल से लेकर सन् १९०० तक अपने व्यक्तित्व और कृतित्व की गरिमा से समसामयिक सामाजिक इतिहास में अपना विशेष स्थान बनाकर तिरोहित हो गये। प्रसन्नता की बात है कि यह दोनों ग्रन्थ निर्वाण-महोत्सव वर्ष की महावीर-जयन्ती के दिन पाठकों के हाथ में पहुँच रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ, 'वीर शासन के प्रभावक आचार्य' का सृजन दो मनीषी अध्येताओं के परिश्रम का फल है। डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर ने इस पुस्तक का आदिभाग लिखा है जिसमें 'वीर निर्वाण संवत् की पहली शताब्दी से लेकर अठारहवीं शती तक अर्थात् ईसवी पूर्व सन् ५२७ से लेकर १३वीं शताब्दी तक के आचार्यों के कृतित्व का परिचय है, और पुस्तक का दूसरा भाग डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल ने लिखा है जिसमें भगवान् महावीर के निर्वाण की उन्नीसवीं शती से पचीसवीं शती तक के आचार्यों, भट्टारकों और ग्रन्थकारों का परिचय दिया है। यद्यपि ग्रन्थ का विषय एक है, किन्तु दोनों विद्वानों ने अपने-अपने निर्दिष्ट काल के आचार्यों के जीवन और कृतित्व का परिचय प्रस्तुत करने की शैली में, सामग्री के संयोजन में, विस्तार और संक्षेप की दृष्टि में तथा ऐतिहासिकता और परम्परा से प्राप्त किंवदन्तियों के सन्तुलन में अपना-अपना विवेक बरता है। यही कारण है कि ऐतिहासिक वर्ग की इस कृति में यत्र-तत्र कथा की रोचकता आयी है, और उद्धरणों के कारण साहित्यिक रंग-रूपों की झाँकी भी दृष्टिगोचर हुई है।

जैसा कि भूमिका से स्पष्ट होगा 'जैन शासन के प्रभावक आचार्य' में आचार्यों के परिचयवृत्त को प्रधानता देते हुए भी उनके प्रभावकत्व पर विशेष बल दिया गया है। यह प्रभावकत्व प्रभावना अंग की मूल परिधि को व्याप्त किये हुए है। अतः आचार्यों का ज्ञान, साहित्य-रचना, तप और साधना, भाषा और काव्य के क्षेत्र में उपलब्धि, तात्त्विक वाद-विवाद में विचक्षणता एवं अपराजेयता, मन्त्र-तन्त्र के स्तर पर वह अतिशय और चमत्कार जो शुद्धज्ञान और निश्चय नय की कोटि से नीचा है किन्तु राजा और प्रजा जिसे सीता की अग्नि-परीक्षा की भाँति, धर्म के शील का मापदण्ड मानते रहे हैं—उन सब क्षेत्रों में आचार्यों की उपलब्धि जो प्रत्यक्ष है अथवा राज-सम्मानादि की कथाएँ जो परम्परागत हैं उन सबका संक्षेप में निदर्शन आ गया है।

इस कृति की परिकल्पना घोषित करने के उपरान्त इस पक्ष पर भी विचार किया गया कि जब भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् स्व. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा तैयार किये गये ग्रन्थ 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा', चार खण्डों में प्रकाशित कर रही है; आचार्य हस्तीमलजी द्वारा 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' के तीन भागों में (दूसरे से चौथे भाग तक) इसी विषय पर विशद प्रकाश डालने की योजना को मूर्तरूप दिया जा रहा है, तथा 'जैनधर्म का प्राचीन इतिहास' के द्वितीय भाग में पं. परमानन्द शास्त्री ने इस विषय के अपने विस्तृत अध्ययन को लेख-बद्ध किया है, तो इस लघुकाय पुस्तक की क्या आवश्यकता रह जायेगी? ज्ञानपीठ ने वास्तव में इस परिप्रेक्ष्य में इस पुस्तक की महत्ता इसी बात में देखी कि यह 'लघुकाय' है और कम मूल्य की है, फिर भी इसमें व्यवस्थित ढंग से सभी प्रमुख-प्रमुख आचार्यों और ग्रन्थकारों का परिचय आ गया है—इस सीमा तक कि जैनाचार्यों के अवदान की जानकारी चाहने वाले जैनेतर विद्वान् और सामान्य पाठक सरलता से यह ज्ञान इस पुस्तक से प्राप्त कर सकेंगे तथा जैनधर्म की परीक्षाओं के लिए भी यह उपयोगी होगी। पाठक स्वयं देखेंगे कि इस दृष्टि से इस पुस्तक का महत्त्व विशेष है, सार्थक है।

जैसा कि ऊपर लिखा है, 'प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ' (जिसमें भगवान् महावीर के शासन के समय से लेकर आधुनिक युग तक के दिवंगत जैन राजाओं, श्रेष्ठियों, सेनापतियों, सामन्तों और सामाजिक महापुरुषों का कृतित्व परिचय वर्णित है) तथा यह पुस्तक 'जैन शासन के प्रभावक आचार्य' एक ही शृंखला की कड़ियाँ हैं।

भगवान् के निर्वाण महोत्सव के अवसर पर डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर और डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल के कृतित्व से सम्बद्ध होकर, उसे प्रकाश में लाकर भारतीय ज्ञानपीठ अपने को गौरवान्वित अनुभव करती है।

भारतीय ज्ञानपीठ की मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला के सम्पादक-द्वय, डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये तथा सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने निर्वाण महोत्सव की

प्रकाशन योजनाओं में जो योगदान दिया है, वह उनकी विद्वत्ता के अनुरूप है। भारतीय ज्ञानपीठ उनके प्रति कृतज्ञ है। भारतीय ज्ञानपीठ के संस्थापक तथा प्रेरणा-स्रोत श्री साहूजी और भारतीय ज्ञानपीठ के संचालन-कार्य को अपने मार्गदर्शन से सुगम बनाने-वाली, ज्ञानपीठ की अध्यक्षा श्रीमती रमा जैन के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि निर्वाण-महोत्सव के अवसर पर यह सारा प्रकाशन कार्यक्रम उनकी श्रद्धा का प्रतीक है। श्रद्धा का यह सुख अपरिमित है।

लक्ष्मीचन्द्र जैन
सम्पादक एवं नियामक
लोकोदय ग्रन्थमाला

नयी दिल्ली
१० अप्रैल, १९७५

अनुक्रम

प्रथम खण्ड

प्राक्कथन ३

पहली शताब्दी ७

गौतम, सुधर्म, जम्बू, विष्णुनन्दि और प्रभव

दूसरी शताब्दी १०

शय्यम्भव, अन्य आचार्य

तीसरी शताब्दी ११

भद्रबाहु, विशाखादि आचार्य, स्थूलभद्र, महागिरि, सुहस्ति

चौथी शताब्दी १४

सुस्थित, सुहस्ति के अन्य शिष्य, श्यामार्य, माघरक्षित और इन्द्ररक्षित

पांचवीं शताब्दी १७

कालक, अन्य आचार्य

छठी शताब्दी १९

वज्र, रक्षित, अन्य आचार्य

सातवीं शताब्दी २१

धरसेन-पुष्पदन्त और भूतबलि, गुणधर, पादलिप्त, खपुट, मथुरा के शिल्पों से ज्ञात आचार्य, अन्य आचार्य।

आठवीं शताब्दी २६

कुन्दकुन्द, विमल, अन्य आचार्य।

नौवीं शताब्दी २९

गृध्रपिच्छ उमास्वाति, सिंहनन्दि, स्कन्दिल और नागार्जुन, अन्य आचार्य।

दसवीं शताब्दी ३२

समन्तभद्र, सिद्धसेन, जीवदेव, वट्टकेर, सर्वनन्दि, देवर्धि, अन्य आचार्य।

ग्यारहवीं शताब्दी ३८

यतिवृषभ, शिवार्य, पूज्यपाद, पात्रकेसरी, भद्रबाहु (द्वितीय), मल्लवादी, संघदास और धर्मसेन, वीरदेव, विजयकीर्ति और चन्द्रनन्दि, कुमारदत्त आदि आचार्य, जिननन्दि, गुहनन्दि, अन्य आचार्य।

बारहवीं शताब्दी ४५

मानतुंग, जिनभद्र, प्रभाचन्द्र और रविकीर्ति, अन्य आचार्य।

तेरहवीं शताब्दी ४७

जटासिंहनन्दि, रविषेण, जिनदास, उदयदेव आदि आचार्य, आर्यनन्दि आदि आचार्य, अकलंकदेव, हरिभद्र, संघदास (द्वितीय), शीलगुण, अन्य आचार्य।

चौदहवीं शताब्दी ५४

विमलचन्द्र, अपराजित, उद्द्योतन, जिनसेन, प्रभाचन्द्र (द्वि.), वर्धमान, अर्ककीर्ति, अपराजित, बप्पभट्टि, वीरसेन, जिनसेन (द्वि.), गुणभद्र, कुमारसेन, शीलांक, महावीर, शाकटायन, उग्रादित्य, जयसिंह, नागनन्दि, देवेन्द्र, कमलदेव, शान्तिवीर।

पन्द्रहवीं शताब्दी ६३

विद्यानन्द व माणिक्यनन्दि, इन्द्रकीर्ति, सर्वनन्दि, कनकसेन, मौनि भट्टारक व माधवचन्द्र, कुमारसेन (द्वि.) सिद्धर्षि, वर्धमान (द्वि) वासुदेव-शान्तिभद्र, पद्मनन्दि, देवसेन, हरिषेण, नागदेव, उद्द्योतन-सर्वदेव, हेलाचार्य व इन्द्रनन्दि, पद्मकीर्ति, गुणचन्द्र, वासवचन्द्र, सोमदेव एलाचार्य, नागनन्दि (द्वि.), जयदेव, अभयनन्दि, धीरदेव, अर्हन्नन्दि, और नाथसेन, अमृतचन्द्र, योगीन्दु, अन्य आचार्य।

सोलहवीं शताब्दी ७३

अजितसेन, वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि, नेमिचन्द्र, अमितगति, जयसेन, महासेन, अभयदेव, पद्मनन्दि, वीरभद्र, जिनेश्वर, अभयदेव (द्वि.), धर्मघोष-वर्धमान, शान्तिसूरि, शान्तिसूरि (द्वि.), महेन्द्र, सूराचार्य, वादिराज, प्रभाचन्द्र, नयनन्दि, मल्लिषेण, नरेन्द्रसेन-नयसेन, सुदत्त व शान्तिदेव, श्रीचन्द्र, वादीभसिंह, शुभचन्द्र, वसुनन्दि, कनकामर, अन्य आचार्य, अनन्तवीर्य, कनकप्रभ, रविचन्द्र, बाहुबली, गुणवीर, कुलचन्द्र-

यशोनन्दि, अनन्तवीर्य, कनकनन्दि, बालचन्द्र, गोवर्धन, नागसेन, केशवनन्दि, महासेन, इन्द्रकीर्ति, गुणसेन, सकलचन्द्र व माधवसेन, अभयचन्द्र, कनकनन्दि, शान्तिनन्दि व माघनन्दि, त्रिभुवनचन्द्र ।

सत्रहवीं शताब्दी ९०

अजितसेन (द्वितीय), नरेन्द्रसेन और नयसेन (द्वितीय), चतुर्मुखदेव व उनका शिष्यमण्डल, मेघचन्द्र, वीरनन्दि व प्रभाचन्द्र, प्रभाचन्द्र, माघनन्दि, पद्मनन्दि, शुभचन्द्र, श्रीपाल, भानुकीर्ति, नेमिचन्द्र, देवभद्र, अभयदेव व मलधारी हेमचन्द्र, मुनिचन्द्र व देवसूरि, हेमचन्द्र, जिनवल्लभ, जिनदत्त, जिनचन्द्र, अन्य आचार्य, कुलचन्द्र, पद्मनन्दि, श्रीनन्दि, रामसेन, कमलभद्र, आन्ध्रप्रदेश के चार आचार्य, श्रीधर व वासुपूज्य, विजयकीर्ति, इन्द्रसेन, चारुकीर्ति, रविचन्द्र और कनकप्रभ, मुनिचन्द्र, छत्रसेन, शुभकीर्ति, अर्हंणन्दि, गण्डविमुक्त, नेमिचन्द्र, शुभद्र, माणिक्यसेन, हरिनन्दि, रामकीर्ति, माणिकनन्दि, विजयकीर्ति, रामचन्द्र, गुणभद्र ।

अठारवीं शताब्दी १०६

मदनकीर्ति, वसन्तकीर्ति, नयकीर्ति व बालचन्द्र, अमरकीर्ति, भावसेन, पद्मसेन, सोमप्रभ, जगच्चन्द्र, देवेन्द्र, विजयसेन, जयसिंह व बालचन्द्र, जिनपति, जिनेश्वर, अन्य आचार्य, देवचन्द्र, वज्रनन्दि, सकलचन्द्र, शुभचन्द्र, धर्मचन्द्र, सागरनन्दि, पुष्पसेन ।

द्वितीय खण्ड

प्रस्तावना ११५

भट्टारक प्रभाचन्द्र (संवत् १३१४ से १४०८ तक) १२१

भट्टारक पद्मनन्दि (संवत् १३८५ से १४५० तक) १२८

भट्टारक सकलकीर्ति (संवत् १४५६ से १४९९ तक) १३२

भट्टारक शुभचन्द्र (संवत् १४५० से १५१६ तक) १४७

भट्टारक जिनचन्द्र (संवत् १५०७ से १५७१ तक) १४९

भट्टारक प्रभाचन्द द्वितीय (संवत् १५७१ से १५९२ तक) १५३

आचार्य सोमकीर्ति (संवत् १५२६ से १५४० तक) १५६

भट्टारक ज्ञानभूषण (संवत् १५३० से १५५७ तक) १६२

भट्टारक विजयकीर्ति (संवत् १५५७ से १५७३ तक) १७२

भट्टारक शुभचन्द्र (संवत् १५७३ से १६१३ तक) १७८
भट्टारक रत्नकीर्ति (संवत् १६०० से १६५६ तक) १८९
भट्टारक कुमुदचन्द्र १९६
भट्टारक चन्द्रकीर्ति (संवत् १६०० से १६६० तक) २०३
भट्टारक अभयचन्द्र (संवत् १६८५ से १७२१ तक) २०६
भट्टारक महीचन्द्र २१०
भट्टारक वीरचन्द्र २१२
भट्टारक क्षेमकीर्ति (संवत् १७२० से १७५७ तक) २२०
भट्टारक शुभचन्द्र द्वि. (संवत् १७२५ से १७४८ तक) २२३
शाकम्भरी प्रदेश के प्रभावक आचार्य २२७
चाकसू, आमेर, जयपुर एवं श्रीमहावीरजी की गादीके प्रमुख भट्टारक २३६
भट्टारक धर्मचन्द्र २३८
भट्टारक ललितकीर्ति (संवत् १६०३ से १६२२ तक) २४१
भट्टारक चन्द्रकीर्ति (संवत् १६२२ से १६६२ तक) २४३
भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति (संवत् १६६२ से १६९० तक) २४४
भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति (संवत् १६९१ से १७२२ तक) २४६
भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति (संवत् १७२२ से १७३३ तक) २५०
भट्टारक जगत्कीर्ति (संवत् १७३३ से १७७१ तक) २५३
भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति (संवत् १७७१ से १७९२ तक) २५६
भट्टारक महेन्द्रकीर्ति (संवत् १७९२ से १८१५ तक) २५८
भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति (संवत् १८१५ से १८२२ तक) २६०
भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति (संवत् १८२२ से १८५२ तक) २६१
भट्टारक सुखेन्द्रकीर्ति २६३
आचार्य शान्तिसागर २६४
आचार्य वीरसागर २६६
आचार्य शिवसागर २६७
आचार्य सूर्यसागर २६९
आचार्य ज्ञानसागर २७०

प्रथम खण्ड

प्राक्कथन

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥

—श्री अमृतचन्द्र-पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

रत्नत्रय—शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र—के तेज से स्वयं को निरन्तर प्रभावित करना चाहिए तथा—इस आत्मसाधना के लिए अनुकूल वातावरण समाज में बना रहे इसलिए दान, तपस्या, जिनपूजा तथा विद्याभ्यास के उत्कर्ष द्वारा जिनधर्म का प्रभाव बढ़ाना चाहिए। आचार्यों के इस उपदेश में व्यक्ति और समाज के हितों का सुन्दर समन्वय किया गया है।

किसी व्यक्ति की आत्मसाधना का सीधा परिचय भावी पीढ़ियों को नहीं हो सकता। किन्तु धर्मप्रभावना के लिए किये गये कार्यों से—विशेषकर साहित्य और शिल्प-कृतियों से—भावी पीढ़ियां दीर्घकाल तक प्रेरणा प्राप्त करती हैं। प्रत्येक प्रबुद्ध समाज अपने अतीत के इन गौरव-चिह्नों से परिचित होने का प्रयत्न करता है और यथासम्भव उनकी रक्षा में सावधान रहता है।

जैन साहित्य और शिल्पकृतियों तथा शिलालेखों का अध्ययन पिछली दो शताब्दियों में अनेक विद्वानों द्वारा किया गया है। किन्तु अभी कोई ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिसमें जैन संघ के सभी प्रमुख प्रभावशाली आचार्यों का प्रमाणाधारित विवरण कालक्रम से दिया गया हो। वीर निर्वाण संवत् की पचीसवीं शताब्दी के पूर्ण होने के सुअवसर पर ऐसा इतिहास-संकलन औचित्यपूर्ण होगा इस दृष्टि से यह ग्रन्थ लिखा जा रहा है।

प्राचीन भारत के इतिहास के साधन सीमित हैं। कितने ही प्राचीन आचार्यों के समय, सम्प्रदाय तथा कार्यों के विषय में निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं है। इसलिए विद्वानों में इन विषयों पर काफ़ी विवाद होते रहे हैं। हमने यथासम्भव इन विवादों से दूर रहकर आचार्यों के कृतित्व के उज्ज्वल पक्ष तक सीमित रहने का प्रयत्न किया है। इन आचार्यों के कार्य का गौरव समग्र जैन समाज का गौरव है—उसे अमुक एक सम्प्रदाय में सीमित मानना उचित नहीं होगा। उनमें से अनेक आचार्य तो समग्र भारतीय समाज के लिए गौरव के विषय हैं। अनेक जैनेतर विद्वानों ने भी इस दृष्टि से उनके कार्य का सम्मान सहित अध्ययन किया है।

यह संकलित विवरण के आधार-ग्रन्थों का यथास्थान उल्लेख किया है। उन सबके विद्वान् लेखकों के प्रति हम कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

प्राचीनता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझकर हमने वीर निर्वाण संवत् के प्रथम सहस्र वर्षों के सभी ज्ञात आचार्यों का उल्लेख किया है, यद्यपि इनमें से कई केवल नाम से ही ज्ञात हैं—अन्य कोई विवरण उनके विषय में प्राप्त नहीं होता। बाद के आचार्यों का ऐसा उल्लेख सम्भव नहीं हुआ, फिर भी यथासम्भव प्रयास किया गया है कि किसी महत्त्वपूर्ण आचार्य का नाम अनुल्लिखित न रहे।

इन आचार्यों की जिन बहुमुखी गतिविधियों से जैन समाज के प्रभाव में वृद्धि हुई उनका संक्षिप्त दिग्दर्शन यहाँ उपयोगी होगा।

श्रुताभ्यास

भगवान् महावीर के उपदेशों को शब्दबद्ध कर जिन्होंने भावी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखा वे आचार्य प्रथमतः हमारे श्रद्धाभाजन होते हैं। इनमें गौतम व सुधर्म (द्वादशांग), शय्यम्भव (दशवैकालिक), भद्रबाहु (छेदसूत्र), श्यामार्य (प्रज्ञापना), पुष्पदन्त-भूतबलि (षट्खण्डागम) तथा गुणधर (कषायप्राभृत) इन आचार्यों का समावेश होता है। इनके साथ विष्णुनन्दि आदि वे आचार्य भी स्मरणीय हैं जिनके नेतृत्व में इन आगमों का अध्ययन गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा शताब्दियों तक होता रहा।

आगमों पर आधारित नूतन ग्रन्थों की रचना की दृष्टि से पादलिप्त (तरंगवती), कुन्दकुन्द (समयप्राभृत आदि), विमल (पद्मचरित), उमास्वाति (तत्त्वार्थसूत्र), समन्तभद्र (आप्तमीमांसा आदि), सिद्धसेन (द्वात्रिंशिका), वट्टकेर(मूलाचार), सर्वनन्दि(लोकविभाग), यतिवृषभ (तिलोयपण्णत्ती), शिवार्य (आराधना), पूज्यपाद (जैनेन्द्र व्याकरण आदि), पात्रकेसरी (त्रिलक्षणकदर्थन), भद्रबाहु (निर्युक्ति), मल्लवादी (नयचक्र), संघदास (वसुदेवहिंडी), मानतुंग (भक्तामरस्तोत्र), जिनभद्र (विशेषावश्यक आदि), जटासिंहनन्दि (वरांगचरित), रविषेण (पद्मचरित), जिनदास (चूर्णि), अकलंकदेव (तत्त्वार्थवार्तिक आदि) तथा हरिभद्र (समरादित्यकथा आदि) पथप्रवर्तक सिद्ध हुए हैं। बाद के अनेक आचार्यों ने इस साहित्यिक परम्परा को अपने योगदान द्वारा समृद्ध बनाया। विस्तारभय से यहाँ उनकी पूरी नामावली नहीं दी है।

तपस्या

जैन मुनियों के लिए निर्धारित न्यूनतम आचार-नियम उद्दिष्टाहारत्याग, अस्नान, केशलोंच आदि सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से कठोर तपस्या ही कहलायेंगे। इनसे भी अधिक विशिष्ट प्रकारों से तप:साधना का वर्णन कुछ आचार्यों की जीवनकथा में मिलता है। भद्रबाहु ने दीर्घकाल अवमौदर्य की साधना की थी। पुष्पदन्त ने बारह वर्ष एकान्तर उपवास किये थे। गुणभद्र पक्षोपवास किया करते थे। चतुर्मुखदेव ने चार बार एक-एक सप्ताह उपवास किये थे। अभयदेव ने आजीवन दही आदि विकृतियों का त्याग किया था। मुनिचन्द्र ने केवल कांजी का ही आहार ग्रहण किया था। जगच्चन्द्र ने बारह वर्ष आचाम्ल तप किया था। इस प्रकार की तप:साधना को आधुनिक समय में देहदण्डन

मात्र समझ लिया जाता है किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि ये उदाहरण निरन्तर भोगोपभोगों में आसक्त सामान्य लोगों के लिए एक सर्वथा भिन्न आत्महितकारी मार्ग का दर्शन कराते हैं।

राजसम्मान

जैन आचार्यों की विभिन्न लोकहितकारी प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर अनेक राजाओं ने समय-समय पर उनके उपदेश सुने तथा दानों द्वारा उनके ज्ञानप्रसारादि कार्यों में सक्रिय सहयोग दिया। राजा श्रेणिक और अजातशत्रु द्वारा गौतम और सुधर्म के सम्मान की कथाएँ पुराणप्रसिद्ध हैं। चन्द्रगुप्त ने भद्रबाहु से और सम्प्रति ने सुहस्ति से धर्मकार्यों की प्रेरणा प्राप्त की। शक राजाओं ने कालक के अनुरोध पर अत्याचारी गर्दभिल्ल का नाश किया। सातवाहन कुल के राजाओं ने कालक और पादलिप्त का सम्मान किया। विक्रमादित्य सिद्धसेन से और दुर्विनीत पूज्यपाद से प्रभावित थे। गंगवंश-स्थापक माधववर्मा सिंहनन्दि के शिष्य थे। इनके वंशजों ने भी वीरदेव आदि अनेक आचार्यों को दानादि से सम्मानित किया। चालुक्य वंश के राजाओं ने जिननन्दि, प्रभाचन्द्र, रविकीर्ति आदि के धर्मकार्यों में सहयोग दिया। हर्ष राजा की सभा में मानतुंग सम्मानित हुए। राष्ट्रकूट वंश के राजाओं की सभाओं में अकलंकदेव, जिनसेन, उग्रादित्य आदि की वाणी मुखरित हुई। कर्णाटक में होयसल वंश तथा गुजरात में चौलुक्य वंश का समय शिल्प और साहित्य की समृद्धि से परिपूर्ण रहा, इस काल के आचार्यों के उल्लेखों की संख्या सैंकड़ों में पहुँचती है।

वादविजय

प्राचीन भारत के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों ने अपने-अपने मत के समर्थन और अन्य मतों के खण्डन के लिए तर्कशास्त्र का व्यापक उपयोग किया। ऐसे वादविवाद तब विशेष महत्त्वपूर्ण हुए जब विभिन्न राजाओं की सभाओं में संस्कृत को प्रतिष्ठा मिली। जैन दर्शन अपने आपमें वाद को महत्त्व नहीं देता—उसका उद्देश्य तो विभिन्न वादों में यथार्थ तत्त्वज्ञान द्वारा संवाद स्थापित करना है। किन्तु अन्य सम्प्रदायों द्वारा वाद में विजय को सामाजिक लाभ का साधन बनाया गया तब समाज-गौरव की रक्षा के लिए आवश्यक होने पर जैन आचार्यों ने भी वादसभाओं में भाग लिया और इसमें उन्हें सफलता भी अच्छी मिली। समन्तभद्र, सिद्धसेन, मल्लवादी, अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्द, वादिराज, प्रभाचन्द्र, शान्तिसूरि, देवसूरि आदि की जीवनकथाओं से यह स्पष्ट होता है।

शिल्पसमृद्धि

वीतराग भाव की साधना जैन परम्परा का लक्ष्य रहा है। सुशिक्षित और अशिक्षित दोनों के लिए इस साधना का एक प्रभावी मार्ग है जिनबिम्बों का दर्शन। इसलिए समय-समय पर आचार्यों ने जिनमूर्तियों और मन्दिरों के निर्माण का उपदेश

दिया। यद्यपि इनमें से बहुत-से कालप्रभाव से और आक्रमणकारियों की विध्वंसक प्रवृत्ति से नष्ट हो गये तथापि जो शेष हैं उनसे भी प्राचीन भारत की कला-समृद्धि अच्छी तरह स्पष्ट होती है। मथुरा के माघरक्षित और महाराष्ट्र के इन्द्ररक्षित अबतक ज्ञात जैन कलाकृतियों से सम्बद्ध आचार्यों में सबसे प्राचीन हैं। मथुरा के भग्नावशेषों से अन्य बीस आचार्यों के नाम ज्ञात हुए हैं। उदयगिरि की पार्श्वतीर्थंकर की मूर्ति से आचार्य गोशर्मा का नाम सम्बद्ध है। मैसूर प्रदेश के वीरदेव आदि आचार्य जिन मन्दिरों से सम्बद्ध थे उनमें से अधिकांश अब नष्ट हो गये हैं किन्तु ऐहोले का रविकीर्ति-निर्मित मन्दिर अभी भी दर्शनीय है। इसी प्रकार उदयदेव आदि आचार्यों से सम्बद्ध लक्ष्मेश्वर का शंखजिनेन्द्रमन्दिर भी विद्यमान है। एलोरा के गुहामन्दिरों से नागनन्दि और तमिल प्रदेश के अनेक गुहामन्दिरों से आर्यनन्दि सम्बद्ध थे—ये मन्दिर भी अभी दर्शनीय स्थिति में हैं। अजितसेन के उपदेश से प्रतिष्ठित गोम्मटेश्वर महामूर्ति तथा धर्मघोष की प्रेरणा से निर्मित आबू की विमलवसही भारत में ही नहीं, विदेशी कलासमीक्षकों में भी प्रशंसित हुए हैं। विस्तारभय से यहाँ केवल प्रमुख शिल्पकृतियों का ही उल्लेख किया है।

ऋद्धिसिद्धि

तपस्या और मन्त्रसाधना के फलस्वरूप भौतिक दृष्टि से असम्भव प्रतीत होनेवाले कार्य करने की शक्ति प्राप्त होती है ऐसा अनेक आचार्यों की जीवनकथाओं में कहा गया है। उन्हें आम तौर पर ऋद्धिसिद्धि कहा जाता है। धर्मभावना के एक प्रमुख साधन के रूप में ऐसे प्रसंगों का वर्णन परम्पराभिमानी लेखकों की रचनाओं में मिलता है। इनमें से अधिकांश लेखक वर्णित घटना के कई शताब्दियों पश्चात् हुए हैं तथा विभिन्न कथाओं में परस्पर अनुकरण और अतिशयोक्ति की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। अतः प्रामाणिक इतिहास के रूप में इन्हें स्वीकृत नहीं किया जाता। फिर भी इनका दो दृष्टियों से महत्त्व है। एक तो इन कथाओं के अतिशयोक्त वर्णन में भी कुछ सत्यांश तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थिति का बोध करानेवाला होता है। दूसरे, लोककथाओं के रूप में भी इनका महत्त्व है—इतिहास में प्राचीन घटनाओं का ही लेखाजोखा नहीं होता, उस समय के लोगों की विचारपद्धति का भी आकलन होता है। अतः ये ऋद्धि-प्रदर्शन की घटनाएँ हुई हों या न हों—कथालेखकों की दृष्टि में उनका महत्त्व अवश्य था और उन कथाओं के श्रोता भी प्रायः उनपर विश्वास करते थे। इसी दृष्टि से यहाँ संक्षेप में ऐसी कथाओं का उल्लेख किया गया है। इस दृष्टि से उल्लेखनीय कथाएँ वज्र, पादलिप्त, खपुट, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपाद, जीवदेव, मानतुंग, अकलंक, हरिभद्र, अभयदेव, वादिराज आदि की हैं।

उपर्युक्त विविध दृष्टियों से जैन आचार्यों के कार्यों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। हम आशा करते हैं कि सर्वसाधारण पाठकों के लिए यह संकलन उपयोगी प्रतीत होगा।

●

श्रीवीर निर्वाण संवत् की पहली शताब्दी

[ईसवी सन् पूर्व ५२७ से ४२७]

गौतम

नमो जगन्नमस्याय मुनीन्द्रायेन्द्रभूतये ।
यः प्राप्य त्रिपदीं कृत्स्नं विश्वं विष्णुरिवानशे ।।

—धनपाल-तिलक मंजरी प्रारम्भ

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद बारह वर्ष तक गौतम इन्द्रभूति जैन संघ के अग्रणी रहे ।

इनका जन्म मगध प्रदेश (दक्षिण बिहार) की राजधानी राजगृह के समीप स्थित गोर्वर नामक ग्राम में गौतम गोत्र के ब्राह्मण कुल में हुआ था । उनके व्यक्तिगत नाम इन्द्रभूति की अपेक्षा गोत्र-नाम गौतम ही अधिक प्रचलित हुआ । वेद-वेदांगों का ज्ञान, यज्ञादि कार्यों में निपुणता तथा पाँच सौ शिष्यों का गुरुपद प्राप्त होने से गौतम का गृहस्थ जीवन सफल माना जाता था किन्तु उनके मन में तत्त्वजिज्ञासा अतृप्त रही थी । भगवान् महावीर की दिव्य-वाणी सुनकर जब उनके मन की शंकाएँ मिट गयीं तब परम्परा और प्रतिष्ठा के बन्धनों को तोड़कर वे भगवान् के शिष्य हो गये । प्रथम गणधर के रूप में जैन संघ में उन्हें आदर का स्थान प्राप्त हुआ । भगवान् महावीर के साथ तीस वर्ष विहार करते हुए उन्होंने असंख्य श्रोताओं को भगवान् की वाणी का रहस्य समझाया । पउमचरियं आदि बीसों पुराणग्रन्थों में वर्णन आता है कि भगवान् के समवशरण में राजा श्रेणिक प्रश्न करते थे और गौतम उनका उत्तर देते थे ।

'अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं'—भगवान् के उपदेशों को सूत्रबद्ध करने का कार्य गणधर कुशलता से करते हैं । प्रथम गणधर होने से गौतम इस कार्य में प्रमुख रहे । वर्तमान जैन साहित्य का मूल आधार बारह अंग ग्रन्थ हैं जिनका संकलन गणधरों ने किया था । आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृत्दशा, अनुत्तरौपपादिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकश्रुत तथा दृष्टिवाद ये इन अंगों के नाम हैं । ये ग्रन्थ दीर्घकाल तक मौखिक रूप में ही रहे, गुरुशिष्यपरम्परा द्वारा इनका अध्ययन होता रहा । अतः इनके मूलरूप में कुछ परिवर्तन होना स्वाभाविक था । वर्तमान समय में प्राप्त इन ग्रन्थों के लिखित रूप में कौन से अंश प्राचीन हैं और कौन से बाद में जुड़े हैं इसपर विद्वानों ने काफ़ी विचार विमर्श

किया है।[1]

सूत्रकृत, व्याख्याप्रज्ञप्ति, उपासकदशा तथा विपाकश्रुत इन अंगों के वर्तमान संस्करणों में गौतम के विभिन्न व्यक्तियों से हुए संवादों के अनेक प्रसंग वर्णित हैं। उपांगों और मूलसूत्रों-जैसे अन्य आगमों में भी अनेक स्थानों पर गौतम का वर्णन मिलता है। इनमें उत्तराध्ययनसूत्र का केशीगौतमीय अध्ययन विशेष महत्त्वपूर्ण है। इससे ज्ञात होता है कि तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा के आचार्य केशी से श्रावस्ती नगर में गौतम की भेंट हुई थी तथा वहाँ दोनों ने अपनी परम्पराओं के छोटे-मोटे मतभेदों का समाधान किया था।

बौद्ध ग्रन्थ मज्झिमनिकाय के सामगामसुत्त में वर्णन है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद उनके शिष्यों में तीव्र कलह शुरू हुआ। किन्तु जैन परम्परा में ऐसे किसी प्रसंग का उल्लेख नहीं मिलता। इससे मालूम होता है कि गौतम के प्रभावी व्यक्तित्व से छोटे-मोटे मतभेद गम्भीर रूप धारण नहीं कर सके और जैन संघ की एकता सुदृढ़ बनी रही।

मगध प्रदेश की राजधानी राजगृह के समीप विपुल पर्वत पर गौतम का निर्वाण हुआ।

सुधर्म

विदेह प्रदेश (उत्तर बिहार) की राजधानी वैशाली के समीप कोल्लाक नामक ग्राम में सुधर्म का जन्म हुआ था। गौतम के साथ ही वे भी भगवान् महावीर के शिष्य हुए तथा पाँचवें गणधर के रूप में सम्मानित हुए। भगवान् के निर्वाण के बाद गौतम केवलज्ञानी हुए इसलिए संघव्यवस्था से उनका पद ऊपर मानकर कई गुरुक्रम-वर्णनों—पट्टावली आदि में सुधर्म को प्रथम प्रधान आचार्य का स्थान दिया गया है। निरयावली आदि आगमों तथा वसुदेवहिंडी आदि पुराण-ग्रन्थों में सुधर्म द्वारा उनके प्रधान शिष्य जम्बू को आगमों के उपदेश दिये जाने का वर्णन मिलता है। इसी से कभी-कभी अंग ग्रन्थों को सुधर्मरचित भी कहा जाता है।

गौतम के निर्वाण के बाद सुधर्म केवलज्ञानी हुए तथा बारह वर्ष के विहार के बाद विपुल पर्वत पर उनका निर्वाण हुआ।

सुधर्म का गोत्र अग्निवेशायन था। बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय—सामञ्ञफलसुत्त में निगण्ठ नाटपुत्त (महावीर) का यही गोत्र नाम बताया है जब कि जैन परम्परा में महावीर का गोत्र-नाम काश्यप बतलाया है। इससे ज्ञात होता है कि आरम्भिक बौद्ध आचार्यों को जैन संघ के प्रधान के रूप में सुधर्म का परिचय था यद्यपि वे महावीर और सुधर्म दोनों के व्यक्तिनाम और गोत्रनाम को ठीक तरह से अलग-अलग नहीं लिख

१. डॉ. 'जैकोबी' ने आचार और सूत्रकृत इन अंगों के अँगरेजी अनुवाद सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट ग्रन्थमाला में प्रस्तुत किये थे। डॉ. शूब्रिंग द्वारा संकलित वोर्टेस महावीर मुख्यतः पंचम अंग पर आधारित है जिसके महावीरवाणी इस नाम से भारतीय भाषाओं में भी अनुवाद हुए हैं।

पाये—गुरु के नाम के साथ शिष्य का गोत्रनाम जोड़ दिया।

कहीं-कहीं सुधर्म का दूसरा नाम लोहार्य था ऐसा वर्णन भी मिलता है।

जम्बू

सुधर्म के प्रधान शिष्य जम्बू अन्तिम केवलज्ञानी के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनका जीवन पुराण-कथाओं का विषय बन गया है। वसुदेवहिण्डी और उत्तरपुराण में इनकी कथा मिलती है। प्राकृत में गुणपाल का, अपभ्रंश में वीर कवि का तथा संस्कृत में राजमल्ल का जम्बूस्वामीचरित प्रकाशित हो चुका है।[१]

मगध प्रदेश की राजधानी राजगृह के एक श्रेष्ठिकुल में जम्बू का जन्म हुआ था। अल्प वय में ही सुधर्म का धर्मोपदेश सुनकर ये विरक्त हुए। परिवार के लोगों के आग्रह से उन्होंने विवाह तो किया किन्तु शीघ्र ही अपने संकल्प के अनुसार मुनिदीक्षा ली। इस अवसर पर अनुराग और वैराग्य की तुलना उनकी पत्नियों के साथ हुए वार्तालाप के माध्यम से उनके चरित्र-लेखकों ने विस्तार से की है। अनेक सुन्दर कथाएँ इस प्रसंग में समाविष्ट हुई हैं।

सुधर्म के निर्वाण के बाद जम्बू केवलज्ञानी हुए तथा लगभग चालीस वर्ष के विहार के बाद विपुल पर्वत पर उनका निर्वाण हुआ।

विष्णुनन्दि और प्रभव

जम्बूस्वामी के दो उत्तराधिकारियों का वर्णन मिलता है। तिलोयपण्णत्ती आदि की परम्परानुसार जम्बूस्वामी के बाद विष्णुनन्दि आचार्य हुए। ये श्रुतकेवली अर्थात् बारह अंग ग्रन्थों के सम्पूर्ण ज्ञान के धारक थे। जम्बूस्वामी-चरितों में तथा कल्पसूत्र, नन्दीसूत्र आदि में जम्बूस्वामी के एक और शिष्य प्रभव का परिचय मिलता है। ये विन्ध्यपर्वतीय प्रदेश के एक राजकुल में उत्पन्न हुए थे किन्तु संयोग से चोरों के गिरोह में शामिल हो गये थे। जम्बूस्वामी का वैराग्य देखकर ये प्रभावित हुए और उन्हीं के साथ मुनि हुए। गुरु के निर्वाण के बाद लगभग चालीस वर्ष इन्होंने मुनिसंघ का नेतृत्व किया। अपने पाँच सौ सहयोगियों के साथ वे एक बार मथुरा नगर के समीप ठहरे थे। कथा के अनुसार एक व्यन्तर देवी ने उन्हें उस स्थान से चले जाने को कहा किन्तु सूर्यास्त के बाद विहार करना साधुओं के लिए अनुचित है ऐसा सोचकर आचार्य संघसहित वहीं ध्यान में लीन हो गये। रात में व्यन्तर देवों द्वारा किये गये भयंकर उपसर्ग से उन सबका देहान्त हुआ। उस स्थान पर जैन संघ द्वारा अनेक स्तूपों की स्थापना की गयी थी जिनके अवशेषों से प्राप्त अनेक शिलालेखों का आगे यथास्थान उल्लेख हुआ है।

[हरिषेण के कथाकोश में प्रभव के स्थान पर प्रमुख आचार्य का नाम विद्युच्चर बताया है तथा व्यन्तर-उपसर्ग का स्थान तामलिन्दी बताया है। तामलिन्दी बंगाल के समुद्रतट पर प्रसिद्ध बन्दरगाह था, यह अब तामलुक कहलाता है।]

१. डॉ. विमलप्रकाश जैन ने अपभ्रंश जम्बूस्वामीचरित की प्रस्तावना में इस विषय से सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत किया है।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की दूसरी शताब्दी

[ईसवी सन् पूर्व ४२७ से ३२७]

शय्यम्भव

ये राजगृह के एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। एक यज्ञ के अवसर पर आचार्य प्रभव के दो शिष्यों के धर्मवचन सुनकर वे विरक्त हुए तथा मुनि हुए। कुछ ही समय पश्चात् उन्हें आचार्य पद प्राप्त हुआ। उनकी दीक्षा के समय पत्नी गर्भवती थी उसे पुत्र हुआ जिसका नाम मनक रखा गया था। मनक आठ वर्ष की अवस्था में पिता की खोज में निकल पड़ा। चम्पा नगर में पिता-पुत्र मिले तथा मनक ने भी साधु-दीक्षा ली। अपने दिव्य ज्ञान से पुत्र अल्पायु है ऐसा जानकर आचार्य ने उसके लाभार्थ अंगग्रन्थों से महत्त्वपूर्ण अंशों का संकलन किया जो दशवैकालिक सूत्र इस नाम से प्रसिद्ध हुआ। अंगों के बाद आगम के रूप में जो ग्रन्थ सम्मानित हुए उनमें यह पहला है तथा साधुओं के आचार-विचारों के ज्ञान के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है। अंगों के समान यह भी दीर्घकाल तक मौखिक परम्परा से पढ़ा जाता रहा। वलभी वाचना के पाठ के अनुसार इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।[1]

अन्य आचार्य

शय्यम्भव के बाद यशोभद्र आचार्य हुए तथा यशोभद्र के सम्भूतिविजय और भद्रबाहु ये दो शिष्य हुए।

कल्पसूत्र, नन्दीसूत्र आदि में वर्णित इन आचार्यों के समकालीन श्रुतकेवलियों के नाम तिलोयपण्णत्ती आदि में इस प्रकार मिलते हैं—विष्णुनन्दि के बाद क्रमशः नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु। अर्थात् दोनों सूचियों में अन्तिम नाम समान है और वह भद्रबाहु का है। इनका वर्णन अगले परिच्छेद में दिया है।

अंगबाह्य आगमों में दशवैकालिक सूत्र के समान ही प्राचीन और सम्मानित ग्रन्थ उत्तराध्ययन सूत्र और आवश्यक सूत्र हैं। इनके संकलनकर्ता आचार्यों का कोई विवरण प्राप्त नहीं है।

---

१. दशवैकालिक का डॉ. ल्युमन और शूब्रिंग का संस्करण विशेष महत्त्वपूर्ण है। आचार्य तुलसी के मार्गदर्शन में सम्पादित नवीन संस्करण भी उल्लेखनीय है।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की तीसरी शताब्दी

[ईसवी सन् पूर्व ३२७-२२७]

भद्रबाहु

वर्ण्यः कथं नु महिमा भण भद्रबाहोः मोहोरुमल्लमदमर्दनवृत्तबाहोः ।
यच्छिष्यताप्तसुकृतेन स चन्द्रगुप्तः शुश्रूष्यते स्म सुचिरं वनदेवताभिः ॥[1]

दक्षिण भारत में जैन संघ के प्रभाव में उल्लेखनीय वृद्धि का श्रेय अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु को है। उत्तर भारत में दीर्घकालीन दुष्काल के समय तत्कालीन सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अपने युवा पुत्र बिन्दुसार को राज्यभार सौंपकर भद्रबाहु से मुनिदीक्षा ली और वे गुरु-शिष्य संघसहित दक्षिण में आये। मैसूर प्रदेश के श्रवणबेलगोल को इन्हीं के निवास से तीर्थक्षेत्र होने का गौरव प्राप्त हुआ। यहाँ के चन्द्रगिरि पर्वत पर वह गुहा अब भी पूजास्थान बनी हुई है जहाँ भद्रबाहु के अन्तिम दिन बीते थे। चन्द्रगुप्त-वसति नामक जिनमन्दिर भी इस पर्वत पर है।

दक्षिण के साहित्य में भी भद्रबाहु की स्मृति सादर सुरक्षित है। कुन्दकुन्द ने बोधप्राभृत की दो गाथाओं में उनका सादर उल्लेख किया है। शिवार्य की आराधना में उनकी उग्र अवमौदर्य (—दैनिक आहार की मात्रा से कम आहार ग्रहण करना) तपस्या की प्रशंसा में एक गाथा है।

जैसा कि ऊपर बताया है, कल्पसूत्र में भी भद्रबाहु का उल्लेख है। यहाँ उनके चार शिष्यों के नाम गोदास, अग्निदत्त, यज्ञदत्त और सोमदत्त बताये हैं। इनमें से गोदास के शिष्यवर्ग की चार शाखाएँ बतायी हैं—ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षिका, पौण्ड्रवर्धनिका तथा दासीखर्वटिका। ये चारों नाम बंगाल के विभिन्न नगरों से सम्बन्धित हैं। ताम्रलिप्ति का वर्तमान नाम तामलुक है जो मिदनापुर जिले में है, कोटिवर्ष दीनाजपुर जिले के बानगढ़ का पुराना नाम है, बोगरा जिले का महास्थान पुण्ड्रवर्धन का आधुनिक नाम है तथा खर्वट इसी नाम से मिदनापुर जिले में है। इससे ज्ञात होता है कि गोदास के शिष्यों का बंगाल के विभिन्न भागों में अच्छा प्रभाव था।

हेमचन्द्र ने परिशिष्टपर्व में भद्रबाहु की नेपालयात्रा का उल्लेख किया है। दृष्टिवाद के अध्ययन के लिए स्थूलभद्र उनकी सेवा में उपस्थित हुए थे यह भी इस कथा में बताया है।

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, पृ. १०१—यह श्लोक सन् ११२८ के मल्लिषेणप्रशस्ति के नाम से प्रसिद्ध लेख में है जो चन्द्रगिरि के पार्श्वनाथमन्दिर में स्थापित स्तम्भ पर उत्कीर्ण है।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति के अनुसार दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार ये तीन सूत्रग्रन्थ भद्रबाहुरचित हैं। तीनों में मुनियों के आचरण और प्रायश्चित्त सम्बन्धी नियमों का विस्तार से वर्णन है। इन्हें छेदसूत्र भी कहा जाता है। अंगव्यतिरिक्त आगमों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अन्य आगमों के समान ये भी मौखिक परम्परा से शताब्दियों तक पढ़े जाते रहे। वलभी-वाचना में निश्चित रूप में इनका प्रकाशन हो चुका है।[1]

परम्परागत वर्णनों में निर्युक्ति आदि अन्य कई रचनाएँ भी इन्हीं भद्रबाहु की मानी गयी हैं किन्तु आधुनिक समय में इन दोनों का अन्तर स्पष्ट हुआ है। निर्युक्तिकर्ता भद्रबाहु (द्वितीय) के विषय में आगे एक परिच्छेद दिया गया है।

[परम्परागत वर्णन में भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर संवत् १७० में बताया है किन्तु चन्द्रगुप्त का इतिहास से ज्ञात राज्यकाल ईसवी सन् पूर्व ३२१-२९७ है अतः वीर संवत् की तीसरी शताब्दी में भद्रबाहु का वर्णन समाविष्ट किया है।]

विशाखादि आचार्य

तिलोयपण्णत्ती आदि के अनुसार भद्रबाहु के बाद १८३ वर्षों में ग्यारह आचार्य हुए उनके नाम इस प्रकार हैं—विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव तथा धर्मसेन। ये सब दशपूर्वधारी थे अर्थात् प्रथम ग्यारह अंगों का तो पूर्ण अध्ययन उन्होंने किया था, बारहवें अंग के अन्तिम चार पूर्वों का अध्ययन नहीं कर पाये थे। इनमें से प्रथम पाँच वीर संवत् की इस तीसरी शताब्दी के और शेष छह अगली (चौथी) शताब्दी के माने जा सकते हैं। भद्रबाहु सम्बन्धी कथाओं में विशाखाचार्य के तमिल देश में विहार का उल्लेख है। अन्य आचार्यों का कोई विवरण प्राप्त नहीं है।

स्थूलभद्र

कल्पसूत्र आदि में सम्भूतिविजय और भद्रबाहु दोनों के शिष्य के रूप में स्थूलभद्र का नाम मिलता है। हेमचन्द्र ने परिशिष्टपर्व में इनकी कथा विस्तार से बतायी है। इनके पिता शकटाल नन्द राजा के मन्त्री थे। उनकी मृत्यु के बाद स्थूलभद्र को मन्त्रिपद स्वीकार करने का आग्रह हुआ किन्तु उन्होंने पराधीन जीवन की अपेक्षा मुनिदीक्षा को ही श्रेयस्कर समझा। पूर्ववय में विलास में वे जितने मग्न थे उतने ही दृढ़ वैराग्य में भी रहे। उत्तम ब्रह्मचर्य के कारण गुरु ने उन्हें दुष्करकारक कहकर सम्मानित किया। दीर्घकालीन दुष्काल के कारण साधुओं के अध्ययन-अध्यापन में विघ्न हुआ था। अतः स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में ज्ञानवृद्ध साधुओं का सम्मेलन आयोजित किया और ग्यारह अंगों का पाठ निश्चित किया। पूरे जैन संघ में मान्य न होने पर भी वर्तमान आगमग्रन्थों के इतिहास की दृष्टि से यह सम्मेलन महत्त्वपूर्ण माना गया है। भद्रबाहु से बारहवें अंग

१. डॉ. शुब्रिंग ने कल्प और व्यवहारसूत्र का सम्पादन किया है। मुनि पुण्यविजय का बृहत् कल्पसूत्र भाष्य का संस्करण भी महत्त्वपूर्ण है।

का ज्ञान भी स्थूलभद्र को मिला था किन्तु इसके अन्तिम चार पूर्वों के अर्थज्ञान से वे वंचित रहे। कल्पसूत्र में उनके ग्यारह गुरुबन्धुओं के नाम इस प्रकार दिये हैं—नन्दनभद्र, उपनन्द, तिष्यभद्र, यशोभद्र, स्वप्नभद्र, मणिभद्र, पूर्णभद्र, ऋजुमति, जम्बू, दीर्घभद्र और पुटभद्र।

महागिरि

स्थूलभद्र के ज्येष्ठ शिष्य महागिरि हुए। इन्हें जिनकल्पी कहा गया है अर्थात् वस्त्रादि का त्याग कर इन्होंने उग्र तपस्या की थी। कल्पसूत्र में इनके शिष्यों के नाम इस प्रकार दिये हैं—उत्तर, बलिसह, धनाढ्य, श्रीआढ्य, कौण्डिन्य, नाग, नागमित्र और रोहगुप्त। इनमें उत्तर और बलिसह के शिष्यों की चार शाखाएँ बतायी हैं—कौशाम्बिका, शुक्तिमतिका, कोटाम्रानी और चन्द्रनगरी। प्रथम दो नामों से ज्ञात होता है कि उत्तर-प्रदेश के यमुनातटवर्ती दक्षिण भाग में इनका अच्छा प्रभाव रहा होगा—कौशाम्बी यमुनातट पर कोसम गाँव के रूप में पहचानी गयी है, यह इलाहाबाद से लगभग ४० मील पश्चिम में है, शुक्तिमती वर्तमान बाँदा जिले में कहीं थी। कोटाम्र और चन्द्रनगर की पहचान नहीं हो पायी है।

सुहस्ति

ये महागिरि के गुरुबन्धु थे। मौर्य सम्राट् सम्प्रति (राज्यकाल ईसवी सन् पूर्व २३६–२२७) की इनपर बड़ी श्रद्धा थी। जैन साधुओं का विहार अनार्य प्रदेशों में भी हो इसलिए सम्प्रति ने काफ़ी प्रयत्न किये थे। हेमचन्द्र ने परिशिष्टपर्व में इनकी कथा विस्तार से दी है। गुजरात और राजस्थान के कई जिनमन्दिर सम्प्रति द्वारा निर्मित माने जाते हैं। जिनप्रभ के विविधतीर्थकल्प में शत्रुंजय के जीर्णोद्धार का श्रेय सम्प्रति को दिया गया है।

उज्जयिनी में सुहस्ति के धर्मवचनों को सुनकर अवन्तिसुकुमार नामक श्रेष्ठि-पुत्र ने मुनिदीक्षा ली थी। रात्रि के समय ध्यानमग्न वे मुनि सियारों के उपद्रव से मृत्यु को प्राप्त हुए। उनके देहावसान के स्थान पर उनके पुत्र ने विशाल जिनमन्दिर बनवाया था। राजशेखर के प्रबन्धकोश के अनुसार यही बाद में महाकाल शिवमन्दिर के रूप में प्रसिद्ध हुआ था। सुहस्ति के शिष्यों की विभिन्न शाखाओं का विवरण अगले परिच्छेदों में दिया गया है। इससे उनकी संगठन-कुशलता और सफल नेतृत्व का परिचय मिलता है।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की चौथी शताब्दी

(ईसवी सन् पूर्व २२७ से १२७)

सुस्थित

कल्पसूत्र में सुहस्ति के ज्येष्ठ शिष्य का नाम सुस्थित बताया है। इन्होंने सूरि-मन्त्र का एक कोटि बार जप किया था अतः ये कोटिक कहलाये। इनके कोटिक गण की चार शाखाएँ थीं—उच्चनगरी, विद्याधरी, बज्री और मध्यमा। प्रथम शाखा का नाम उच्चनगर से लिया गया है। यह उत्तरप्रदेश के बुलन्दशहर का प्राचीन नाम था। कोटिक गण के अन्तर्गत वत्थलिज्ज, बंभलिज्ज, वाणिय और पण्हवाहन ये चार कुल भी बतलाये हैं, इन नामों का स्पष्टीकरण नहीं हो पाया है। सुस्थित के पांच शिष्यों के नाम कल्पसूत्र में बताये हैं—इन्द्रदिन्न, प्रियग्रन्थ, विद्याधरगोपाल, ऋषिदत्त और अर्हद्दत्त।

सुहस्ति के अन्य शिष्य

कल्पसूत्र में सुस्थित के ग्यारह गुरुबन्धुओं और उनके शिष्यवर्ग की विस्तृत नामावली दी है। इनमें (१) सुप्रतिबुद्ध काकन्दिक थे—उनका मूल स्थान काकन्दी नगर था, इसकी पहचान बिहार के मुंगेर जिले में स्थित काकन ग्राम से की गयी है। (२) रोहण के शिष्यवर्ग को उद्देह गण कहते थे। इसकी एक शाखा उदुम्बरीया थी। बिहार के सन्थाल परगना जिले को प्राचीन समय में उदुम्बर कहते थे, वहाँ इस शाखा का प्रभाव रहा होगा। मासपूरिका, मतिपत्तिका और पुण्यपत्तिका ये इस गण की अन्य शाखाएँ थीं तथा नागभूतिक, सोमभूतिक, उल्लगच्छ, हत्थलिज्ज, नन्दिज्ज एवं पारिहासक ये छह कुल भी इस गण में थे—इन नामों का स्पष्टीकरण नहीं हो पाया है। (३) भद्रयश के शिष्यवर्ग को उडुवाडिय गण कहते थे। इसकी चार शाखाएँ थीं—चम्पिका, भद्रिका, काकन्दिका और मैथिली। ये चारों नाम बिहार के पुरातन नगरों से लिये गये हैं। चम्पा और काकन्दी का उल्लेख ऊपर हो चुका है, मिथिला उत्तर बिहार का प्रसिद्ध नगर था जो इस समय जनकपुर कहलाता है, भद्रिका गया से लगभग चालीस मील दूर था, इसके स्थान पर अब दत्तारा नामक ग्राम है। इस प्रकार भद्रयश के शिष्यवर्ग का बिहार के विभिन्न भागों में अच्छा प्रभाव था ऐसा प्रतीत होता है। इनके तीन कुल भी थे—भद्रयशीय, भद्रगुप्तीय और यशोभद्रीय। (४) कामर्धि के शिष्यवर्ग को वेसवाडिय गण कहते थे। इसकी एक शाखा श्रावस्तिका थी, श्रावस्ती के स्थान पर आज-कल सहेट-

महेट नामक ग्राम है, यह उत्तरप्रदेश के बलरामपुर जिले में है। इस गण की अन्य शाखाओं के नाम राज्यपालिका, अन्तरंजिका और क्षेमलिका थे तथा कुलों के नाम गणिक, मैथिलीय, कार्मधिक और इन्द्रपुरक थे। (५) ऋषिगुप्त के शिष्यवर्ग को माणव गण कहते थे। इसकी एक शाखा का नाम सौराष्ट्रीया था—गुजरात के पश्चिम भाग सौराष्ट्र में इसका प्रभाव रहा होगा। इस गण की अन्य शाखाएँ काश्यपीया, गौतमीया और वासिष्ठीया थीं तथा ऋषिगुप्तीय, ऋषिदत्तीय और अभिजयन्त ये तीन कुल भी इस गण में थे। (६) श्रीगुप्त के शिष्यवर्ग को चारण गण कहते थे। इसकी एक शाखा सांकाशिका थी—उत्तरप्रदेश का प्राचीन नगर सांकाश्य अब संकिस नामक ग्राम है, वहाँ इस शाखा का प्रभाव था। हारियमालाकारी, गवेधुका और वज्जनगरी ये इस गण की अन्य शाखाएँ थीं तथा वत्थलिज्ज, प्रीतिधर्मिक, हालिज्ज, पुष्यमित्रीय, मालिज्ज, अज्जवेडय और कृष्णसह ये सात कुल भी थे। सुस्थित के अन्य गुरुबन्धुओं के नाम मेघगणी, रक्षित, रोहगुप्त, ब्रह्मगणी और सोमगणी बतलाये हैं।

कल्पसूत्र के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि सम्प्रति के प्रोत्साहन और सुहस्ति के नेतृत्व के फलस्वरूप इस काल में जैन साधुसंघ के प्रभाव में काफी वृद्धि हुई थी।[1]

श्यामार्य

सुहस्ति तक के आचार्यों की नामावली कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र में समान है। कल्पसूत्र में उल्लिखित सुहस्ति के उत्तराधिकारियों का ऊपर उल्लेख किया है। नन्दीसूत्र में इनके समकालीन आचार्यों के नाम बहुल के बन्धु (बलिस्सह), स्वाति और श्यामार्य इस प्रकार दिये हैं। इनमें अन्तिम–श्यामार्य–प्रज्ञापनासूत्र के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। अंगों से सम्बद्ध विविध विषयों और कथाओं का संग्रह उपांग ग्रन्थों मे किया गया है। इनकी संख्या १२ है। प्रज्ञापना पाँचवाँ उपांग है। इसके ३६ प्रकरणों में जीवों के विभिन्न प्रकारों और गुणों का विवरण है। अन्य उपांगों के संकलनकर्ताओं का कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता। ये सब ग्रन्थ वलभी वाचनानुसार प्रकाशित हो चुके हैं।

[तिलोयपण्णत्ती आदि में उल्लिखित इस शताब्दी के आचार्यों के नाम ऊपर बताये जा चुके हैं।]

माघरक्षित और इन्द्ररक्षित

अबतक के आचार्यों का विवरण उत्तरकालीन साहित्य पर आधारित है। इस शताब्दी के दो आचार्यों का परिचय समकालीन शिलालेखों से प्राप्त होता है। दोनों लेखों में तिथि का उल्लेख नहीं है फिर भी अक्षरों की बनावट के आधार पर ईसवी सन्

१. इस परिच्छेद में उल्लिखित स्थानों का विवरण डॉ. जगदीशचन्द्र जैन के 'भारत के प्राचीन जैन तीर्थ' से लिया गया है।

पूर्व १५० के आसपास विशेषज्ञों ने इनका समय निश्चित किया है। एक लेख मथुरा से प्राप्त हुआ है। इसमें माघरक्षित श्रमण के शिष्य श्रावक उत्तरदासक द्वारा स्थापित मन्दिर के तोरण का उल्लेख है। दूसरा लेख महाराष्ट्र में पूना जिले में पाला ग्राम के समीप वन में स्थित एक गुहा में है। इसमें पंचनमस्कारमन्त्र की पहली पंक्ति के साथ यह सूचना दी है कि इस गुहा और जलकुण्ड का निर्माण कातुनद के भदन्त इन्द्ररक्षित की प्रेरणा से हुआ था। जैन शिल्पों के इतिहास की दृष्टि से ये दोनों लेख बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख ४ तथा भाग ५, लेख १]

श्रीवीर निर्वाण संवत् की पाँचवीं शताब्दी

[ईसवी सन् पूर्व १२७ से २७]

कालक

इनका जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ था। भरुकच्छ (भड़ौच) के राजा बलमित्र के ये मामा थे। इनके साथ इनकी एक बहन सरस्वती भी साधुसंघ में दीक्षित हुई थी। एक बार उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल ने सरस्वती के सौन्दर्य से मोहित होकर उसका अपहरण किया। कालक ने राजा को इस अन्याय का परिमार्जन करने के लिए बहुत समझाया किन्तु उस उन्मत्त अत्याचारी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तब कालक ने सिन्धु नदी के तट पर स्थित शक राजाओं से सम्पर्क स्थापित किया, उन्हें अपनी विद्वत्ता से प्रभावित किया और उनके द्वारा गर्दभिल्ल का नाश करवाकर बहन को मुक्त किया।

दक्षिण में प्रतिष्ठान[1] के राजा सातवाहन से भी कालक की भेंट हुई थी। पर्युषण के अन्तिम दिन का उत्सव भाद्रपद शुक्ल पंचमी को होता है। उसी दिन प्रतिष्ठान में इन्द्रध्वज उत्सव भी होता था। राजा दोनों उत्सवों में उपस्थित रहना चाहता था अतः उसके आग्रह से आचार्य ने पर्युषण-समाप्ति उत्सव चतुर्थी के दिन मनाना स्वीकार किया। प्रतिष्ठान में उन्होंने निमित्तशास्त्र का अध्ययन किया था। जैन पुराणकथाओं का प्रथमानुयोग नामक संकलन उन्होंने किया और पाटलिपुत्र में जैन संघ को यह ग्रन्थ सुनाया। यहाँ से वे सुवर्णभूमि (दक्षिणी बर्मा या इन्डोनेशिया का सुमात्रा द्वीप) गये थे। उनका ज्योतिष शास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ था ऐसा तर्क किया गया है।

[नॉर्मन ब्राउन द्वारा सम्पादित दि स्टोरी ऑफ़ कालक—इस ग्रन्थ में कालक सम्बन्धी कथाओं का संकलन मिलता है। विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रन्थ में डॉ. उमाकान्त शाह ने इस सम्बन्ध के विभिन्न उल्लेखों का विवेचन किया है। पुरातन ग्रन्थों में तिथि सम्बन्धी भिन्न वर्णनों के कारण कुछ विद्वान् कालक नाम के दो, तीन या चार आचार्य भिन्न-भिन्न समय में हुए ऐसा मानते हैं।]

अन्य आचार्य

तिलोयपण्णत्ती आदि में दशपूर्वधारी आचार्यों के बाद नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन तथा कंस इन पाँच आचार्यों के नाम बताये हैं। ये ग्यारह अंगों के ज्ञाता थे—बारहवें अंग के सभी पूर्वों का ज्ञान इनके समय में त्रुटित रूप में ही रह पाया।

१. वर्तमान पैठण, यह महाराष्ट्र के औरंगाबाद जिले में है।

[तिलोयपण्णत्ती आदि के वर्णन में इनका समय २२० वर्ष बताया है, अर्थात् इस (पाँचवीं) और अगली (छठी) शताब्दी में मिलकर ये आचार्य हुए; नन्दि-पट्टावली में इनका समय ११७ वर्ष कहा है। इसके अनुसार ये सब इसी शताब्दी में हुए थे।]

कल्पसूत्र में उल्लिखित इन्द्रदिन्न के शिष्य दिन्न तथा दिन्न के शिष्य शान्तिश्रेणिक और सिंहगिरि इस शताब्दी में हुए थे। शान्तिश्रेणिक के चार शिष्यों के नाम बताये हैं— श्रेणिक, तापस, कुबेर और ऋषिपालित। इनकी इन्हीं नामों की शाखाएँ थीं।

नन्दीसूत्र में उल्लिखित शाण्डिल्य, समुद्र तथा आर्य मंगु ये इस शताब्दी में रखे जाते हैं। इनकी प्रशंसा की गाथाओं से इनका कोई विशेष परिचय नहीं मिलता।

जैन इतिहास की दृष्टि से इस शताब्दी का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शिलालेख उड़ीसा में भुवनेश्वर के निकट खण्डगिरि पहाड़ी की हाथीगुफा में प्राप्त हुआ है जिसमें सम्राट् खारवेल का विस्तृत जीवनवृत्त अंकित है। इस राजा और उसके परिवार के स्त्री-पुरुषों ने तथा अन्य राज्याधिकारियों ने इस स्थान पर जैन श्रमणों के लिए अनेक गुहाएँ खुदवायीं यह भी यहाँ के अनेक लेखों से विदित होता है। इन सब लेखों में किसी विशिष्ट आचार्य का नाम उपलब्ध नहीं हुआ है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख २ तथा भाग ४, लेख ३ से १४]

श्रीवीर निर्वाण संवत् की छठी शताब्दी
(ईसवी सन् पूर्व २७ से ईसवी सन् ७३)

वज्र

कल्पसूत्र में सिंहगिरि के चार शिष्यों के नाम बताये हैं—धनगिरि, समित, वज्र और अर्हद्दत्त। इनमें से वज्र महान् प्रभावक के रूप में प्रसिद्ध हुए। हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व में इनकी कथा मिलती है जिसका पल्लवित रूपान्तर प्रभावक-चरित में प्राप्त होता है। बालवय में ही मुनि होकर वज्र ने आगमों का अध्ययन किया और भद्रगुप्त आचार्य से दस पूर्वों का ज्ञान भी प्राप्त किया। कहा गया है कि आचारांग के लुप्त अंश के अनुसन्धान से इन्हें आकाशगामिनी विद्या प्राप्त हुई थी। एक बार पुरी के राजा ने बौद्ध गुरु के आग्रह से जैनों के उत्सव में विघ्न लाने के लिए नगर के सारे फूल अपने अधिकार में ले लिये। तब वज्र ने आकाशमार्ग से माहिष्मती नगर से बहुत-से फूल लाकर जैन संघ का उत्सव उत्साह से सम्पन्न कराया। देवों द्वारा उनके शुद्ध आचरण की परीक्षा की कथाएँ भी मिलती हैं। दुष्काल के समय वज्र दक्षिण प्रदेश में गये। वहाँ जिस पर्वत पर उनका देहावसान हुआ उसे इन्द्र ने रथ में बैठकर प्रदक्षिणा दी और इसलिए वह रथावर्तगिरि कहलाया। इसके वर्तमान स्थान की पहचान नहीं हो सकी है।

वज्र की कथा किंचित् परिवर्तन के साथ वइरकुमार कथा इस नाम से हरिषेण और प्रभाचन्द्र के कथाकोशों में भी मिलती है। समन्तभद्र के रत्नकरण्ड में प्रभावक पुरुषों के उदाहरण के रूप में वज्र का नाम उल्लिखित है।

वज्र के मामा समित भी प्रभावशाली आचार्य थे। महाराष्ट्र के पूर्व भाग में स्थित अचलपुर नगर में इनके उपदेश से कई तापस जैन संघ में सम्मिलित हुए थे। कहा गया है कि ये तापस पैरों में विशिष्ट औषधियों का लेप कर नदी के प्रवाह पर चलकर दिखाते थे। लोग इसे तपस्या का माहात्म्य समझकर बड़े प्रभावित होते थे। समित ने वास्तविकता को स्पष्ट किया तथा अपनी तपस्या की शक्ति से नदी के दोनों तटों को एकत्र कर दिखाया। इससे प्रभावित होकर वे सब तापस उनके शिष्य हो गये। उनका निवासस्थान ब्रह्मद्वीप कहलाता था अतः समित का यह शिष्यवर्ग ब्रह्मद्वीपिक शाखा के नाम से जाना गया।

वज्र के तीन शिष्यों के नाम कल्पसूत्र में बताये हैं—वज्रसेन, पद्म और रथ।

गुरु की आज्ञा के अनुसार दुष्काल समाप्ति के समय वज्रसेन ने सोप्पार नगर में विहार किया (यह वर्तमान बम्बई के निकट प्रसिद्ध बन्दरगाह था)। वहाँ नागेन्द्र, चन्द्र, निर्वृति और विद्याधर ये चार श्रेष्ठिपुत्र उनके शिष्य हुए। इनकी इन्हीं नामों की शाखाएँ जैन संघ में दीर्घकाल तक चलती रहीं।

रक्षित

नन्दीसूत्र में आर्य मंगु के बाद धर्म, भद्रगुप्त और रक्षित की प्रशंसा में गाथाएँ हैं। इनमें भद्रगुप्त का उल्लेख वज्र के विद्यागुरु के रूप में ऊपर हो चुका है। रक्षित की कथा प्रभावकचरित में विस्तार से दी है। ये दशपुर (वर्तमान मन्दसौर, मध्यप्रदेश) के राजपुरोहित के पुत्र थे। माता की प्रेरणा से वे जैन आगमों के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। आचार्य तोसलिपुत्र से दीक्षा लेकर अंगों का अध्ययन करने के बाद उज्जयिनी में वज्र से नौ पूर्वों का भी अध्ययन उन्होंने किया। उनके पिता और बन्धु भी बाद में मुनि हुए थे। पिता को मुनिचर्या में स्थिर करने के लिए रक्षित द्वारा अपनाये गये उपायों की कथा बड़ी रोचक है। उनके प्रधान शिष्य पुष्यमित्र थे। बुद्धिमान् होने पर भी आगमों का पठन करने में उन्हें कठिनाई होते देखकर रक्षित ने आगमों का चार अनुयोगों में वर्गीकरण किया और पठनपद्धति को सरल बनाया।

अन्य आचार्य

तिलोयपण्णत्ती आदि में सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु (द्वितीय) और लोहार्य ये चार आचार्य आचारांग के ज्ञाता कहे गये हैं—शेष अंगों और पूर्वों का ज्ञान इनके समय में त्रुटित रूप में रहा।

[नन्दिपट्टावली के अनुसार ये आचार्य इस शताब्दी में रखे गये हैं, तिलोयपण्णत्ती आदि में इनका समय वीर संवत् ५७३ से ६८३ तक है।]

श्रीवीर निर्वाण संवत् की सातवीं शताब्दी

(ईसवी सन् ७३ से १७३)

धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि

सौराष्ट्र प्रदेश में गिरिनगर (वर्तमान जूनागढ़) के समीप चन्द्रगुहा में आचार्य धरसेन का निवास था। वे निमित्तशास्त्र में पारंगत थे। मन्त्रशास्त्र पर उन्होंने जोणिपाहुड नामक ग्रन्थ लिखा था। यह अभी उपलब्ध नहीं हो सका है / आचार्य-परम्परा से प्राप्त आगमों का ज्ञान दिनोंदिन क्षीण होता देखकर वे चिन्तित हुए। उन्होंने दक्षिण प्रदेश के आचार्य-सम्मेलन से दो योग्य शिष्यों को भेजने का आग्रह किया। तदनुसार वेणातट (वर्तमान स्थान अनिश्चित) नगर से पुष्पदन्त और भूतबलि ये दो मुनि गिरिनगर भेजे गये। आचार्य ने उन दोनों को दो मन्त्रों का उपदेश दिया—एक में एक अक्षर कम रखा और दूसरे में एक अक्षर अधिक। दोनों ने अपने बुद्धिबल से मन्त्रों को ठीक कर लिया। तब उनकी योग्यता देखकर आचार्य ने उन्हें महाकर्मप्रकृति-प्राभृत का उपदेश दिया। अध्ययन पूर्ण होने पर गुरु की आज्ञा से दोनों ने अंकलेसर (यह अब भी इसी नाम से प्रसिद्ध है) नगर में चातुर्मास किया। तदनन्तर पुष्पदन्त ने वनवासि (कर्णाटक) प्रदेश में तथा भूतबलि ने तमिल प्रदेश में विहार किया। गुरु से प्राप्त ज्ञान को पुस्तक-निबद्ध करने का विचार कर पुष्पदन्त ने सत्प्ररूपणा नामक प्रकरण की रचना की तथा जिनपालित नामक शिष्य के साथ वह प्रकरण भूतबलि के पास भेजा। उन्होंने पुष्पदन्त का अभिप्राय समझकर शेष प्रकरणों की रचना कर ग्रन्थ पूर्ण किया। इस ग्रन्थ में जीवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध ये छह खण्ड हैं अतः इसे षट्खण्डागम यह नाम दिया गया। प्रथम पाँच खण्डों का विस्तार छह हजार श्लोकों जितना और अन्तिम खण्ड का विस्तार तीस हजार श्लोकों जितना है। आगमों को पुस्तक-निबद्ध करने का यह कार्य एक नयी परम्परा का प्रारम्भ था। इसके पूर्व गुरु-शिष्यों की मौखिक परम्परा से ही आगमों का अध्ययन होता था। जैन संघ ने इस उपक्रम का अभिनन्दन किया और इस प्रथम लिखित ग्रन्थ के पूर्ण होने की तिथि ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को शास्त्रपूजा के पर्व श्रुतपंचमी के रूप में समारोह का आयोजन प्रारम्भ किया। जीव और कर्मों के स्वरूप और सम्बन्ध का वर्णन विस्तार से प्रस्तुत करनेवाले इस ग्रन्थ पर कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, श्यामकुण्ड, तुम्बुलूर आदि आचार्यों ने टीकाएँ लिखी थीं। अब इन टीकाओं में से केवल एक ही—आचार्य वीरसेन की

धवला टीका—उपलब्ध है।

[श्री लक्ष्मीचन्द्र शिताबराय जैन साहित्योद्धारक फण्ड, अमरावती द्वारा षट्खण्डागम के प्रथम पाँच खण्डों की धवला टीका डॉ. हीरालाल जैन के सम्पादन में सोलह खण्डों में प्रकाशित हुई है। प्रथम खण्ड की विस्तृत प्रस्तावना में सम्पादक ने मूल ग्रन्थ और टीका से सम्बद्ध विषयों का विवेचन किया है। अन्तिम खण्ड महाबन्ध भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी द्वारा पं. सुमेरुचन्द्र तथा पं. फूलचन्द्र द्वारा सम्पादित होकर सात खण्डों में प्रकाशित हुआ है।]

गुणधर

षट्खण्डागम के समकक्ष मान्यता प्राप्त करनेवाला दूसरा सिद्धान्त ग्रन्थ कषाय-प्राभृत है। २२३ गाथाओं के इस संक्षिप्त किन्तु गम्भीर ग्रन्थ में मोहनीय कर्म के बन्ध की दृष्टि से जीवों और कर्मों का निरूपण है। इसके रचयिता गुणधर थे। आर्य मंगु और नागहस्ति द्वारा इस ग्रन्थ का स्पष्टीकरण हुआ जिसे प्राप्त कर यतिवृषभ ने छह हजार श्लोकों जितने विस्तार के चूर्णिसूत्र की रचना की। इसपर वीरसेन और जिनसेन ने जयधवला नामक विस्तृत व्याख्या लिखी जिसका प्रमाण साठ हजार श्लोकों जितना है।

[चूर्णिसूत्र सहित कषायप्राभृत पं. हीरालाल शास्त्री के सम्पादन में प्रकाशित हुआ है; जयधवला सहित कषायप्राभृत पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री आदि विद्वानों द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है, इसके प्रथम खण्ड की प्रस्तावना में ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ताओं के विषय में विस्तृत विवेचन है।]

पादलिप्त

णिम्मलमणेण गुणगरुयएण परमत्थरयणसारेण।
पालित्तएण हालो हारेण व सहइ गोट्ठीसु॥

—कुवलयमाला-प्रारम्भ

उद्द्योतन की उपर्युक्त गाथा के अनुसार राजा हाल की सभा में पादलिप्त रत्नहार के समान सुशोभित हुए थे। इनकी जीवनकथा प्रभावकचरित, प्रबन्धकोश, प्रबन्धचिन्तामणि आदि में विस्तार से वर्णित है।

अयोध्या के एक श्रेष्ठिकुल में इनका जन्म हुआ था तथा नागहस्ती आचार्य के संघ में इन्हें शिक्षा-दीक्षा मिली। गुरुकृपा से इन्हें ऐसे लेप का ज्ञान मिला जिसे पैरों में लगाने से आकाशमार्ग से चलने की शक्ति प्राप्त होती थी—यही उनके नाम का स्पष्टीकरण दिया गया है।

पाटलिपुत्र के राजा मुरुण्ड की दीर्घकालीन शिरोवेदना पादलिप्त द्वारा घुटनों पर अँगुली घुमाने से शान्त हो गयी थी। इस प्रसंग का वर्णन करनेवाली गाथा वेदना-शामक मन्त्र के रूप में प्रसिद्ध हो गयी। इस राजा की सभा में प्रदर्शित पादलिप्त के

बुद्धिचातुर्य की अनेक कथाएँ मिलती हैं।

प्रतिष्ठान के हाल राजा की सभा में पादलिप्त के सम्मान का उल्लेख ऊपर हुआ है। हाल द्वारा सम्पादित गाथासप्तशती की कुछ गाथाओं के कर्ता पादलिप्त (प्राकृत में पालित्त) कहे गये हैं। यहीं पर उन्होंने तरंगवती नामक विस्तृत प्राकृत कथा की रचना की। यह अब मूल रूप में प्राप्त नहीं है, लगभग एक हजार वर्ष बाद नेमिचन्द्र ने इसका जो संक्षिप्त रूपान्तर किया वह प्रकाशित हो गया है। प्रेम और वैराग्य दोनों का सुन्दर वर्णन इसमें मिलता है। प्राकृत भाषा में ललित साहित्य रचना का यह सबसे प्राचीन विस्तृत उदाहरण है। ज्योतिष्करण्डक टीका, निर्वाणकलिका और प्रश्नप्रकाश ये पादलिप्त के अन्य ग्रन्थों के नाम कहे गये हैं।

विख्यात रसायनवेत्ता नागार्जुन ने पादलिप्त की सेवा की तथा गुरु के सम्मान में शत्रुंजय पर्वत की तलहटी में पालित्ताणय नगर की स्थापना की ऐसी भी कथा है। इस समय निर्मित महावीरमन्दिर में पादलिप्त द्वारा रचित चार गाथाओं की महावीर-स्तुति सुप्रसिद्ध है।

खपुट

आवश्यकनिर्युक्ति में विद्यासिद्ध के उदाहरण के रूप में खपुट का उल्लेख हुआ है। इनकी कथा प्रभावकचरित में पादलिप्त कथा के अन्तर्गत मिलती है। प्रबन्धकोश के एक प्रबन्ध में भी यह कथा है। इसी का यहाँ सार दिया जाता है।

भृगुकच्छ नगर में बलमित्र राजा के राज्य में बौद्ध तर्कज्ञ आचार्यों का बड़ा प्रभाव था। खपुट के शिष्य भुवन ने उन्हें वाद में पराजित किया। उनकी मदद के लिए गुडशस्त्रपुर से आये हुए वृद्धकर नामक वादी की भी पराजय हुई। अपमान से क्षुब्ध होकर उसने अनशन से देहत्याग किया। वह यक्ष हुआ। गुडशस्त्रपुर में वह यक्ष पूर्वजन्म के वैर से जैनों को कष्ट देने लगा। संघ की प्रार्थना से खपुट वहाँ गये और उस यक्ष की मूर्ति के कानों में पादत्राण बाँधकर सो गये। वहाँ के राजा ने इस अपमान से क्रुद्ध होकर जब उन्हें पीटने का आदेश दिया तब उनके शरीर पर की गयी चोटों का तो कोई असर नहीं हुआ बल्कि उनसे राजा के अन्तःपुर की स्त्रियाँ ही आहत हुईं। तब राजा ने खपुट को महान् सिद्ध समझ कर उनसे क्षमा माँगी और उनका सम्मान किया। उनकी मन्त्रशक्ति से यक्ष का उपद्रव तो दूर हुआ ही, उसकी पाषाण मूर्ति उन्हें विदा करने नगर के द्वार तक आयी जिसे देखकर लोग विस्मयचकित हुए।

उस समय पाटलिपुत्र में दाहड नामक राजा ने जैन मुनियों को आदेश दिया था कि वे ब्राह्मणों को प्रणाम करें। इसे मुनिचर्या के विरुद्ध समझकर वहाँ के संघ ने इस संकट से रक्षा करने हेतु खपुट को सन्देश भेजा। उन्होंने अपने शिष्य महेन्द्र को वहाँ भेजा। महेन्द्र ने लाल और सफ़ेद कणेर की एक-एक शाखा लेकर राजा की सभा में प्रवेश किया। लाल शाखा को घुमाते हुए उन्होंने कहा—पहले मैं इन्हें प्रणाम करूँ कि

इन्हें प्रणाम करूँ। ऐसा करते ही वहाँ बैठे हुए ब्राह्मणों के सिर टूटे हुए दिखाई दिये। तब राजा ने प्रभावित होकर महेन्द्र से क्षमा-याचना की। फिर उनके सफ़ेद कणेर की शाखा घुमाते ही ब्राह्मण स्वस्थ हो गये।

मथुरा के शिल्पों से ज्ञात आचार्य

मथुरा के कंकाली टीला नामक स्थान से उत्खनन में अनेक जैन स्तूपों और मन्दिरों के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। यहाँ की जिनमूर्तियाँ, स्तम्भ तथा सुन्दर नक़्क़ाशी से सुशोभित शिलापट्ट शिल्पकला की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से कई पर छोटे-बड़े शिलालेख भी हैं। जिनकी तिथि निश्चित है ऐसी जिनमूर्तियों में मथुरा की ये मूर्तियाँ सबसे प्राचीन हैं। इन शिलालेखों से इस शताब्दी के जिन आचार्यों का परिचय मिलता है उनके नाम इस प्रकार हैं—ईसवी सन् ८२ में वज्रनगरी शाखा के आचार्य पुष्यमित्र की शिष्याओं ने एक शिलापट्ट स्थापित किया था। सन् ८५ के एक लेख में नागभूतिकीय कुल के गणी बुद्धश्री के शिष्य आर्य सन्धिक की भगिनी जया का नाम मिलता है। सन् ९३ में स्थापित सर्वतोभद्र (चतुर्मुख) जिनमूर्ति के लेख में आर्य जयभूति की शिष्या संगमिका की शिष्या वसुला का निर्मात्री के रूप में उल्लेख है। सन् ९७ के लेख में वाचक बलदिन्न के शिष्य मातृदिन्न का प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में नामोल्लेख है। सन् ९८ में स्थापित महावीरमूर्ति के लेख में कोटिक गण की वज्री शाखा के आचार्य संघसिंह का नाम है। यह मूर्ति मतिल की पत्नी दिन्ना ने स्थापित की थी। सन् १०३ के लेख में उच्चनगरी शाखा के आचार्य बलत्रात के शिष्य सन्धि का नाम मिलता है। सन् १०८ के लेख में आचार्य नागदत्त का उल्लेख है। सन् ११० में स्थापित सर्वतोभद्र जिनमूर्ति की प्रतिष्ठा चारण गण के आर्य नन्दिक ने की थी। सन् ११८ में स्थापित एक स्तम्भ वज्रनगरी शाखा के महानन्दि की शिष्याओं ने बनवाया था। सन् १२२ के लेख में हारितमालाकारी शाखा के आचार्य नागसेन का नाम मिलता है। सन् १२५ में प्रीतिधर्मिक कुल के वाचक ओघनन्दि के शिष्य सेन ने एक शिल्प स्थापित किया था। सन् १२८ में आचार्य दिनर की शिष्या जिनदासी की शिष्या विजयश्री का नामोल्लेख मिलता है। सन् १३० के लेख में वज्रीशाखा के आचार्य हस्तहस्ति के शिष्य मंगुहस्ति के शिष्य दिवित का नाम मिलता है। सन् १३२ में हस्तहस्ति के शिष्य माघहस्ति के शिष्य आर्यदेव ने सरस्वती प्रतिमा स्थापित की थी। सन् १४० के लेख में वाचक कर्कुहस्थ के शिष्य आतपिक ग्रहबल का नाम मिलता है। सन् १५७ में स्थापित नन्द्यावर्त प्रतिमा के लेख में कोटिक गण की वज्री शाखा के आर्य वृद्धहस्ति का नाम मिलता है। इस लेख से यह भी ज्ञात होता है कि मथुरा का यह स्तूप उस समय देवनिर्मित माना जाता था। सन् १७१ में गणिनन्दि के उपदेश से महावीरमूर्ति की स्थापना हुई थी। यहाँ के कुछ लेखों में निश्चित तिथि नहीं है, लिपिविशेषज्ञों ने ऐसे जिन लेखों का समय इस शताब्दी में निर्धारित किया है उनमें भी

कई आचार्यों के नाम प्राप्त होते हैं। उच्चनगरी शाखा के आर्य ज्येष्ठहस्ति के शिष्य मिहिल का नाम दो मूर्तियों के लेखों में प्राप्त हुआ है। इसी शाखा के आर्य कुमारनन्दि के शिष्य मित्र का नाम एक लेख में मिलता है। मथुरा के इन लेखों से कल्पसूत्र में उल्लिखित गणों, कुलों और शाखाओं की ऐतिहासिकता प्रमाणित करने में सहायता मिली है। इनमें प्राप्त श्रावकों, श्राविकाओं तथा आर्यिकाओं के उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण हैं जिनसे जैन संघ की व्यापकता और लोकप्रियता प्रमाणित होती है।

[जैन शिलालेख संग्रह भा. २ में संकलित इन लेखों का विस्तृत विवेचन डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी ने इसी ग्रन्थ के भाग ३ की प्रस्तावना में किया है; यहाँ के शिल्पों का वर्णन डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने मथुरा संग्रहालय के शिल्पों की सूची में प्रस्तुत किया है।]

अन्य आचार्य

जिनसेन के हरिवंशपुराण में अंगज्ञानी आचार्यों के बाद ग्रन्थकर्ता के समय तक २५ आचार्यों के नाम बताये हैं। इनमें से प्रथम चार विनयन्धर, गुप्तऋषि, शिवगुप्त और अर्हद्‌बलि ये आचार्य इस शताब्दी के धरसेन आदि के समकालीन माने जा सकते हैं।

इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में अंगज्ञानी आचार्यों के बाद विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त, अर्हद्दत्त, अर्हद्‌बलि और माघनन्दि इन आचार्यों के नाम प्राप्त होते हैं जिनकी उपर्युक्त नामों से काफ़ी समानता है।

इन दोनों सूचियों में अर्हद्‌बलि का नाम समान है। श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में इनका वर्णन आता है। दक्षिण के जैन मुनिसंघ के नन्दि, सेन, सिंह और देव इन चार भेदों की व्यवस्था इन्हीं द्वारा स्थापित मानी जाती है। ये पुष्पदन्त और भूतबलि के गुरु थे ऐसा भी वर्णन मिलता है।

नन्दिसंघपट्टावली में भी धरसेन के पूर्व अर्हद्‌बलि और माघनन्दि का नाम दिया गया है।

कल्पसूत्र में वज्रस्वामी के शिष्य रथ के बाद बताये गये पुष्यगिरि, फल्गुमित्र, धनगिरि, शिवभूति, भद्र और नक्षत्र ये आचार्य इस शताब्दी के माने जा सकते हैं।

नन्दीसूत्र में आर्य रक्षित के बाद बताये गये नन्दिल और नागहस्ती ये इस शताब्दी के आचार्य माने जाते हैं। नन्दिल की कथा प्रभावकचरित में विस्तार से बतायी है। इनके द्वारा रचित वैरोट्यादेवी की स्तुति के पठन से सर्पभय दूर होता है ऐसा कहा गया है। प्रबन्धकोष में भी यह कथा मिलती है। नागहस्ती का उल्लेख पादलिप्त के गुरु के रूप में ऊपर हो चुका है।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की आठवीं शताब्दी

(ईसवी सन् १७३ से २७३)

कुन्दकुन्द

श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः ।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चारित्रसंजातसुचारणर्द्धिः[1] ॥

दक्षिण भारत के जैन संघ में असाधारण रूप से सम्मानित आचार्य कुन्दकुन्द का मूल नाम पद्मनन्दि था। कोण्डकुन्द यह उनके मूल स्थान का नाम था जो दक्षिण की परम्परानुसार उनके नाम के रूप में प्रचलित हुआ तथा संस्कृत में यही नाम कुन्दकुन्द इस रूप में प्रसिद्ध हुआ। यह कोण्डकुन्द अब कोनकोण्डल कहलाता है तथा आन्ध्र प्रदेश के अनन्तपुर जिले में स्थित है। यहाँ कई जैन शिलालेख प्राप्त हुए हैं। डॉ. देसाई ने जैनिज्म इन साउथ इण्डिया में इस स्थान का विस्तृत परिचय दिया है।

इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार के अनुसार कुन्दकुन्द ने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नामक व्याख्या-ग्रन्थ लिखा था। यह अभी उपलब्ध नहीं हो सका है। उनके उपलब्ध ग्रन्थों में दशभक्ति तथा अष्टप्राभृत ये प्रारम्भिक रचनाएँ मालूम पड़ती हैं। दशभक्ति में चौबीस तीर्थंकर, सिद्ध, श्रुत, चारित्र, पंचपरमेष्ठी, योगी तथा आचार्य इनकी स्तुतियों में लगभग ८० गाथाएँ हैं—चैत्य, शान्ति तथा नन्दीश्वर भक्ति उपलब्ध नहीं हैं। अष्टप्राभृत में दर्शन, सूत्र, चारित्र, बोध, भाव, मोक्ष, लिंग और शील इन आठ शीर्षकों के प्राभृत नामक प्रकरण हैं, इनमें से पहले छह षट्प्राभृत इस नाम से भी प्रकाशित हुए हैं। भाव और मोक्ष ये दो प्रकरण अन्य छह की तुलना में विस्तृत और प्रभावपूर्ण शैलीमें हैं। इन आठ प्राभृतों में ५०२ गाथाएँ हैं। द्वादशानुप्रेक्षा में जगत् की अनित्यता आदि बारह चिन्तन-विषयों का ९० गाथाओं में वर्णन है। इस विषय पर आगे चलकर कई आचार्यों ने रचनाएँ लिखी हैं। नियमसार में आध्यात्मिक दृष्टि से साधुजीवन के विविध अंगों—ध्यान, प्रत्याख्यान, तपस्या आदि का १८६ गाथाओं में वर्णन मिलता है। पंचास्तिकाय में दो भागों में १७३ गाथाएँ हैं, प्रथम भाग में छह द्रव्यों का और दूसरे भाग में नौ पदार्थों का विवरण मिलता है। प्रवचनसार में ज्ञान, ज्ञेय तथा चारित्र इन तीन प्रकरणों में २७५ गाथाएँ हैं। सर्वज्ञ के दिव्य ज्ञान और

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, पृ. ३४—यह श्लोक सन् ११७७ के शिलालेख में है। ऐसे ही अर्थ के श्लोक अन्य छह लेखों में हैं।

उनके द्वारा उपदिष्ट द्रव्य-स्वरूप का प्रभावी समर्थन इसमें प्राप्त होता है। कुन्दकुन्द की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना समयप्राभृत या समयसार में ४३७ गाथाएँ हैं। निश्चयनय और व्यवहारनय की विभिन्न दृष्टियों से आत्मतत्त्व का मूलग्राही विवेचन इसमें मिलता है। जैन परम्परा में अध्यात्म ग्रन्थों की रचना का यह आदर्श रहा है।

आगमों के पठन-पाठन की पुरानी परम्परा में कुन्दकुन्द के ग्रन्थ युगान्तरकारी प्रतीत होते हैं। तत्त्वविवेचन की मौलिक गम्भीरता को बनाये रखते हुए सुसंगत, संक्षिप्त और सुबोध शैली में लिखे गये उनके प्राभृत वास्तव में जैन श्रुत के लिए बहुमूल्य प्राभृत (भेंट) सिद्ध हुए।

शीर्षकनिर्दिष्ट श्लोक के अनुसार कुन्दकुन्द को चारण ऋद्धि प्राप्त हुई थी। देवसेन कृत दर्शनसार की एक गाथा में कहा गया है कि उन्होंने सीमन्धर स्वामी से दिव्य ज्ञान प्राप्त किया था।

[रायचन्द्र शास्त्रमाला में प्रकाशित प्रवचनसार के संस्करण में डॉ. उपाध्ये ने कुन्दकुन्द का विस्तृत परिचय दिया है।]

विमल

ये नाइल कुल के आचार्य राहु के शिष्य विजय के शिष्य थे। पूर्व ग्रन्थों में वर्णित नारायणों और बलदेवों के चरितों का अध्ययन करने के बाद उन्होंने पउमचरिय (पद्मचरित) नामक विस्तृत ग्रन्थ की रचना की। वाल्मीकिरचित रामायण में रावण आदि राक्षसों का नरभक्षक होना, कुम्भकर्ण का छह महीने सोना, इन्द्र आदि देवों का जीता जाना इत्यादि अद्भुत बातों का वर्णन है जिससे रामकथा कविकल्पना मात्र प्रतीत होती है। इससे व्याप्त लोकभ्रम को दूर करना तथा रामकथा का जैन परम्परा में मान्य बुद्धिसंगत स्वरूप प्रकट करना यह विमल की रचना का उद्देश्य है। किन्तु यह केवल रामायण का रूपान्तर मात्र नहीं है। प्रथम जैन पुराण ग्रन्थ होने के कारण इसका अपना महत्त्व है। ऋषभदेव, अजित, मुनिसुव्रत एवं महावीर इन तीर्थंकरों, भरत, सगर, सनत्कुमार, हरिषेण इन चक्रवर्तियों तथा संजयन्त, कुलभूषण-देशभूषण, अनन्तवीर्य, सुकोशल आदि मुनियों के प्रभावोत्पादक कथानक इसमें उपलब्ध होते हैं। साथ ही ६३ शलाकापुरुषों से सम्बद्ध जो नामावलियाँ इसके पर्व २० में दी हैं उनसे मालूम होता है कि जैन पुराण कथाओं का तबतक काफ़ी विस्तार हो चुका था। ११८ पर्वों तथा ८६५१ गाथाओं का यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा के साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से भी पठनीय है। कहा जाता है कि विमल ने कृष्णकथा का जैन-परम्परागत स्वरूप भी हरिवंश नामक ग्रन्थ में निबद्ध किया था। यह उपलब्ध नहीं हुआ है

[प्राकृत ग्रन्थ परिषद् द्वारा प्रकाशित पउमचरिय के संस्करण में डॉ. कुलकर्णी का विमल के विषय में विस्तृत निबन्ध है।]

अन्य आचार्य

कल्पसूत्र में उल्लिखित आचार्यों में इस शताब्दी के अन्तर्गत रक्ष, नाग, जेहिल, विष्णु, कालक और भद्र इनके नाम रखे जा सकते हैं।

नन्दीसूत्र में उल्लिखित रेवतीनक्षत्र तथा अचलपुर के सिंह ये इस शताब्दी के आचार्य हैं।

हरिवंशपुराण की गुरुपरम्परा में उल्लिखित मन्दर, मित्रवीर, बलदेव तथा बलमित्र इस शताब्दी के आचार्य माने जा सकते हैं।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की नौवीं शताब्दी

[ईसवी सन् २७३ से ३७३]

गृध्रपिच्छ उमास्वाति

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद लगभग आठ शताब्दियों तक जैन साहित्य की भाषा प्राकृत रही। इस दीर्घकाल के अधिकांश राजाओं के लेखों में भी इसी भाषा का प्रयोग मिलता है। किन्तु धीरे-धीरे इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। प्राचीन संस्कृत भाषा का एक नया रूप विकसित हुआ जिसे राजसभाओं, कवियों और पण्डितों की गोष्ठियों में स्थान मिला और उच्च वर्ग की प्रतिष्ठित भाषा का स्तर प्राप्त हुआ। बौद्ध और जैन पण्डितों ने भी इस साहित्यिक संस्कृत को अपनाया और अपने विशाल धार्मिक साहित्य से उसे समृद्ध बनाया। इस भव्य परम्परा का आरम्भ जैन संघ में उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र से हुआ। ३५७ सूत्रों के इस छोटे-से ग्रन्थ में विशाल आगम साहित्य का सार बड़ी कुशलता से ग्रथित किया गया है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का स्वरूप संक्षिप्त और सुनिश्चित पद्धति से स्पष्ट करनेवाला यह ग्रन्थ समग्र जैन संघ में अत्यन्त सम्मानित हुआ। इसके पठन मात्र को उपवास के समान पुण्यकार्य माना गया। इसके कर्ता श्रुतकेवली के समकक्ष माने गये। अकलंक, विद्यानन्द आदि समर्थ विद्वानों ने इसपर विस्तीर्ण व्याख्याग्रन्थ लिखे।

तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम भाष्य के अन्त में उसके कर्ता के विषय में निम्नलिखित बातें कही गयी हैं—वाचकमुख्य शिवश्री के शिष्य ग्यारह अंगों के ज्ञाता घोषनन्दिक्षमण उमास्वाति के गुरु थे। अध्ययन की दृष्टि से महावाचक क्षमण मुण्डपाद के शिष्य वाचकाचार्य मूल उनके गुरु थे। न्यग्रोधिका में उनका जन्म हुआ था। कौभीषणि गोत्र के स्वाति और वात्सी के वे पुत्र थे तथा उच्चैर्नागर शाखा में वाचक पद उन्हें प्राप्त हुआ था। उन्होंने कुसुमपुर में विहार करते हुए इस ग्रन्थ को स्पष्ट किया। कुसुमपुर प्राचीन मगध साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) का नामान्तर था। दक्षिण में मद्रास के समीप के कुड्डलोर नगर का पुराना नाम तिरुप्पादिरिप्पुलियूर भी इसी अर्थ का था। इन्हीं दो में से किसी एक नगर में यह ग्रन्थ लिखा गया होगा।

वीरसेन और विद्यानन्द ने तत्त्वार्थकर्ता का नाम गृध्रपिच्छ बताया है। श्रवणबेलगोल के अनेक शिलालेखों के अनुसार गृध्रपिच्छ यह उमास्वाति का ही दूसरा नाम था। इन लेखों में उनके शिष्य बलाकपिच्छ की भी प्रशंसा मिलती है। यहाँ के

लेख क्र. १०८ में कहा गया है कि बलाकपिच्छ को तपस्या से महर्षि प्राप्त हुई थी जिससे उनके शरीर से स्पर्श हुई वायु भी विष के प्रभाव को दूर कर देती थी। यह लेख सन् १४३३ का है।

संस्कृत में उमास्वाति का एक और ग्रन्थ प्रशमरति भी सुप्रसिद्ध है। मुनि के आदर्श आचार-विचारों का सुन्दर प्रतिपादन इसमें प्राप्त होता है।

[तत्त्वार्थसूत्र के विभिन्न संस्करणों में ग्रन्थकर्ता के परिचय की दृष्टि से पं. सुखलाल व पं. फूलचन्द्र की भूमिकाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। पं. प्रेमी ने जैन साहित्य और इतिहास में एक विस्तृत निबन्ध में इस विषय की चर्चा की है।]

सिंहनन्दि

दक्षिणदेशनिवासी गंगमहीमण्डलिककुलसंधरणः।
श्रीमूलसंघनाथो नाम्ना श्रीसिंहनन्दिमुनिः ॥[1]

मैसूर प्रदेश के शिमोगा ज़िले में स्थित निदिगि ग्राम से प्राप्त शिलालेख में यह श्लोक है। इसी आशय का वर्णन अन्य अनेक लेखों में है। इससे ज्ञात होता है कि इस प्रदेश के पहले ऐतिहासिक राजवंश—गंगवंश के संस्थापक माधववर्मा सिंहनन्दि के शिष्य थे। श्रवणबेलगोल के मल्लिषेण प्रशस्ति शिलालेख में कहा गया है कि सिंहनन्दि ने मानो अपना ध्यानरूपी खड्ग ही शिष्य को दे दिया जिससे वह राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति में विघ्नस्वरूप शिलास्तम्भ को तोड़ सका। यह एक रूपकात्मक वर्णन है जिसका तात्पर्य यही हो सकता है कि राज्यस्थापना के गुरुतर कार्य में गुरु के आशीर्वाद और विचार-विमर्श से माधववर्मा को सफलता प्राप्त हुई। माधववर्मा के वंशजों ने भी समय-समय पर अनेक जैन आचार्यों का सम्मान किया जिनका आगे यथास्थान उल्लेख होगा। राज्यारम्भ के पूर्व माधववर्मा ने जहाँ गुरु से भेंट की थी वह स्थान आन्ध्र प्रदेश के कडप्पा ज़िले में गंगपेरूर नाम से जाना जाता है।

[डॉ. देसाई ने जैनिज्म इन साउथ इण्डिया में इस स्थान का परिचय दिया है।]

स्कन्दिल और नागार्जुन

दीर्घकालीन दुष्काल के कारण आगमों के अध्ययन में बाधा उपस्थित हुई ऐसा देखकर आचार्य स्कन्दिल ने वीर संवत् ८३० में मथुरा में ज्ञानवृद्ध साधुओं का एक सम्मेलन आयोजित किया तथा आगमों के पाठ को व्यवस्थित रूप से संकलित किया। लगभग इसी समय सौराष्ट्र की राजधानी वलभी नगर में (जो इस समय भावनगर के समीप वला नामक छोटा-सा गाँव है) नागार्जुन आचार्य ने भी ऐसा ही प्रयास किया। स्कन्दिल द्वारा निश्चित आगमों के पाठ को माथुरी वाचना कहते थे तथा नागार्जुन के पाठ को नागार्जुनी या प्रथम वालभी वाचना कहते थे। इन दोनों पाठों के छोटे-मोटे

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, पृष्ठ ३६३।

अन्तर आगमों की टीकाओं में बताये गये हैं। नन्दीसूत्र में इन दोनों आचार्यों की भावपूर्ण शब्दों में प्रशंसा की गयी है।

अन्य आचार्य

नन्दीसूत्र में स्कन्दिल और नागार्जुन के साथ हिमवन्त आचार्य की भी प्रशंसा मिलती है।

कल्पसूत्र में उल्लिखित वृद्ध, संघपालित, हस्ति, धर्म, सिंह और शाण्डिल्य इस शताब्दी के आचार्य माने जा सकते हैं।

हरिवंशपुराण की गुरु-परम्परा के सिंहबल, वीरवित्, पद्मसेन तथा व्याघ्रहस्ति इस शताब्दी में रखे जा सकते हैं।

राजगृह के वैभारपर्वत के समीप सोनभण्डार गुहा के द्वार पर एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जो अक्षरों की बनावट के आधार पर इस शताब्दी का माना गया है। इसमें गुहा के निर्माण का श्रेय आचार्यरत्न वैरदेव को दिया गया है।

[जैनशिलालेख संग्रह, भा. ३, प्रस्तावना, पृष्ठ १४१]

श्रीवीर निर्वाण संवत् की दसवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ३७३ से ४७३]

समन्तभद्र

वन्द्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-
दत्तोदात्तपदः स्वमन्त्रवचनव्याहूतचन्द्रप्रभः।
आचार्यः स समन्तभद्रगणभृद् येनेह काले कलौ
जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद् भद्रं समन्तान्मुहुः॥[1]

तत्त्वार्थसूत्र से जैन साहित्य में संस्कृत का उपयोग प्रतिष्ठित हुआ। इस परम्परा में दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान समन्तभद्र के ग्रन्थों का है। इसके साथ ही तत्त्वविवेचन में तर्कशास्त्र के विस्तृत उपयोग का प्रारम्भ उन्हीं से हुआ था।

आप्तमीमांसा या देवागमस्तोत्र यह समन्तभद्र की कृति युगप्रवर्तक सिद्ध हुई। भगवान् महावीर की श्रेष्ठता उनके निर्दोष उपदेशों के कारण है इस भूमिका से तर्क-दृष्टि का उपयोग करते हुए जैन सिद्धान्तों का प्रतिपादन इस रचना में किया गया है। स्याद्वाद का विस्तृत विवरण और समर्थन सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

युक्त्यनुशासन यह समन्तभद्र की कृति भी तर्कसमन्वित वीरस्तुति के स्वरूप में है। एकान्तवादों के विविध रूपों के दोष स्पष्ट करते हुए इसमें वीरप्रभु के अनेकान्तात्मक सर्वोदय तीर्थ के गुण स्पष्ट किये हैं।

स्वयम्भूस्तोत्र में सुन्दर अलंकृत भाषा में चौबीस तीर्थंकरों का गुणगान है। पुराणकथाओं के संक्षिप्त उल्लेखों के साथ इसमें भी तर्कदृष्टि से तीर्थंकरों के उपदेशों का स्पष्टीकरण प्राप्त होता है। भक्ति का निर्दोष स्वरूप और आत्मोन्नति के लिए प्रेरक शक्ति के रूप में भक्ति का महत्त्व इस स्तोत्र में सुन्दर रीति से स्पष्ट हुआ है।

जिनस्तुतिशतक में भी चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति है। इसकी रचना चित्रकाव्य के रूप में हुई। चक्र, कमल, मृदंग आदि आकृतियों में इसके श्लोक लिखे जाते हैं। समग्र संस्कृत साहित्य में चित्रकाव्य के विस्तृत प्रयोग का यह पहला उदाहरण है।

समन्तभद्र की पाँचवीं कृति रत्नकरण्ड में मुक्ति के मार्ग के रूप में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का सुबोध विवरण मिलता है। चारित्र के विवरण में गृहस्थों के

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, पृ. १०२; यह शिलालेख सन् ११२८ का है तथा श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर स्थित पार्श्वनाथमन्दिर में है। यह लेख मल्लिषेण प्रशस्ति के नाम से प्रसिद्ध है।

धर्माचरण का आदर्श विस्तार से स्पष्ट किया है। इसी से इसे श्रावकाचार इस नाम से भी प्रसिद्धि मिली है।

इस प्रकार समन्तभद्र के उपलब्ध ग्रन्थों की कुल श्लोक संख्या पाँच सौ से कुछ ही अधिक है किन्तु अपनी मौलिकता के कारण वे सभी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। अकलंक, विद्यानन्द, वसुनन्दि, प्रभाचन्द्र आदि समर्थ विद्वानों ने उनपर व्याख्याएँ लिखी हैं। जैन साहित्यिकों ने मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशंसा की है।

आप्तमीमांसा की एक प्रति में समन्तभद्र को उरगपुर (वर्तमान उरैयूर जो तमिलनाडु में है) के राजकुमार कहा है। जिनस्तुतिशतक के एक श्लोक से उनका मूल नाम शान्तिवर्मा ज्ञात होता है। शीर्षकनिर्दिष्ट श्लोक के अनुसार उन्होंने भस्मक व्याधि पर विजय प्राप्त किया तथा पद्मावती देवी से उदात्त पद प्राप्त कर अपने मन्त्रयुक्त वचनों से चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रकट की। इसका विवरण प्रभाचन्द्र के कथाकोश में मिलता है जिसमें कहा गया है कि भस्मक व्याधि के शमन के लिए वेशपरिवर्तन कर समन्तभद्र ने कई स्थानों में भ्रमण किया था। वाराणसी के शिवमन्दिर में विपुल नैवेद्य से उनका रोग शान्त हुआ। वहाँ के राजा ने जब उन्हें शिव को प्रणाम करने की आज्ञा दी तब उन्होंने स्वयम्भूस्तोत्र की रचना की। उसी में चन्द्रप्रभस्तुति के पठन के समय शिवलिंग से चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रकट हुई थी। बाद में जैन दर्शन की श्रेष्ठता प्रस्थापित करते हुए समन्तभद्र ने पाटलिपुत्र (पटना), मालव, सिन्धु, ठक्क (पंजाब), कांची, विदिशा तथा करहाटक (कऱ्हाड, महाराष्ट्र) के वादों में विजय प्राप्त किया ऐसा वर्णन भी शीर्षकनिर्दिष्ट श्लोक के बाद श्रवणबेलगोल के उपर्युक्त शिलालेख में दिया गया है।

इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के अनुसार समन्तभद्र ने षट्खण्डागम के पहले पाँच खण्डों पर विस्तृत संस्कृत व्याख्या लिखी थी। जिनसेन के हरिवंशपुराण में उनके जीवसिद्धि नामक ग्रन्थ की प्रशंसा मिलती है। चामुण्डराय आदि अनेक लेखकों ने तत्त्वार्थ पर उनके भाष्य का उल्लेख किया है। ये तीनों रचनाएँ अभी प्राप्त नहीं हो सकी हैं। उग्रादित्य ने कल्याणकारक में उनके वैद्यकशास्त्र का उल्लेख किया है। यह भी प्राप्त नहीं है।

[समन्तभद्र के विभिन्न ग्रन्थों के लिए पं. मुख्तार द्वारा लिखी गयी प्रस्तावनाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।]

सिद्धसेन

समन्तभद्र द्वारा प्रवर्तित तर्कपूर्ण स्तुतियों की परम्परा में दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्धसेन की द्वात्रिंशिकाओं का है। इनकी संख्या इक्कीस है। इनकी भाषा भी साहित्यिक सुन्दरता और तर्क के प्रभावी प्रयोग से युक्त है। इनमें से पहली पाँच द्वात्रिंशिकाओं में वीरस्तुति है और इनकी स्वयम्भूस्तोत्र से विशेष समानता है। छठी द्वात्रिंशिका में परम्परावादी स्वपक्ष के आग्रही पण्डितों की आलोचना करते हुए नूतन तर्कपद्धति का

समर्थन है। सातवीं और आठवीं द्वात्रिंशिका में वादसभा के स्वरूप और विजय की पद्धति के विषय में मार्मिक विवेचन है। नौवीं द्वात्रिंशिका सम्भवतः सिद्धसेन के पूर्वाश्रम की कृति है क्योंकि इसमें उपनिषदों की भाषा-शैली में परमात्मा का स्वरूप वर्णित है। दसवीं द्वात्रिंशिका में मुक्तिमार्ग में साधु की प्रगति का संक्षिप्त वर्णन किया है। ग्यारहवीं द्वात्रिंशिका में भावपूर्ण अलंकृत भाषा में किसी राजा की प्रशंसा है। विद्वानों का अनुमान है कि इसमें वर्णित राजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य है। बारहवीं द्वात्रिंशिका में वाद में जय-पराजय के कारणों का वर्णन है। तेरहवीं द्वात्रिंशिका में सांख्य, चौदहवीं में वैशेषिक, पन्द्रहवीं में बौद्ध व सोलहवीं में नियतिवादी दर्शन के तत्त्ववर्णन की समीक्षा प्राप्त होती है। सत्रहवीं व अठारहवीं द्वात्रिंशिका में ज्ञान और चारित्र की साधना का संक्षिप्त वर्णन है। उन्नीसवीं द्वात्रिंशिका में जैन तत्त्वव्यवस्था में कुछ मौलिक संशोधन सुझाये हैं इसलिए इसके कर्ता यही सिद्धसेन थे इसमें सन्देह होता है। बीसवीं द्वात्रिंशिका में जीव के स्वरूप और मुक्तिमार्ग के विषय में दार्शनिक विचारों की समीक्षा है। इक्कीसवीं द्वात्रिंशिका में जिनस्तुति है। शैली बिलकुल भिन्न होने के कारण इसके कर्ता के विषय में भी सन्देह है।

समन्तभद्र की कथा से मिलती-जुलती कथा सिद्धसेन के विषय में भी प्राप्त होती है। प्रभावकचरित, प्रबन्धचिन्तामणि और प्रबन्धकोश में इस कथा के तीन रूप मिलते हैं। इनके अनुसार सिद्धसेन का जन्म दक्षिण के ब्राह्मण कुल में हुआ था। वृद्धवादी से वाद में पराजित होने पर ये उनके शिष्य हो गये। एक बार इन्होंने आगमों का संस्कृत अनुवाद करने की इच्छा प्रकट की। इसके फलस्वरूप इन्हें बारह वर्ष के लिए संघ से निष्कासित किया गया। तब वेश-परिवर्तन कर परिभ्रमण करते हुए वे उज्जयिनी पहुँचे। वहाँ के महाकाल-मन्दिर में राजा विक्रमादित्य ने उन्हें शिव को प्रणाम करने की आज्ञा दी। तब उन्होंने जो द्वात्रिंशिका पढ़ी उसके फलस्वरूप शिवलिंग से जिनमूर्ति प्रकट हुई। सिद्धसेन के इस प्रभाव से राजा चमत्कृत हुए और दोनों का सम्बन्ध घनिष्ठ हुआ। एक बार राजा ने उन्हें एक कोटि सुवर्ण,मुद्राएँ अर्पित कीं। आचार्य ने उन्हें मालव प्रदेश के लोगों को ऋणमुक्त करने में व्यय करने का आदेश दिया। आयु के अन्तिम समय में सिद्धसेन प्रतिष्ठान गये थे।

सन्मतिसूत्र और न्यायावतार ये दो ग्रन्थ भी सिद्धसेन के नाम से प्रसिद्ध हैं किन्तु इनके कर्ता द्वात्रिंशिकाओं के रचयिता ही हैं इस विषय में सन्देह है। फिर भी ये दोनों ग्रन्थ अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। सन्मति में १६७ प्राकृत गाथाओं में नयवाद का सुन्दर प्रतिपादन है। सांख्य और बौद्ध-जैसे परस्पर विरोधी विचारों में कितना सत्यांश है यह देखकर उनका समन्वय करने का सफल प्रयास सन्मति में किया गया है। जीव के गुणों और पर्यायों का इसका विवेचन भी महत्त्वपूर्ण है। न्यायावतार में ३२ संस्कृत श्लोकों में प्रमाणों का संक्षिप्त विवेचन है। जैन साहित्य में प्रमाण-विवेचन सर्व-प्रथम इसी ग्रन्थ में मिलता है। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन भेदों में इस

ग्रन्थ में प्रमाणों का विभाजन किया गया है। द्वात्रिंशिकाओं के बाद कुछ दशकों के अन्तर से इन दोनों ग्रन्थों की रचना हुई थी।

[सिद्धसेन-न्यायावतार एण्ड अदर वर्क्स की भूमिका में डॉ. उपाध्ये ने इस विषय के संशोधन का नवीनतम विवेचन प्रस्तुत किया है।]

जीवदेव

प्रभावकचरित और प्रबन्धकोष में विक्रमादित्य से सम्बन्धित सिद्धसेन की कथाएँ मिलती हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया है। इन दोनों ग्रन्थों में विक्रमादित्य के सम-कालीन के रूप में वर्णित जीवदेव की कथा का सार यहाँ दिया जा रहा है।

जीवदेव का जन्म गुजरात के वायट नगर में हुआ था। महापुरुष-लक्षणों के रूप में सामुद्रिक शास्त्र में वर्णित बत्तीस लक्षणों से वे युक्त थे। एक योगी ने उन्हें देखकर अपनी मन्त्रसाधना के लिए उनके सिर का अस्थिकपाल प्राप्त करना चाहा। वह जब प्रवचनस्थल पर पहुँचा तब आचार्य के एक शिष्य का व्याख्यान चल रहा था। योगी ने मन्त्रशक्ति से उसकी जिह्वा स्तम्भित कर दी। जीवदेव भी सिद्ध मन्त्रज्ञ थे। उन्होंने शिष्य की जिह्वा को तो मुक्त किया ही, उस योगी को अपने स्थान पर स्तम्भित कर दिया। बाद में जब उसने क्षमायाचना की तब उसे छोड़ दिया। साथ ही अपने शिष्यवर्ग को उससे दूर रहने का आदेश दिया। एक बार दो साध्वियाँ असावधानी से उस योगी के आश्रम के पास गयीं तो उसने मन्त्रशक्ति से उन्हें आकृष्ट कर अपने पास रखा। आचार्य को यह ज्ञात होते ही उन्होंने दर्भ से योगी की प्रतिकृति बनाकर उसका हाथ तोड़ा, फलस्वरूप आश्रम में बैठे योगी का हाथ टूट गया। दुबारा लज्जित होकर उसने आचार्य से क्षमा माँगी और साध्वियों को मुक्त कर दिया। एक बार वायट के ब्राह्मणों ने एक मरती हुई गाय जिनमन्दिर के द्वार पर छोड़ दी। दूसरे दिन मन्दिर द्वार में मरी गाय देखकर सब चिन्तित हुए। आचार्य ने मन्त्रशक्ति से उस गाय के शरीर को ब्राह्मणों के मन्दिर में पहुँचा दिया। उन्होंने क्षमा माँगी तब पुनः उस गाय को बाहर रास्ते पर छोड़ दिया।

विक्रमादित्य के मन्त्री निम्ब ने वायट के महावीर-मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया तथा जीवदेव के हाथों से उसकी प्रतिष्ठा करायी ऐसा भी इन कथाओं में वर्णित है। वायट के एक श्रेष्ठी लल्ल द्वारा पिप्पलानक ग्राम में मन्दिर-निर्माण का तथा आचार्य द्वारा उसकी प्रतिष्ठा का भी विस्तृत वर्णन इन कथाओं में है।

वट्टकेर

कुन्दकुन्द के समान वट्टकेर का नाम भी दक्षिण के किसी स्थान पर आधारित है। किन्तु इस स्थान के वर्तमान स्थान का निश्चय अभी नहीं हो पाया है। इनका मूलाचार मुनियों के आदर्श आचार-विचारों का वर्णन करनेवाला महत्त्वपूर्ण प्राकृत ग्रन्थ

है। बारह अंगों में से प्रथम आचार अंग का सार इसमें १२ अध्यायों में दिया गया है। व्रत, समिति, आवश्यक, अनुप्रेक्षा, समाधिमरण आदि का विस्तृत विवरण इसमें उपलब्ध होता है। वसुनन्दि की विस्तृत संस्कृत टीका के साथ यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।

सर्वनन्दि

प्राचीन भारत की विश्वस्वरूप सम्बन्धी मान्यताओं का वर्णन करनेवाला लोक-विभाग नामक प्राकृत ग्रन्थ सर्वनन्दि आचार्य ने लिखा था। इसकी रचना कांची के पल्लववंशीय राजा सिंहवर्मा के राज्य में सन् ४५८ में हुई थी। मद्रास के समीपवर्ती पाटलिग्राम (वर्तमान कुडुलोर) में लिखित यह मूलग्रन्थ उपलब्ध नहीं है—लगभग एक हजार वर्ष बाद सिंहसूर द्वारा किया गया उसका संस्कृत रूपान्तर प्रकाशित हो चुका है।

[पं. प्रेमी ने जैन साहित्य और इतिहास में इन दोनों आचार्यों के विषय में विस्तृत विवेचन किया है।]

देवर्धि

स्थूलभद्र, स्कन्दिल और नागार्जुन द्वारा आगमों के संकलन के लिए किये गये प्रयासों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। वीर संवत् ९८० (पाठान्तर के अनुसार ९९३) में इस प्रकार का अन्तिम प्रयत्न देवर्धि के नेतृत्व में वलभी[1] में आयोजित सम्मेलन में हुआ। इस समय आचार आदि अंग, प्रज्ञापना आदि उपांग, दशवैकालिक आदि मूलसूत्र तथा व्यवहार आदि छेदसूत्र इन आगमों का जो पाठ मिलता है वह देवर्धि द्वारा सम्पादित रूप में ही है। ज्ञान के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन करनेवाला नन्दीसूत्र नामक ग्रन्थ भी इन्हीं की रचना है जो कई संस्करणों में प्रकाशित हो चुका है। इसके प्रारम्भ में आगमों की परम्परा जिन वाचकाचार्यों के माध्यम से प्राप्त हुई उनकी प्रशंसात्मक गाथाएँ भी हैं जिनका पहले यथास्थान उल्लेख कर चुके हैं। ऊपर वर्णित नागार्जुन के बाद इस में गोविन्द, भूतदिन्न, लोहित्य और दूसगणी इन आचार्यों को वन्दन किया है। कल्पसूत्र में देवर्धि की प्रशंसा में एक गाथा है। इसके ऊपर उल्लिखित आचार्यों के बाद जम्बू, नन्दिय, देसिगणी, स्थिरगुप्त तथा कुमारधर्म इन आचार्यों के नाम हैं तथा अन्त में देवर्धि की स्तुति है।

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के अन्य आचार्यों में हरिवंशपुराण की गुरुपरम्परा में उल्लिखित नागहस्ती, नन्दिषेण, दीपसेन तथा धरसेन का समावेश होता है।

शिलालेखों से भी इस शताब्दी के कुछ आचार्यों का परिचय मिलता है। इनमें एक मध्यप्रदेश में विदिशा के निकट उदयगिरि पहाड़ी की गुहा में प्राप्त हुआ है। इसके

१. यह नगर उस समय सौराष्ट्र के मैत्रक वंशीय राजाओं की राजधानी था। वर्तमान भावनगर के समीप वळा नामक ग्राम के रूप में यह पहचाना गया है।

अनुसार आचार्य भद्र की परम्परा के गोशर्मा आचार्य के शिष्य शंकर ने सन् ४२६ में पार्श्वतीर्थंकर की प्रतिमा की स्थापना की थी। यह सुन्दर प्रतिमा अब भी उक्त गुहा में विद्यमान है। दूसरा लेख सन् ४३३ का है। यह मथुरा में प्राप्त जिनमूर्ति की स्थापना कोटिक गण की विद्याधरी शाखा के आचार्य दत्तिल के उपदेश से ग्रहमित्रपालित की पत्नी श्यामाढ्या ने की थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख ९१-९२]

कर्मप्रकृति और शतक नामक प्राकृत ग्रन्थों के रचयिता शिवशर्मा भी इसी शताब्दी के आचार्य माने जाते हैं। इन दो ग्रन्थों में जीवों के कर्मबन्ध का विवरण दिया गया है।

श्रीदत्त इस शताब्दी के प्रसिद्ध तपस्वी और वादी थे। इनका नाम पूज्यपाद के जैनेन्द्रव्याकरण में उल्लिखित है। जिनसेन के आदिपुराण में इनकी प्रशंसा में एक श्लोक है। विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के अनुसार इन्होंने ६३ वादियों को पराजित किया था। इनका ग्रन्थ जल्पनिर्णय अभी प्राप्त नहीं हुआ है।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की ग्यारहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ४७३ से ५७३]

यतिवृषभ

कषायप्राभृत के चूर्णिसूत्र के कर्ता के रूप में यतिवृषभ का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ती है। आठ हजार श्लोकों जितने विस्तृत इस प्राकृत ग्रन्थ में स्वर्ग, पृथ्वी और नरक इन तीनों लोकों के सम्बन्ध में प्राचीन मान्यताओं का विस्तृत वर्णन है। यह दो खण्डों में प्रकाशित हो चुका है। गणित के विषय में दो हजार श्लोकों में षट्करणस्वरूप यह ग्रन्थ भी यतिवृषभ ने लिखा था जो उपलब्ध नहीं है। तिलोयपण्णत्ती में वीर संवत् १००० तक के भारतीय राजवंशों का उल्लेख है—इसके कुछ ही वर्ष बाद इस गन्थ की रचना हुई होगी।

हरिषेण के कथाकोश में प्राप्त एक कथा के अनुसार यतिवृषभ श्रावस्ती नगर में राजा जयसेन को धर्मोपदेश देने गये थे। वहाँ किसी शत्रु द्वारा भेजे गये एक गुप्तचर ने यतिवृषभ के शिष्य का वेश धारण कर राजा की एकान्त में हत्या कर दी। तब जैन संघ को राजघात के कलंक से बचाने के लिए यतिवृषभ ने आत्मबलिदान किया था।

[तिलोयपण्णत्ती की प्रस्तावना में डॉ. हीरालाल जैन व डॉ. उपाध्ये ने ग्रन्थकर्ता व ग्रन्थ के बारे में विस्तृत विवेचन किया है। पं. प्रेमी का जैन साहित्य और इतिहास में संकलित निबन्ध भी महत्त्वपूर्ण है।]

शिवार्य

शीतीभूतं जगद् यस्य वाचाराध्य चतुष्टयम्।
मोक्षमार्गं स पायान्नः शिवकोटिमुनीश्वरः॥

—जिनसेन–महापुराण प्रारम्भ

आराधना नामक महत्त्वपूर्ण प्राकृत ग्रन्थ की रचना शिवार्य ने की थी। ये जिननन्दि, सर्वगुप्त और मित्रनन्दि के शिष्य थे। जिनसेन के उपर्युक्त श्लोक के अनुसार इनका नाम शिवकोटि इस रूप में भी प्रसिद्ध था।

आराधना—जिसे भगवती आराधना भी कहा जाता है—२१७० गाथाओं का ग्रन्थ है। समाधिमरण के विस्तृत विवेचन से इसका प्रारम्भ होता है। जैन मुनियों की आचारपद्धतियों का—जिनमें नग्नता, केशलोंच, अस्नान आदि अभी भी जैनेतर समाज

की दृष्टि में लोकविलक्षण प्रतीत होती हैं—भावपूर्ण समर्थन इस ग्रन्थ की विशेषता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार आराधनाओं का विस्तृत विवरण इसमें मिलता है। इस सम्बन्ध में अनेक पुरातन कथाओं के उल्लेख भी शिवार्य ने किये हैं। आगे चलकर आराधना की गाथाओं के दृष्टान्तों के रूप में अनेक कथाकोशों की रचना हुई। आराधना पर अपराजित, आशाधर तथा शिवजीलाल की संस्कृत टीकाएँ मिलती हैं। अमितगति ने इसका संस्कृत में रूपान्तर किया था।

शिवार्य ने संस्कृत में सिद्धिविनिश्चय नामक ग्रन्थ भी लिखा था ऐसा शाकटायन के व्याकरण से ज्ञात होता है, यह अभी प्राप्त नहीं हुआ है।

[पं. प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास में आराधना पर विस्तृत निबन्ध है।]

पूज्यपाद

श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धिः जीयाद् विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः।
यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥[1]

इनका मूल नाम देवनन्दि था। उत्कृष्ट बुद्धि के कारण जिनेन्द्रबुद्धि तथा लोकपूजित होने से पूज्यपाद ये उनके अन्य नाम प्रसिद्ध हुए।

पूज्यपाद ने जैन साहित्य में अनेक नये विषयों का प्रारम्भ किया। उनका जैनेन्द्र व्याकरण संस्कृत भाषा के व्याकरण के क्षेत्र में किसी जैन विद्वान् द्वारा किया गया पहला प्रयास है। छन्दों के विषय में उनकी कोई रचना थी जिसकी जयकीर्ति आदि छन्दःशास्त्रज्ञों ने चर्चा की है, यह अभी प्राप्त नहीं हुई है। इसी प्रकार उनके वैद्यकशास्त्र का उग्रादित्य आदि ने उल्लेख किया है, यह भी अप्राप्त है।

पूज्यपाद की प्रकाशित रचनाओं में तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि व्याख्या महत्त्वपूर्ण है। आगम, तर्क और व्याकरण सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण इसमें उपलब्ध होते हैं।

कुन्दकुन्द के अध्यात्म सम्बन्धी विचारों का संस्कृत में सरस रूपान्तर पूज्यपाद के इष्टोपदेश तथा समाधितन्त्र इन दो छोटे ग्रन्थों में प्राप्त होता है। आत्मचिन्तन के लिए इनका एक-एक पद्य अमूल्य निधि-जैसा है।

दशभक्ति में पूज्यपाद ने सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योगी, आचार्य, नन्दीश्वर, चैत्य, निर्वाणभूमि, शान्ति और समाधि की भावपूर्ण अलंकृत स्तुतियाँ लिखी हैं। मुनियों के नित्यपठन में इन्हें स्थान मिला है।

पाणिनीय तथा जैनेन्द्र व्याकरण के न्यास, नयों के विषय से सारसंग्रह नामक ग्रन्थ तथा जिनाभिषेकपाठ ये पूज्यपाद की अन्य रचनाएँ अप्राप्त हैं।

ज्ञानसागर की तीर्थवन्दना के अनुसार पूज्यपाद का नेत्ररोग पाली नगर में

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, पृ. २११—यह श्लोक सन् १४३३ के लेख में है, यह लेख श्रवणबेलगोल के विन्ध्यगिरि पर्वत पर स्थित सिद्धरबसति के एक स्तम्भ पर है।

शान्तिनाथस्तुति की रचना से शान्त हुआ था। यह शान्त्यष्टक स्तुति कई स्तुतिसंग्रहों में प्रकाशित हुई है। इन्हीं के दानवर्णन में कहा गया है कि पूज्यपाद ने बारह वर्ष तक एकान्त उपवास की तपस्या की थी।

शीर्षकनिर्दिष्ट श्लोक के अनुसार पूज्यपाद को औषध ऋद्धि प्राप्त थी, उन्होंने विदेह के तीर्थंकर का दर्शन किया था तथा उनके चरणजल से लोहे का स्वर्ण में रूपान्तर हुआ था।

प्रसिद्ध है कि गंग वंश के राजा दुर्विनीत पूज्यपाद के शिष्य थे। उनके दूसरे शिष्य वज्रनन्दि ने मदुरा में द्राविड संघ की स्थापना की थी। दक्षिण भारत में सामाजिक गतिविधियों के केन्द्रों के रूप में मन्दिरों का विकास हुआ था। मन्दिरों को काफ़ी सम्पत्ति दान दी जाती थी। इसकी व्यवस्था के लिए साधुओं को खेती आदि की देखरेख करना आवश्यक हो गया था। सम्भवतः इसी कारण वज्रनन्दि को द्राविड संघ के रूप में जैन साधुसंघ में एक नया उपक्रम प्रारम्भ करना पड़ा। इस संघ के अनेक प्रभावी आचार्यों का आगे यथास्थान उल्लेख होगा। एक विद्वान् ग्रन्थकर्ता के रूप में वज्रनन्दि का सादर स्मरण जिनसेन के हरिवंशपुराण में प्राप्त होता है। श्रवणबेलगोल के एक शिलालेख में इनकी कृति का नाम नवस्तोत्र बताया गया। यह अभी अप्राप्त है।

[समाधितन्त्र की प्रस्तावना में पं. मुख्तार ने पूज्यपाद का विस्तृत परिचय दिया है। जैन साहित्य और इतिहास में पं. प्रेमी का निबन्ध भी महत्त्वपूर्ण है।]

पात्रकेसरी

महिमा स पात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्।
पद्मावती सहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम् ॥[1]

समन्तभद्र की आप्तमीमांसा के पठन से प्रभावित होकर पात्रकेसरी ने जैन धर्म स्वीकार किया। कथा के अनुसार वे अहिच्छत्र नगर के राजपुरोहित थे। इनका जिनेन्द्र-गुणसंस्तुति नामक स्तोत्र समन्तभद्र की रचनाओं के समान ही तर्कदृष्टि से लिखा गया है। तर्कशास्त्र में किसी पक्ष की सिद्धि करने में हेतु का बड़ा महत्त्व होता है। हेतु का बौद्ध आचार्यों ने जो लक्षण बतलाया था उसका खण्डन करने के लिए पात्रकेसरी ने त्रिलक्षणकदर्थन नामक ग्रन्थ लिखा था। यह उपलब्ध नहीं है। शीर्षक निर्दिष्ट श्लोक के अनुसार इस ग्रन्थ का आधारभूत सूत्र पद्मावती देवी की कृपा से प्राप्त हुआ था। उग्रादित्य के कल्याणकारक में पात्रकेसरी रचित शल्यतन्त्र (शस्त्रक्रिया सम्बन्धी ग्रन्थ) का उल्लेख है। यह भी अभी नहीं मिला है।

[प्रभाचन्द्र के कथाकोश में पात्रकेसरी की कथा है, श्रवणबेलगोल तथा हुम्मच के कई शिलालेखों में इनकी प्रशंसा मिलती है।]

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, पृ. १०३—यह श्लोक श्रवणबेलगोल के सन् ११२८ के मल्लिषेणप्रशस्ति नामक लेख में है।

भद्रबाहु (द्वितीय)

आगमों के संकलन के साथ ही उनके अध्ययन के लिए सहायक ग्रन्थों का निर्माण भी प्रारम्भ हुआ। इनमें भद्रबाहु की निर्युक्तियों का स्थान पहला है। आचार और सूत्र-कृत ये अंग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और आवश्यक ये मूलसूत्र, व्यवहार, बृहत् कल्प और दशाश्रुतस्कन्ध ये छेद सूत्र, सूर्यप्रज्ञप्ति उपांग तथा संसक्त और ऋषिभाषित ये प्रकीर्ण इन ११ ग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ लिखी गयी थीं। इन ग्रन्थों के विभिन्न प्रकरणों का परस्पर सम्बन्ध, पूर्व-ग्रन्थों से सम्बन्ध, कठिन प्रकरणों का अर्थ समझने के लिए उपयोगी सूचनाएँ, दृष्टान्त रूप में कथाओं के संकेत आदि समझने के लिए ये गाथाएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं।

टीकाकारों के परम्परागत वर्णनों में तो निर्युक्ति-कर्ता को श्रुतकेवली भद्रबाहु ही कहा है किन्तु आधुनिक विद्वान् इनमें भेद करते हैं। कथाओं में भद्रबाहु को प्रतिष्ठान नगर में प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर—जिनकी ग्रन्थरचना सन् ५०५ के आसपास की है—के बन्धु के रूप में बताया है। पर्युषण में पढ़े जानेवाले भद्रबाहु कृत कल्पसूत्र में देवर्धि गणी की प्रशंसा है। इससे भी आगम संकलन के समय ही इन भद्रबाहु का कार्य-काल मालूम होता है। कल्पसूत्र में तीर्थंकरों के जीवन सम्बन्धी संक्षिप्त वर्णन, महावीर से देवर्धि तक की परम्परा तथा साधुओं के आचरणसम्बन्धी संक्षिप्त नियम ये तीन भाग हैं। यह ग्रन्थ काफ़ी लोकप्रिय रहा है। पार्श्वतीर्थंकर की प्रशंसा में ५ गाथाओं का उपसर्गहर स्तोत्र भी इन्हीं भद्रबाहु ने लिखा है। कहा गया है कि वराहमिहिर मृत्यु के बाद व्यन्तर देव होकर जैन श्रावकों को कष्ट पहुँचाने लगा तब उसके उपद्रव से रक्षा के लिए इस स्तोत्र की रचना हुई थी। भद्रबाहुसंहिता नामक एक ज्योतिषग्रन्थ संस्कृत में है। प्राकृत में भी भद्रबाहु के नाम से कोई ग्रन्थ इसी विषय पर था। वसुदेवचरित या हरिवंश की रचना का श्रेय भी भद्रबाहु को दिया गया है। यह उपलब्ध नहीं है।

[आत्मानन्द जन्मशताब्दी स्मारक ग्रन्थ में मुनि चतुरविजय का भद्रबाहु पर विस्तृत लेख छपा है। कथाएँ प्रबन्धकोष, प्रबन्धचिन्तामणि आदि में प्राप्त होती हैं।]

मल्लवादी

सिद्धसेन के समान मल्लवादी तर्कशास्त्र के प्रमुख ज्ञाता के रूप में प्रसिद्ध हुए थे। प्रभावकचरित, प्रबन्धकोश तथा प्रबन्धचिन्तामणि में इनकी जीवनकथा वर्णित है। इसके अनुसार इनका जन्म गुजरात की राजधानी वलभी में हुआ था। उस समय इनके मामा आचार्य जिनानन्द वाद-विवाद में एक बौद्ध आचार्य से पराजित हुए थे। इसके फलस्वरूप राजा शिलादित्य ने जैन मुनियों को निर्वासित कर दिया तथा शत्रुंजय के प्रसिद्ध तीर्थ को भी बौद्धों के अधिकार में दे दिया। बालक अवस्था में ही जैन संघ की यह दुरवस्था देखकर मल्लवादी क्षुब्ध हुए और दृढ़ निश्चय से अध्ययन में संलग्न हुए। शीघ्र ही उन्होंने तर्कशास्त्र में अद्भुत निपुणता प्राप्त की और बौद्ध आचार्यों को राजा

शिलादित्य की सभा में पराजित कर खोया हुआ गौरव पुनः प्राप्त किया। मल्लवादी का द्वादशार नयचक्र नामक ग्रन्थ किसी समय बहुत प्रसिद्ध था, अब यह मूल रूप में नहीं मिलता किन्तु सिंहसूरि द्वारा उसपर लिखी गयी टीका प्रकाशित हो गयी है। सन्मतिसूत्र की टीका तथा पद्मचरित ये उनके अन्य ग्रन्थ भी अप्राप्त हैं। मल्लवादी के बन्धु अजितयश ने भी तर्कशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा था, यह भी अभी नहीं मिला है।

संघदास और धर्मसेन

प्राकृत कथा साहित्य में वसुदेवहिण्डी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी रचना संघदास और धर्मसेन आचार्यों ने की थी। सौ अध्यायों के इस ग्रन्थ का विस्तार २८ हजार श्लोकों जितना है। यह अधिकतर गद्य में है। श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव की साहस और रोमांचकारी प्रसंगों से परिपूर्ण यात्राओं का और विवाहों का वर्णन इसका प्रमुख विषय है। प्रसंगोपात्त आख्यानों में ऋषभदेव, शान्तिनाथ, जम्बूस्वामी, त्रिपृष्ठ आदि अनेक जैन पुराणपुरुषों की कथाएँ विस्तार से बतायी हैं। प्राकृत में गुणाढ्य की बृहत्कथा एक प्रसिद्ध ग्रन्थ था जो अब नहीं मिलता। इसके संस्कृत संक्षेपों से मालूम होता है कि संघदास और धर्मसेन ने गुणाढ्य की प्रेमकथाओं को धर्मकथा के अंगों के रूप में कुशलता से संयोजित किया है। प्राकृत गद्य के साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से यह रचना पठनीय है।

[मुनि चतुरविजय द्वारा सम्पादित इस ग्रन्थ का पूर्वार्ध प्रकाशित हुआ है।]

वीरदेव, विजयकीर्ति और चन्द्रनन्दि

मैसूर प्रदेश के मालूर तालुके में स्थित नोणमंगल ग्राम से प्राप्त दो ताम्रपत्रों से इस प्रदेश के तीन प्राचीन आचार्यों का परिचय मिलता है। गंगवंश के महाराज माधववर्मा (द्वितीय) ने अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में पेब्बोलल ग्राम के मूलसंघ के जिनमन्दिर के लिए कुमारपुर ग्राम और कुछ भूमि का दान दिया था ऐसा प्रथम ताम्रपत्र में वर्णन है। यह दान आचार्य वीरदेव के उपदेश से दिया गया था। लेख के वर्णनानुसार ये आचार्य अपने (जैन) और दूसरों के (जैनेतर) सिद्धान्तों के ज्ञाता थे तथा श्री वीरशासनरूपी आकाश को प्रकाशित करनेवाले सूर्य के समान थे। दूसरे ताम्रपत्र के अनुसार माधववर्मा के पुत्र महाराज कोंगुणिवर्मा अविनीत ने अपने राज्य के पहले वर्ष में उरनूर ग्राम के मूलसंघ के जिनमन्दिर के लिए वेन्नैलकरनि ग्राम दान दिया था। इस दान की प्रेरणा महाराज के उपाध्याय विजयकीर्ति ने दी थी—लेख के अनुसार इनकी कीर्ति सभी दिशाओं में फैली थी। इस समय मूलसंघ में चन्द्रनन्दि आचार्य प्रमुख थे यह भी लेख से ज्ञात होता है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख ९० और ९४]

कुमारदत्त आदि आचार्य

मैसूर प्रदेश के बेलगाँव जिले में स्थित हलसी ग्राम पुरातन समय में पलाशिका नगर के नाम से प्रसिद्ध था तथा कदम्ब वंश के राजाओं का एक प्रमुख स्थान था। यहाँ से प्राप्त सात ताम्रपत्रों से कदम्ब राजाओं द्वारा जिनमन्दिरों को दिये गये दानों का विवरण मिलता है। इनमें से तीन ताम्रपत्रों में पाँच आचार्यों के नाम मिलते हैं, शेष ताम्रपत्रों में सामान्य रूप से मुनिसंघों का उल्लेख है। प्रथम ताम्रपत्र के लेख के अनुसार राजा रविवर्मा के प्रसाद से प्रतीहार जयकीर्ति ने अष्टाह्निका महापर्व में जिनपूजा के लिए पुरुखेटक ग्राम दान दिया था। जयकीर्ति के कुल की प्रतिष्ठा का श्रेय निमित्तज्ञान में पारंगत आचार्य बन्धुषेण को दिया गया है। इसी लेख में यापनीय संघ के प्रमुख आचार्य कुमारदत्त का वर्णन है—वे परिश्रमपूर्वक अनेक शास्त्रों का अध्ययन करते थे तथा उत्तम तपस्यारूपी धन से सम्पन्न थे। दूसरे लेख में राजा हरिवर्मा ने सेनापति सिंह के पुत्र मृगेश द्वारा निर्मित जिनमन्दिर को वसन्तवाटक ग्राम दान दिया ऐसा वर्णन है। यह दान कूर्चक संघ के प्रमुख चन्द्रक्षान्त आचार्य को दिया था। इस संघ के पूर्वाचार्य के रूप में वारिषेण का नाम भी उल्लिखित है। तीसरे लेख में राजा हरिवर्मा ने अहरिष्टि संघ के जिनमन्दिर को मरदे ग्राम दान दिया ऐसा वर्णन है। इस मन्दिर के अधिष्ठाता आचार्य का नाम धर्मनन्दि बताया है। कदम्ब राजाओं के तीन दानलेख धारवाड़ जिले के देवगिरि नामक ग्राम से भी प्राप्त हुए हैं, इनमें मुनिसंघों का सामान्य उल्लेख है, किसी विशिष्ट आचार्य का नामोल्लेख नहीं है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १००, १०३, १०४]

जिननन्दि

महाराष्ट्र में कोल्हापुर के समीप अलते ग्राम से प्राप्त एक ताम्रपत्र से जिननन्दि का परिचय प्राप्त हुआ है। ये कनकोपलसंभूतवृक्षमूल गण के आचार्य थे। लेख में इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतायी है—समस्त सिद्धान्त के ज्ञाता सिद्धनन्दि के शिष्य चितकाचार्य हुए जिन्हें देव भी प्रणाम करते थे, उनके पाँच सौ शिष्यों में प्रमुख नागदेव हुए तथा नागदेव के शिष्य जिननन्दि हुए। ये अनेक राजाओं द्वारा सम्मानित महान् तपस्वी और शास्त्रों के ज्ञाता थे। चालुक्य वंश के महाराज पुलकेशी (प्रथम) ने इन्हें त्रिभुवनतिलक जिनमन्दिर के लिए भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १०६]

गुहनन्दि

बंगाल में राजशाही जिले के पहाड़पुर से प्राप्त ताम्रपत्र से इस प्रदेश के एक पुरातन जैन मठ का परिचय मिलता है। वटगोहाली ग्राम (वर्तमान गोआलभिटा)

में स्थित यह मठ काशी के पंचस्तूपनिकाय के आचार्य गुहनन्दि के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा संचालित था। ब्राह्मण नाथशर्मा ने सन् ४७९ में इस मठ को कुछ भूमि दान दी थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख १९]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के अन्य आचार्यों में हरिवंशपुराण की गुरुपरम्परा में उल्लिखित धर्मसेन, सिंहसेन, नन्दिषेण और ईश्वरसेन का समावेश होता है।

उद्द्योतन की कुवलयमाला कथा की प्रशस्ति से भी इस शताब्दी के कुछ आचार्यों का परिचय मिलता है। इसमें कहा गया है कि चन्द्रभागा नदी (वर्तमान चिनाब) के तीर पर पव्वइया नगर में राजा तोरमाण ने गुप्तवंशीय जैन आचार्य हरिगुप्त का उपदेश सुना था। हरिगुप्त के शिष्य देवगुप्त का त्रिपुरुषचरित्र नामक ग्रन्थ उद्द्योतन के समय प्रसिद्ध था। यह अभी प्राप्त नहीं हुआ है।

पंचसंग्रह नामक प्राकृत ग्रन्थ के रचयिता चन्द्रर्षि भी इस शताब्दी के माने जाते हैं। इस ग्रन्थ में जीवों के कर्मबन्ध का विवरण दिया गया है।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की बारहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ५७३ से ६७३]

मानतुंग

इनका भक्तामरस्तोत्र समग्र जैन समाज में बहुत लोकप्रिय रहा है। उत्कट भक्ति और अलंकारों से विभूषित साहित्यिक संस्कृत भाषा का सुन्दर समन्वय इस स्तोत्र में मिलता है। प्राकृत में इनका भयहरस्तोत्र भी सुप्रसिद्ध है। भक्तामरस्तोत्र की टीकाओं में तथा प्रभावकचरित आदि की कथाओं में मानतुंग को कवि बाण और मयूर का समकालीन माना है। कथा है कि मयूर का कुष्ठरोग सूर्यशतक के प्रभाव से दूर हुआ तथा बाण के कटे हुए हाथ-पैर चण्डीशतक के प्रभाव से ठीक हो गये। राजा हर्ष ने ऐसा ही कोई चमत्कार जैन आचार्य से भी देखने की इच्छा प्रकट की तब मानतुंग को कारागृह में बन्द किया गया जहाँ भक्तामरस्तोत्र की रचना के प्रभाव से वे बन्धनमुक्त हो गये।

[प्रबन्धचिन्तामणि में हर्ष के स्थान पर भोज राजा का नाम मिलता है]

जिनभद्र

आगमों के व्याख्याकारों में भद्रबाहु के बाद जिनभद्र का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनका विशेषावश्यक भाष्य सन् ६०६ में पूर्ण हुआ था। आवश्यकसूत्र की इस व्याख्या में लगभग ३६०० गाथाएँ हैं। ज्ञान, नय, निक्षेप, परमेष्ठी, गणधर आदि का विस्तृत विवेचन इसमें प्राप्त होता है। इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जीतकल्प (सूत्र और भाष्य) है जिसमें मुनियों के प्रायश्चित्त सम्बन्धी नियमों का वर्णन है। बृहत् संग्रहणी और बृहत् क्षेत्रसमास इन ग्रन्थों में जिनभद्र ने चार गतियों और तीन लोकों के विषय में प्राचीन मान्यताओं का विस्तृत वर्णन किया है। विशेषणवती इनकी एक और रचना है।

[डॉ. जगदीशचन्द्र जैन के प्राकृत साहित्य का इतिहास के विभिन्न प्रकरणों से संकलित।]

प्रभाचन्द्र और रविकीर्ति

मैसूर प्रदेश के धारवाड़ ज़िले में आडूर ग्राम से प्राप्त एक शिलालेख से परलूरगण के आचार्य प्रभाचन्द्र का परिचय मिलता है। ये विनयनन्दि के शिष्य वासुदेव के शिष्य

थे। इन्हें चालुक्य वंश के महाराज कीर्तिवर्मा (प्रथम) के राज्यकाल में दोण, एक आदि ग्रामपतियों ने एक जिनमन्दिर के लिए भूमिदान दिया था। इस लेख की स्थापना धर्मगामुण्ड के पुत्र श्रीपाल ने की थी जो प्रभाचन्द्र का शिष्य था।

इसी प्रदेश के विजापूर ज़िले में ऐहोले ग्राम में एक भव्य जिनमन्दिर से एक विस्तृत शिलालेख प्राप्त हुआ है। कीर्तिवर्मा के पुत्र पुलकेशी (द्वितीय) के दिग्विजय का सुन्दर वर्णन इस लेख में प्राप्त होता है। इस राजा के प्रसाद से इस मन्दिर का निर्माण रविकीर्ति ने सन् ६३४ में करवाया था। उत्तम कविता के कारण वे कालिदास और भारवि के समकक्ष माने जाते थे ऐसा लेख के अन्त में कहा गया है। इस प्रकार इन दोनों महाकवियों के समयनिर्णय का एक महत्त्वपूर्ण आधार इस लेख में प्राप्त होता है। मैसूर प्रदेश के उपलब्ध जिनमन्दिरों में ऐहोले का यह मन्दिर सबसे प्राचीन समझा जाता है। इसी समय के लगभग चालुक्यों की राजधानी वातापि (वर्तमान बदामी) में उत्कीर्ण गुहाओं में भी कुछ सुन्दर जिनमूर्तियाँ प्राप्त होती हैं।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १०७-१०८]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के अन्य आचार्यों में हरिवंशपुराण की गुरुपरम्परा में उल्लिखित नन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन और भीमसेन का समावेश होता है।

उद्द्योतन की कुवलयमाला कथा की प्रशस्ति में उल्लिखित देवगुप्त के शिष्य शिवचन्द्र और उनके शिष्य यक्षदत्त इस शताब्दी में हुए थे। शिवचन्द्र के विषय में कहा गया है कि वे जिनदर्शन के लिए भिल्लमाल नगर में रहे थे। अब यह नगर भिनमाल नामक छोटा गाँव है। राजस्थान में स्थित इस नगर को उस समय राजधानी का गौरव प्राप्त हुआ था।

विशेषावश्यक टीका के कर्ता कोट्याचार्य तथा उपदेशमाला के कर्ता धर्मदास भी इसी शताब्दी के माने जाते हैं। उपदेशमाला पर अनेक टीकाएँ प्राप्त हुई हैं जिनमें कथाओं द्वारा धर्मोपदेश दिया गया है।

श्रवणबेलगोल के शिलालेख में लिपि के स्वरूप को देखकर सन् ६५० के आस-पास के माने गये कुछ लेख हैं। इनमें बलदेव, शान्तिसेन और अरिष्टनेमि इन आचार्यों के समाधिमरण का उल्लेख है। शान्तिसेन के विषय में कहा गया है कि भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त द्वारा समृद्धि को प्राप्त हुए जिनधर्म का तेज क्षीण होने पर शान्तिसेन के प्रभाव से उसका पुनरुत्थान हुआ। अरिष्टनेमि के विषय में कहा गया है कि इनके अनेक शिष्य थे तथा इनके समाधिमरण के समय दिण्डिकराज उपस्थित थे। जैन शिलालेख संग्रह भाग १ में ये लेख सम्पादित हुए हैं।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की तेरहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ६७३ से ७७३]

जटासिंहनन्दि

जैन आचार्यों द्वारा संस्कृत में लिखित ललित साहित्य में जटासिंहनन्दि के वरांगचरित का स्थान प्रथम और उत्तम है। उद्द्योतन, दोनों जिनसेन, धवल, चामुण्डराय आदि समर्थ कवियों ने उनकी प्रशंसा की है। वरांग एक वीर राजकुमार था जिसे सौतेली माँ और विश्वासघाती मन्त्री के षड्यन्त्रों से निर्वासित होना पड़ा, उसने अपनी वीरता और साहस से प्रतिकूल स्थिति पर विजय पायी और एक नये राज्य की स्थापना की। अन्त में तीर्थंकर नेमिनाथ के गणधर वरदत्त से दीक्षा लेकर उसने तपस्या की और निर्वाण प्राप्त किया। विविध रसों के परिपोष सहित इस कथा के माध्यम से आचार्य ने जैनधर्म के सिद्धान्तों का सुन्दर वर्णन किया है। बौद्ध साहित्य में अश्वघोष की कृतियों का जो महत्त्व है वही जैन साहित्य में जटासिंहनन्दि की इस कृति का है।

मैसूर प्रदेश के रायचूर जिले में स्थित कोप्पल नगर पुरातन समय में कोप्पल कहलाता था तथा एक पवित्र तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध था। इसके समीप की पहाड़ी पर आचार्य जटासिंहनन्दि के चरणचिह्न हैं जिन्हें चावय्य नामक श्रावक ने उत्कीर्ण कराया था, सम्भवतः यही उनके समाधिमरण का स्थान है। इनकी प्रशंसा जटिल या जटाचार्य इस संक्षिप्त नाम से भी की गयी है।

[डॉ. आ. ने. उपाध्ये द्वारा सम्पादित वरांगचरित माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसकी प्रस्तावना में सम्पादक ने लेखक और कृति से सम्बद्ध विषयों का विस्तृत विवेचन किया है।]

रविषेण

इनका पद्मचरित पद्मपुराण के नाम से प्रसिद्ध है। इसका हिन्दी अनुवादों के माध्यम से काफ़ी प्रचार रहा है। १२३ अध्यायों के और लगभग १८ हजार श्लोकों के इस ग्रन्थ की समाप्ति वीर संवत् १२०३ = सन् ६७६ में हुई थी। ग्रन्थकर्ता ने अपनी परम्परा के चार पूर्वाचार्यों के नाम बताये हैं—इन्द्रगुरु–दिवाकरयति–अर्हन्मुनि–लक्ष्मणसेन (ग्रन्थकर्ता के गुरु)। विमल के प्राकृत पद्मचरित का संस्कृत-भाषी विद्वानों के लिए किया गया पल्लवित रूपान्तर होने पर भी काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ

पठनीय है। इसीलिए उद्योतन ने कुवलयमाला में तथा जिनसेन ने हरिवंशपुराण में रविषेण का सादर स्मरण किया है। स्वयम्भूदेव का अपभ्रंश पउमचरिउ रविषेण के ही ग्रन्थ पर आधारित है।

[पं. प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास में रविषेण पर एक निबन्ध है।]

जिनदास

निर्युक्ति और भाष्यों के बाद आगमों के अध्ययन में सहायक ग्रन्थों में जिनदास की चूर्णियों का स्थान महत्त्वपूर्ण है। आचारांग, सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, निशीथ, दशाश्रुतस्कन्ध, नन्दी और अनुयोगद्वार इन ग्यारह ग्रन्थों पर चूर्णियाँ प्राप्त हैं। इनमें से निशीथसूत्र की चूर्णि सन् ६७६ में पूर्ण हुई थी तथा विस्तार में सबसे बड़ी है। प्राचीन प्राकृत शब्दों के स्पष्टीकरण के साथ ही इन चूर्णियों में कई मनोरंजक, उपदेशात्मक और ऐतिहासिक कथाएँ भी मिलती हैं इसलिए साहित्यिक दृष्टि से भी इनका विशेष महत्त्व है।

[डॉ. जगदीशचन्द्र जैन के प्राकृत साहित्य का इतिहास से संकलित।]

उदयदेव आदि आचार्य

मैसूर प्रदेश के धारवाड़ जिले में लक्ष्मेश्वर नगर है। इसका पुरातन समय में पुरिकर, पुलिगेरे या हुलिगेरे यह नाम था। यहाँ नेमिनाथ का एक भव्य मन्दिर है जिसे शंखजिनेन्द्र मन्दिर या शंखतीर्थवसति कहा जाता था। यहाँ ८७ पंक्तियों का एक विस्तृत शिलालेख है। इससे ज्ञात होता है कि मूलसंघ के अन्तर्गत देवगण के आचार्य इस तीर्थ की देखभाल करते थे। बदामी के चालुक्य वंश के महाराज विनयादित्य ने सन् ६८६ में इस गण के एक आचार्य (जिनका नाम अस्पष्ट है) को कुछ दान दिया था। इनके पुत्र महाराज विजयादित्य ने सन् ७२९ में पण्डित उदयदेव को कर्दम नामक गाँव दान दिया था। उदयदेव पूज्यपाद के शिष्य थे तथा महाराज विनयादित्य के उपाध्याय रहे थे। विजयादित्य के पुत्र विक्रमादित्य (द्वितीय) ने सन् ७३४ में मन्दिर के एक भाग धवलजिनालय का जीर्णोद्धार कराया था तथा आगामी समय में जीर्णोद्धार कराने के लिए ५० निवर्तन भूमि पण्डित विजयदेव को अर्पित की थी। विजयदेव तथा उनके गुरु जयदेव ने अनेक वादों में विजय प्राप्त किया था तथा जयदेव के गुरु रामदेव उत्तम तपस्या एवं विद्वत्ता के कारण प्रसिद्ध हुए थे यह भी इस शिलालेख से ज्ञात होता है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १११, ११३, ११४]

आर्यनन्दि आदि आचार्य

तमिलनाडु में जैन आचार्यों के विहार का उल्लेख भद्रबाहु के शिष्य विशाखाचार्य तथा धरसेन के शिष्य भूतबलि की जीवनकथा में आ चुका है। इस प्रदेश की प्राचीन

तमिल भाषा में कुरल, नालदियार आदि महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थ भी मिलते हैं। इनके कर्ता और समय आदि के विषय में पर्याप्त सामग्री प्राप्त न होने से ऊपर इनका विवरण नहीं दिया जा सका। तमिल प्रदेश में जैन समाज की इस महत्त्वपूर्ण स्थिति को सन् ६०० के आसपास शिवभक्ति आन्दोलन से बड़ा आघात पहुँचा। उस समय अनेक जैन मुनियों को विरोधी साम्प्रदायिक गतिविधियों के कारण आत्मबलिदान करना पड़ा जिसके दृश्य मदुरा के मीनाक्षी मन्दिर में अभी भी दिखाये जाते हैं। इस दुरवस्था के समय में जैन समाज के पुन: संगठन में जिन आचार्यों ने भाग लिया उनमें आर्यनन्दि प्रमुख थे। मदुरा के समीपवर्ती आनैमलै, अलगरमलै, उत्तमपालैयम्, कीलक्कुडि, कोंगरपुलियंगुलम् आदि अनेक स्थानों की पहाड़ियों में उत्कीर्ण जिनमूर्तियों के शिलालेखों में आर्यनन्दि का नाम मिलता है। इनमें तिथि का उल्लेख नहीं है फिर भी अक्षरों की बनावट से विशेषज्ञों ने इनका समय सन् ७०० के आसपास निश्चित किया है। कीलक्कुडि के लेख में आर्यनन्दि की माता का नाम गुणमति बताया है। यहाँ गुणसेन-वर्धमान-गुणसेन (द्वितीय) तथा कनकनन्दि-अभिनन्दन-अभिमण्डल-अभिनन्दन (द्वितीय) इन दो आचार्यपरम्पराओं के उल्लेख भी हैं। मुत्तुप्पट्टि ग्राम के लेख में अष्टोप-वासी-गुणसेन-कनकवीर यह परम्परा उल्लिखित है। यहीं के एक अन्य लेख में अष्टोप-वासी गुरु के शिष्य माघनन्दि का नाम मिलता है।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया में डॉ. देसाई ने इन लेखों का विस्तृत परिचय दिया है।]

अकलंकदेव

जैन तर्कशास्त्र के परिपक्व रूप का दर्शन अकलंकदेव के ग्रन्थों में होता है। बौद्ध पण्डितों के आक्षेपों का समुचित विस्तृत उत्तर उन्हीं के ग्रन्थों में मिलता है। इनके जीवन के विषय में प्रभाचन्द्र के कथाकोश में कुछ वर्णन है तथा श्रवणबेलगोल के मल्लिषेणप्रशस्ति शिलालेख में भी इस विषय के कुछ श्लोक हैं। कथानुसार अकलंकदेव राजा शुभतुंग (राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराज प्रथम) के मन्त्री पुरुषोत्तम के पुत्र थे। बाल वय में ही अपने भाई निष्कलंक के साथ इन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया। प्रारम्भिक अध्ययन पूर्ण होने पर बौद्ध तर्कशास्त्र के विशिष्ट अभ्यास के लिए ये गुप्त रूप से एक बौद्ध मठ में रहने लगे। वहाँ इनके जैन होने का पता लगने पर अकलंक तो किसी प्रकार बच निकले किन्तु निष्कलंक उस मठ के समर्थक सैनिकों द्वारा मारे गये। बाद में आचार्य पद प्राप्त होने पर अकलंक ने कलिंगनरेश हिमशीतल की सभा में बौद्धों से वादविवाद किया। कहा गया है कि विरोधी पक्ष के पण्डित एक घड़े में तारादेवी की स्थापना करते थे और उसकी कृपा से वाद में अजेय होते थे। अकलंकदेव ने शासनदेवता की कृपा प्राप्त कर वह घड़ा फोड़ दिया और वाद में विजय प्राप्त किया।

अकलंक की कृतियों में तत्त्वार्थसूत्र की टीका तत्त्वार्थवार्तिक—जिसे राजवार्तिक

भी कहा जाता है—सबसे विस्तृत है। लगभग १६ हजार श्लोकों जितना इसका विस्तार है। इसके प्रथम और चतुर्थ अध्याय विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—इनमें मोक्ष और जीवस्वरूप सम्बन्धी विभिन्न विचारों का परीक्षण प्राप्त होता है। अष्टशती समन्तभद्र कृत आप्त-मीमांसा की व्याख्या है—नाम के अनुसार इसका विस्तार आठ सौ श्लोकों जितना है। लघीयस्त्रय में प्रमाण, नय और प्रवचन ये तीन प्रकरण हैं। न्यायविनिश्चय में भी तीन प्रकरण हैं, इनमें प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों का विवेचन है। प्रमाणसंग्रह में ९ प्रकरण हैं, इनमें प्रमाण सम्बन्धी विभिन्न विषयों की चर्चा है। सिद्धि-विनिश्चय में १२ प्रकरण हैं, इनमें प्रमाण, नय, जीव, सर्वज्ञ आदि विषयों का विवेचन हैं। इन चार ग्रन्थों में मूल श्लोकों के साथ गद्य स्पष्टीकरणात्मक अंश भी अकलंकदेव ने जोड़ा है।

जैन पण्डितों में अकलंक के ग्रन्थों का बड़ा आदर हुआ। अष्टशती पर विद्यानन्द ने, लघीयस्त्रय पर अभयचन्द्र और प्रभाचन्द्र ने, न्यायविनिश्चय पर वादिराज ने तथा प्रमाणसंग्रह और सिद्धिविनिश्चय पर अनन्तवीर्य ने विस्तृत व्याख्याएँ लिखी हैं। माणिक्य-नन्दि का परीक्षामुख अकलंकदेव के ही विचारों का सूत्रबद्ध रूप प्रस्तुत करता है।

[आधुनिक समय में पं. महेन्द्रकुमार द्वारा अकलंक के ग्रन्थों के लिए लिखी गयी प्रस्तावनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं, इनमें सिद्धिविनिश्चय की प्रस्तावना विशेष विस्तृत है।]

हरिभद्र

इनका जन्म चित्तौड़ के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। कुलक्रमागत वेदादि ग्रन्थों का अध्ययन पूर्ण होने पर ज्ञान के गर्व से इन्होंने प्रतिज्ञा की कि जिसका वचन मैं न समझ सकूं उसका शिष्यत्व स्वीकार करूंगा। एक बार याकिनी महत्तरा नामक जैन साध्वी आगमों का पठन कर रही थीं। उनकी प्राकृत गाथा का अर्थ हरिभद्र नही समझ सके और प्रतिज्ञानुसार उनकी सेवा में शिष्य-रूप में उपस्थित हुए। साध्वी ने अपने गुरु जिनभटसूरि से उनकी भेंट करायी। उनसे मुनिदीक्षा ग्रहण कर आगमों का विधिवत् अध्ययन होने पर हरिभद्र को आचार्य पद दिया गया।

हरिभद्र के दो शिष्यों—हंस और परमहंस की कथा—जो प्रभावकचरित, प्रबन्धकोश आदि में उपलब्ध है—अकलंक-निष्कलंक के समान है—अर्थात् बौद्ध सिद्धान्तों का अध्ययन करने के लिए वे किसी बौद्ध मठ में गुप्त रूप से रहे और वास्तविकता प्रकट होने पर बौद्धों ने उनकी हत्या कर दी ऐसा कहा गया है। इससे क्षुब्ध होकर हरिभद्र ने भी बौद्धों को वाद में पराजित कर मृत्युदण्ड देने का संकल्प किया किन्तु गुरु द्वारा समझाये जाने पर वह संकल्प छोड़ दिया। हरिभद्र की अनेक रचनाओं के अन्तिम श्लोक में भवविरह यह शब्द मिलता है जो इसी शिष्य-विरह का सूचक माना गया है।

विस्तार, विविधता और गुणवत्ता इन तीनों दृष्टियों से हरिभद्र की रचनाएं जैन साहित्य में महत्त्वपूर्ण हैं। परम्परानुसार इनके कुल ग्रन्थों की संख्या १४४४ कही गयी है। इसमें कुछ अतिशयोक्ति हो सकती है। तत्त्वार्थ के अपवाद को छोड़कर आगमों का अध्ययन प्राकृत भाषा तक सीमित था। हरिभद्र ने आवश्यक, प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार, ओघनिर्युक्ति, दशवैकालिक, जीवाभिगम, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि आगम-ग्रन्थों पर संस्कृत टीकाओं की रचना की जिससे संस्कृतभाषी विद्वानों के लिए इन आगमों का अध्ययन सुकर हुआ। पुराने प्राकृत व्याख्या साहित्य में आयी हुई अनेक कथाओं से ये टीकाएँ सुशोभित हैं।

अनेकान्तजयपताका, अनेकान्तवादप्रवेश, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि ग्रन्थों में विभिन्न भारतीय दर्शनों के तत्त्वों का जैन दृष्टि से परीक्षण कर हरिभद्र ने जैन तत्त्वों को तर्कशास्त्र के अनुकूल सिद्ध किया है। षड्दर्शनसमुच्चय नामक संक्षिप्त ग्रन्थ में उन्होंने जीव, जगत् और धर्म सम्बन्धी भारतीय दर्शनों की मान्यताएँ प्रामाणिक रूप में संकलित की हैं।

समरादित्यकथा और धूर्ताख्यान ये उनके ग्रन्थ प्राकृत के साहित्यिक सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध हैं। समरादित्यकथा में क्रोध कषाय की भयंकरता गुणसेन और अग्निशर्मा के दस जन्मों की कहानी बताकर स्पष्ट की है। इस विस्तृत कथाग्रन्थ में भारतीय जीवन की विविध छटाओं का मनोहर, सूक्ष्म व अलंकृत चित्रण उपलब्ध होता है। धूर्ताख्यान में ब्राह्मणों की पुराणकथाओं की अविश्वसनीयता व्यंग्य कथाओं के माध्यम से स्पष्ट की है।

योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविंशिका आदि में लोकप्रसिद्ध पातंजल योग की प्रक्रियाओं का जैन परम्परा से समन्वय स्थापित करने का सफल प्रयत्न हरिभद्र ने किया है। इस विषय का उनका विवेचन जैन साहित्य में एक नयी विचारसरणी का प्रारम्भ बिन्दु सिद्ध हुआ।

सावयपण्णत्ती, दंसणसत्तरी, पंचवस्तुक आदि में गृहस्थों और मुनियों के आचार-विचारों का विस्तृत प्रतिपादन हरिभद्र ने किया है।

धर्मबिन्दु, उपदेशपद, सम्बोधप्रकरण, अष्टकप्रकरण, षोडशक, विंशिका आदि छोटे-छोटे प्रकरणों में विविध दार्शनिक और धार्मिक विषयों का संक्षिप्त किन्तु प्रभावी वर्णन उपलब्ध होता है। अपने समय के समाज में यथोचित सुधार के लिए अनेक सूचनाएँ इनमें प्राप्त होती हैं। हरिभद्र ने अपने अनेक ग्रन्थों पर स्वयं छोटे-बड़े विवरण भी लिखे हैं।

[हरिभद्र-विषयक साहित्य विशाल है। अनेकान्तजयपताका की श्री कापडिया लिखित प्रस्तावना तथा धूर्ताख्यान की डॉ. उपाध्ये लिखित प्रस्तावना विशेष महत्त्वपूर्ण है।]

संघदास (द्वितीय)

आवश्यक सूत्र के जिनभद्र कृत भाष्य का उल्लेख ऊपर हुआ है। इसके लगभग एक शताब्दी बाद संघदास ने निशीथ, बृहत्कल्प और व्यवहार इन सूत्र ग्रन्थों पर विस्तृत भाष्य लिखे। प्राकृत भाषा में लिखित इन भाष्यों से साधु-जीवन और तत्कालीन समाज के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। दृष्टान्तों के रूप में कई मनोरंजक कथाएँ भी भाष्यों में प्राप्त होती हैं। उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति पर भी भाष्य प्राप्त हैं किन्तु इनके कर्ता के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।

[डॉ. जगदीशचन्द्र जैन के प्राकृत साहित्य का इतिहास से संकलित]

शीलगुण

गुजरात के चावडा वंश के संस्थापक वनराज का प्रारम्भिक जीवन साधारण अवस्था में बीता था। बाल वय में उसका विद्याध्ययन शीलगुण सूरि के पास हुआ था। सन् ७४५ में अणहिल्लपुर राजधानी की स्थापना करते समय वनराज ने आदरपूर्वक गुरु को वहाँ आमन्त्रित किया और उनके उपदेश के अनुसार पार्श्वनाथ मन्दिर का निर्माण कराया। यह मन्दिर पंचासर पार्श्वनाथ के नाम से अभी भी प्रसिद्ध है तथा इसमें पूजक रूप में वनराज की मूर्ति भी स्थापित है। शीलगुण से प्रारम्भ हुई जैन गुरुओं के सम्मान की परम्परा गुजरात में पाँच शताब्दियों तक चलती रही। यहाँ के राजाओं के कुल-क्रमागत शैव सम्प्रदाय से जैनों के सम्बन्ध प्रायः स्वस्थ प्रतिस्पर्धा के रहे।

[प्रबन्धचिन्तामणि, प्र. १, प्र. ४]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के अन्य आचार्यों में हरिवंशपुराण की गुरु-परम्परा में उल्लिखित जिनसेन, शान्तिषेण, जयसेन और अमितसेन का समावेश होता है। जयसेन के विषय में कहा गया है कि उन्होंने षट्खण्डसिद्धान्त का अध्ययन किया था तथा व्याकरणशास्त्र के वे प्रभावी विद्वान् थे। अमितसेन के विषय में कहा गया है कि वे सौ वर्ष से अधिक आयु प्राप्त कर चुके थे तथा शास्त्रदान के लिए प्रसिद्ध थे। इनके गुरुबन्धु कीर्तिषेण ही हरिवंशपुराणकर्ता जिनसेन के गुरु थे।

उद्द्योतन की कुवलयमालाकथा की प्रशस्ति में उल्लिखित आचार्य यक्षदत्त के शिष्य इस शताब्दी में हुए थे। नाग, विन्द, मम्मट, दुर्ग, अग्निशर्मा और वटेश्वर ये इनके नाम बताये हैं। इनके उपदेश से गुर्जर देश में अनेक जिनमन्दिर बनवाये गये थे। इनके शिष्य तत्त्वाचार्य ही उद्द्योतन के गुरु थे।

हरिवंशपुराण में प्रशंसित सुलोचना कथा के कर्ता महासेन, उत्प्रेक्षा अलंकार के लिए प्रसिद्ध शान्त (शान्तिषेण), गद्य-पद्य में विशेष योग्यता के लिए प्रसिद्ध विशेषवादी तथा वर्धमानपुराण के कर्ता आदित्य इसी शताब्दी के प्रतीत होते हैं। इन चारों के ग्रन्थ

अभी प्राप्त नहीं हुए हैं। इसी प्रकार कुवलयमाला में प्रशंसित राजर्षि प्रभंजन का यशोधरचरित भी अभी प्राप्त नहीं हुआ है।

प्रभावकचरित में वर्णित मानदेव सूरि का वृत्तान्त भी इसी शताब्दी का प्रतीत होता है। इनकी शान्तिनाथस्तुति के प्रभाव से तक्षशिला नगर में फैले हुए संक्रामक रोग शान्त हुए थे ऐसा इस कथा में कहा गया है।

श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में लिपि के प्राचीन रूप को देखकर सन् ७०० के आसपास जिनका समय निर्धारित किया गया है ऐसे कई लेख हैं। इनमें उल्लिखित आचार्यों में मौनिगुरु के शिष्य गुणसेन और वृषभनन्दि, धर्मसेन के शिष्य बलदेव, पट्टिनिगुरु के शिष्य उग्रसेन, ऋषभसेन के शिष्य नागसेन आदि के नाम पाये जाते हैं। इनकी कुल संख्या तीस है। जैन शिलालेख संग्रह भाग १ में इनका पूरा विवरण दिया गया है। ये सब लेख समाधिमरण के स्मारक हैं।

इसी प्रकार जैन शिलालेख संग्रह भाग ४ में उल्लिखित कुछ आचार्य भी सन् ७०० के आसपास के हैं। इनमें से आर्यनन्दि आचार्य को सेन्द्रक वंश के राजा इन्द्रणन्द ने भूमिदान दिया था। यह लेख मैसूर प्रदेश के गोकाक नगर से प्राप्त हुआ है। इसी प्रदेश के कुलगाण नगर से प्राप्त लेख के अनुसार गंगवंश के राजा श्रीवल्लभ पृथ्वीकोंगणि के समय केल्लिपुसूर ग्राम के जिनमन्दिर के लिए चन्द्रसेन आचार्य को भूमिदान दिया गया था।

श्रवणबेलगोल के मल्लिषेण प्रशस्ति नामक शिलालेख में उल्लिखित श्रीवर्धदेव और महेश्वर भी इसी शताब्दी के प्रतीत होते हैं। श्रीवर्धदेव के विषय में कहा गया है कि महाकवि दण्डी ने इनकी प्रशंसा की थी। महेश्वर के विषय में बताया है कि इन्होंने सत्तर वादों में विजय पाया था तथा ब्रह्मराक्षस ने इनकी पूजा की थी।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की चौदहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ७७३ से ८७३]

विमलचन्द्र

मैसूर प्रदेश के नागमंगल तालुके में देवरहल्लि ग्राम से प्राप्त ताम्रशासन से इनका परिचय मिलता है। ये नन्दिसंघ के पुलिकल गच्छ के आचार्य थे। इनकी गुरुपरम्परा चन्द्रनन्दि—कुमारनन्दि—कीर्तिनन्दि—विमलचन्द्र इस प्रकार बतलायी है। गंगवंश के महाराज श्रीपुरुष के सामन्त बाणवंशीय पृथिवीनिर्गुन्दराज की पत्नी कुन्दाच्चि ने श्रीपुर के समीप लोकतिलक नामक जिनमन्दिर इन आचार्य के उपदेश से बनवाया था तथा उसके लिए सन् ७७६ में एक ग्रामदान दिया था। श्रवणबेलगोल के मल्लिषेण प्रशस्ति शिलालेख में प्रसिद्ध वादी के रूप में विमलचन्द्र की प्रशंसा की गयी है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १२१।]

अपराजित

इनका दूसरा नाम श्रीविजय था। शिवार्य की आराधना पर इनकी श्रीविजयोदया नामक विस्तृत संस्कृत टीका प्रकाशित हुई है। ये चन्द्रनन्दि के शिष्य बलदेव के शिष्य थे। नागनन्दि आचार्य से इन्होंने आगमों का ज्ञान प्राप्त किया और श्रीनन्दि गणि के आग्रह से इन्होंने आराधना टीका की रचना की थी। इनकी दशवैकालिक सूत्र पर भी टीका थी किन्तु यह अभी प्राप्त नहीं हुई है।

[पं. प्रेमीजी ने जैन साहित्य और इतिहास में इनका विस्तृत परिचय दिया है।]

उद्द्योतन

ये तत्त्वाचार्य के शिष्य थे। इन्होंने वीरभद्र से सिद्धान्त और हरिभद्र से तर्क का अध्ययन किया था। सन् ७७९ में जाबालिपुर (जालोर, राजस्थान) में रणहस्ती वत्सराज के राज्य में इन्होंने कुवलयमाला नामक गद्य-पद्य मिश्रित कथा की रचना की। विभिन्न प्राकृतों, देशी भाषाओं तथा अलंकारों के प्रयोग से यह सुशोभित है। प्रारम्भ में आचार्य ने कई पूर्ववर्ती कवियों की प्रशंसा में सुन्दर गाथाएँ लिखी हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व की हैं। प्रशस्ति में भी कवि ने अपनी गुरुपरम्परा का विस्तृत वर्णन किया है। क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह के वशीभूत पाँच पुरुषों की कथाओं को आधार बनाकर प्रत्येक के पांच-पाँच जन्मों की कथाएँ कुशलता से एक सूत्र में पिरोकर

यह महाकथा निष्पन्न हुई है। साहित्यिक सौन्दर्य के साथ ही राजनीति, ज्योतिष, मन्त्र, धातुवाद, शकुन, चित्र, भूगोल आदि विविध विषयों के विस्तृत समावेश के कारण यह कथा प्राचीन भारत के अध्ययन के लिए अमूल्य निधि बन गयी है। ह्री देवी की कृपा से प्रहर-भर में सौ श्लोकों की रचना की शक्ति प्राप्त होने का कवि ने उल्लेख किया है। पूरी कथा लगभग तेरह हजार श्लोकों जितने विस्तार की है। इसका संस्कृत में संक्षिप्त रूपान्तर रत्नप्रभ ने छह सौ वर्ष बाद किया था।

[मूल कथा और रूपान्तर दोनों प्रकाशित हो चुके हैं जिनका सम्पादन डॉ. उपाध्ये ने किया है।]

जिनसेन

ये पुन्नाट संघ के आचार्य कीर्तिषेण के शिष्य थे। इनका हरिवंशपुराण सन् ७८३ में वर्धमानपुर (वढवाण, गुजरात) में •नन्नराज द्वारा निर्मित जिनमन्दिर में पूर्ण हुआ था। इसमें ६६ सर्ग और लगभग दस हजार श्लोक हैं। तीर्थंकर नेमिनाथ, श्रीकृष्ण-बलदेव तथा कौरव-पाण्डवों की कथा इसका मुख्य विषय है। प्रसंगोपात्त तीर्थंकर ऋषभदेव, मुनिसुव्रत व महावीर, चक्रवर्ती हरिषेण, मुनि विष्णुकुमार आदि की कथाएँ भी आयी हैं। वसुदेवहिण्डी के समान वसुदेव के प्रवास और विवाहों की कथाएँ भी हैं। प्रारम्भ में पुरातन आचार्यों की प्रशंसा तथा अन्त में विस्तृत गुरुपरम्परा के वर्णन के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत महत्त्व का है। प्रशस्ति में ऊर्जयन्त (गिरनार) की देवी सिंहवाहिनी की कृपा का आचार्य ने उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ दो बार प्रकाशित हो चुका है।

[पं. प्रेमीजी के जैन साहित्य और इतिहास में जिनसेन पर एक निबन्ध है।]

प्रभाचन्द्र (द्वितीय)

मैसूर प्रदेश के नेलमंगल तालुके में स्थित मण्णे ग्राम से प्राप्त दो ताम्रशासनों से इस प्रदेश के एक प्रभावशाली आचार्य प्रभाचन्द्र का परिचय मिलता है। ये कोण्डकुन्दान्वय के तोरणाचार्य के शिष्य पुष्पनन्दि के शिष्य थे। गंग वंश के राजकुमार मारसिंह के महासामन्त श्रीविजय ने राजधानी मान्यपुर (वर्तमान मण्णे) में प्रभाचन्द्र के लिए एक भव्य जिनमन्दिर बनवाया था तथा सन् ७९७ में उन्हें एक ग्राम दान दिया था। पाँच वर्ष बाद राष्ट्रकूट सम्राट् गोविन्दराज (तृतीय) के ज्येष्ठ बन्धु स्तम्भराज इस प्रदेश पर शासन कर रहे थे। उन्होंने अपने पुत्र बप्पय्य के निवेदन पर प्रभाचन्द्र को उपर्युक्त श्रीविजय-जिनमन्दिर के लिए एक ग्राम दान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १२२-१२३]

वर्धमान

कोण्डकुन्दान्वय के एक अन्य आचार्य वर्धमान का परिचय मैसूर प्रदेश के बदनगुप्पे ग्राम से प्राप्त ताम्रशासन से मिलता है। ये कुमारनन्दि के शिष्य एलवाचार्य के शिष्य थे। स्तम्भराज ने अपने पुत्र शंकरगण की प्रार्थना पर इन्हें सन् ८०८ में तलवन नगर की श्रीविजयवसति के लिए एक ग्राम दान दिया था। ताम्रशासन में वर्धमान को सब प्राणियों के लिए हितकर, सिद्धान्तों के अध्ययन में तत्पर तथा सर्वज्ञ के समान गुणों से उन्नत कहा गया है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख ५४]

अर्ककीर्ति

ये यापनीय नन्दिसंघ के पुन्नागवृक्षमूलगण के आचार्य थे। कीर्त्याचार्य की परम्परा में कूविलाचार्य के शिष्य विजयकीर्ति हुए। अर्ककीर्ति इन्हीं के शिष्य थे। राष्ट्रकूट सम्राट् गोविन्दराज (तृतीय) के सामन्त विमलादित्य शनिग्रह की बाधा से पीड़ित थे। इससे मुक्ति पाने के लिए उन्होंने सम्राट् से निवेदन कर जालमंगल नामक ग्राम सन् ८१२ में अर्ककीर्ति को अर्पित किया था। यह विवरण मैसूर प्रदेश के कडब ग्राम में प्राप्त ताम्रशासन से प्राप्त हुआ है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १२४]

अपराजित

ये सेनसंघ के आचार्य थे। इन्हें राष्ट्रकूट वंश के राजा कर्कराज ने नवसारी (गुजरात) के जिनमन्दिर के लिए सन् ८२१ में कुछ भूमि दान दी थी। इसका वर्णन करनेवाला ताम्रशासन सूरत से प्राप्त हुआ है। अपराजित के प्रगुरु का नाम मल्लवादी और गुरु का नाम सुमति कहा गया है। इतिहासज्ञों का अनुमान है कि इन्हीं मल्लवादी ने प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ न्यायबिन्दुटीका (धर्मोत्तर कृत) पर टिप्पण लिखे थे। श्रवणबेलगोल के मल्लिषेणप्रशस्ति शिलालेख में सुमतिदेव के सुमतिसप्तक नामक ग्रन्थ का उल्लेख है। यह अभी प्राप्त नहीं हुआ है। सिद्धसेन कृत सन्मति प्रकरण पर इनकी टीका की चर्चा वादिराज के पार्श्वचरित में की गयी है। यह भी अप्राप्त है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख ५५)

बप्पभट्टि

ये सिद्धसेन के शिष्य थे। बाल वय में ही दीक्षा लेकर इन्होंने शास्त्राध्ययन किया। अध्ययनकाल में इनका राजकुमार आम (जो इतिहास में प्रतिहार कुल के राजा नागभट के रूप में प्रसिद्ध है) से दृढ़ स्नेह हुआ जो जीवन-भर क़ायम रहा। आम ने बप्पभट्टि के उपदेश से गोपगिरि (वर्तमान ग्वालियर, मध्यप्रदेश) दुर्ग में भव्य जिनमन्दिर

बनवाया था। इनके साथ शत्रुंजय, गिरनार आदि तीर्थों का दर्शन भी आम ने किया था। बप्पभट्टि की काव्यप्रतिभा और दृढ़ व्रतनिष्ठा की कई मनोरंजक कथाएँ मिलती हैं। बंगाल के राजा धर्मपाल ने भी इनका सम्मान किया था। गोविन्दसूरि और नन्नसूरि इनके गुरुबन्धु थे। बप्पभट्टि रचित शान्तो वेषः इत्यादि जिनस्तुति प्रसिद्ध है। सन् ८३८ में इनका स्वर्गवास हुआ था।

[प्रभावकचरित, प्र. ११; प्रबन्धकोश, प्र. ९]

वीरसेन

प्रथम सिद्धान्त-ग्रन्थ षट्खण्डागम की एकमात्र उपलब्ध व्याख्या धवला की रचना वीरसेन ने की थी। ये चन्द्रसेन के शिष्य आर्यनन्दि के शिष्य थे। इनका विद्याभ्यास चित्रकूट (चित्तौड़) में एलाचार्य के पास हुआ था तथा धवला की रचना वाटग्राम (यह विदर्भ में था, इसकी निश्चित पहचान अभी नहीं हो सकी है) में हुई थी। धवला का विस्तार ७२ हजार श्लोकों जितना है तथा यह अधिकतर प्राकृत में है—कहीं-कहीं संस्कृत अंश हैं। यह ग्रन्थ व्याख्या कैसी होनी चाहिए इसका आदर्श उदाहरण है। मूल ग्रन्थ की अनेक पोथियों के पाठों की तुलना, विषय के पूर्वापर सम्बन्ध का स्पष्टीकरण, प्रत्येक वाक्य के अर्थ की साधक-बाधक चर्चा, पुराने आचार्यों के ग्रन्थों से समर्थन, अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों से विरोध की आशंकाओं का परिहार आदि से यह ग्रन्थ सर्वांग परिपूर्ण बन गया है। सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण, तर्क आदि विषयों में वीरसेन की निपुणता इस एक ही व्याख्या से स्पष्ट है। उनके शिष्य जिनसेन के कथनानुसार उनका सब शास्त्रों का ज्ञान देखकर सर्वज्ञ के अस्तित्व के विषय में लोगों की शंकाएँ नष्ट हो गयी थीं। दूसरे सिद्धान्त ग्रन्थ कषायप्राभृत पर जयधवला नामक व्याख्या का प्रारम्भ भी वीरसेन ने किया था किन्तु लगभग एक तिहाई रचना होने के बाद उनका स्वर्गवास हो गया। तब जिनसेन ने वह व्याख्या पूर्ण की। इसकी प्रशस्ति में श्रीपाल द्वारा सम्पादन का भी उल्लेख है।

[डॉ. हीरालाल जैन ने षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड की प्रस्तावना में तथा पं. प्रेमी ने जैन साहित्य और इतिहास के एक निबन्ध में वीरसेन के कृतित्व के विषय में विस्तृत विवेचन किया है। पं. परमानन्द ने जैनग्रन्थप्रशस्ति संग्रह, भा. २ में नयनन्दि के सकलविधिविधान काव्य के उद्धरण दिये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि धवला—जयधवला का रचनास्थान वाटग्राम विदर्भ में था तथा यहीं महाकवि धनंजय और स्वयम्भूदेव भी हुए थे।]

जिनसेन (द्वितीय)

जयधवला की रचना में इनके योगदान की चर्चा ऊपर आ चुकी है। यह कार्य सन् ८३७ में पूर्ण हुआ था। इसके कई वर्ष पूर्व ही पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना से

जिनसेन प्रसिद्ध हो चुके थे। कालिदास के मेघदूत की एक-एक दो-दो पंक्तियों में अपनी दो या तीन पंक्तियाँ मिलाकर जिनसेन ने मूल प्रेमकाव्य को वैराग्य-काव्य में परिवर्तित कर दिया है। उनके ज्येष्ठ गुरुबन्धु विनयसेन के आग्रह से यह रचना हुई थी।

महापुराण उनकी महान् कृति है। समग्र जैन पुराणकथाओं का यह विशाल संग्रह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। वज्रजंघ-श्रीमती उपाख्यान में साहित्यिक सौन्दर्य उत्कृष्ट है तो महाबल-उपाख्यान में तर्कचर्चा पठनीय है। प्रारम्भ में लोकस्वरूप का विस्तृत वर्णन है। भरत के राज्य के वर्णन में आदर्श राजनीति का उपदेश है। जैन समाज में विवाहादि विधियों के लिए मन्त्रों का विधान सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में मिलता है। इसके श्रावकधर्म सम्बन्धी विवरण से स्पष्ट होता है कि उस समय कई ब्राह्मणों ने जैनधर्म को स्वीकार किया था और जैन समाज में उनकी एकात्मता के लिए जिनसेन ने काफ़ी विचार किया था। प्रथम तीर्थंकर और उनके समय के महापुरुषों का वर्णन जिनसेन ने लगभग दस हज़ार श्लोकों में पूर्ण किया। दुर्भाग्य से तभी उनका देहान्त हुआ। तब शेष कथाओं का संक्षिप्त वर्णन उनके शिष्य गुणभद्र ने पूर्ण किया। राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष की जिनसेन पर बड़ी श्रद्धा थी ऐसा उत्तरपुराण को प्रशस्ति से ज्ञात होता है।

[पं. प्रेमी ने जैन साहित्य और इतिहास में जिनसेन पर विस्तृत निबन्ध लिखा है।]

गुणभद्र

ये जिनसेन के शिष्य थे। दशरथ गुरु का भी इन्होंने सादर स्मरण किया है। गुरु के देहावसान से अपूर्ण रहे महापुराण को इन्होंने लगभग दस हज़ार श्लोकों की रचना कर पूर्ण किया। इनका यह अंश उत्तरपुराण कहलाता है। सभी जैन पुराण-कथाओं का यह प्रथम विस्तृत संकलन है। गुणभद्र ने आत्मानुशासन नामक सुन्दर सुभाषित ग्रन्थ की भी रचना की है। आत्मचिन्तन के लिए उपयोगी २७२ श्लोक इसमें हैं। जिनदत्तचरित नामक एक छोटा-सा काव्यग्रन्थ भी इनके नाम से प्रसिद्ध है। उत्तरपुराण की प्रशस्ति में इनके प्रधान शिष्य लोकसेन की सविनय सेवा का उल्लेख है। देवसेन ने दर्शनसार में गुणभद्र की प्रशंसा में एक गाथा दी है। इसके अनुसार वे पक्षोपवासी महातपस्वी थे। उत्तरपुराणप्रशस्ति में सन् ८९८ में राजा लोकादित्य की राजधानी बंकापुर में इस पुराण की पूजा का उल्लेख किया गया है।

[पं. प्रेमीजी के जैन साहित्य और इतिहास में गुणभद्र के विषय में विस्तृत चर्चा मिलती है; आत्मानुशासन को पं. बालचन्द्र शास्त्री लिखित प्रस्तावना भी महत्त्व-पूर्ण है।]

कुमारसेन

देवसेन के दर्शनसार में वर्णन है कि जिनसेन के गुरुबन्धु विनयसेन के शिष्य कुमारसेन थे। इन्होंने नन्दियड ग्राम (वर्तमान नान्देड, महाराष्ट्र) में सन् ८३१ में काष्ठासंघ की स्थापना की थी। देवसेन के वर्णनानुसार कुमारसेन ने संन्यास (सम्भवतः सल्लेखना) ग्रहण कर उसका भंग किया और फिर प्रायश्चित्त नहीं लिया। जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि इनका काष्ठासंघ आगे चलकर खूब विस्तृत हुआ और इसमें अनेक यशस्वी आचार्य हुए।

शीलांक

जिनसेन और गुणभद्र के महापुराण के समान लगभग इन्हीं के समय में एक प्राकृत ग्रन्थ चउपन्नमहापुरिसचरियं की रचना शीलांक आचार्य ने की। आगमों की परम्परा से प्राप्त तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और नारायणों की कथाओं का इसमें वर्णन है। इसका आदिनाथ और महावीर सम्बन्धी अंश विशेष विस्तृत है। प्राकृत में सब शलाका पुरुषों की कथाओं का यह पहला ग्रन्थ है।

[प्राकृत ग्रन्थ परिषद् द्वारा प्रकाशित संस्करण की प्रस्तावना में शीलांक का परिचय मिलता है।]

महावीर

प्राचीन धार्मिक साहित्य में, भूगोल-ग्रन्थों में और ज्योतिष ग्रन्थों में गणित का विस्तृत उपयोग होता था। किन्तु गणित को स्वतन्त्र विषय का महत्त्व देकर ग्रन्थ लिखने का श्रेय सर्वप्रथम आचार्य महावीर ने प्राप्त किया। इनके गणितसारसंग्रह में ८ अध्यायों में लगभग १२०० श्लोक हैं। प्रारम्भिक श्लोकों में आचार्य ने नृपतुंग (सम्राट् अमोघवर्ष) की विस्तृत प्रशंसा लिखी है। इस ग्रन्थ पर वल्लभ ने कन्नड़ में और मल्लण ने तेलुगु में टीकाएँ लिखी हैं। दक्षिण भारत में किसी समय इसका व्यापक उपयोग होता रहा है। यह दो बार प्रकाशित हो चुका है।

[डॉ. लक्ष्मीचन्द्र जैन ने अपनी प्रस्तावना में महावीर के गणितशास्त्र में योगदान का विस्तृत विवेचन किया है।]

शाकटायन

इनका मूल नाम पाल्यकीर्ति था। व्याकरण में निपुणता के कारण शाकटायन यह नाम भी उन्हें मिला (शाकटायन प्राचीन समय का एक प्रसिद्ध व्याकरणकर्ता था जो पाणिनि के पूर्व हुआ था)। इनकी प्रसिद्ध रचना शब्दानुशासन है जिसपर इन्हीं की अमोघवृत्ति नामक व्याख्या भी है। संस्कृत के इस व्याकरण का किसी समय जैन समाज में अच्छा प्रचार था। व्याख्या के नाम से और कुछ नियमों के उदाहरणों से मालूम

होता है कि यह ग्रन्थ सम्राट् अमोघवर्ष के राज्यकाल में लिखा गया था। स्त्रीमुक्ति-केवलिभुक्ति प्रकरण में आचार्य ने तर्कदृष्टि से स्त्रियों की मुक्ति और केवलज्ञानियों के आहारग्रहण का समर्थन किया है।

[पं. प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास में शाकटायन का विस्तृत परिचय देनेवाला निबन्ध है।]

उग्रादित्य

ये श्रीनन्दि के शिष्य थे। आन्ध्र प्रदेश में रामगिरि (वर्तमान रामकोण्ड, विजयनगरम् के पास) पर्वत पर निवास करते हुए इन्होंने कल्याणकारक नामक वैद्यकग्रन्थ की रचना की। आन्ध्र के राजा विष्णुवर्धन ने श्रीनन्दि गुरु का सम्मान किया था। तथा उग्रादित्य ने राजा अमोघवर्ष की सभा में कल्याणकारक के अन्तिम अध्याय का व्याख्यान किया था। लगभग पचीस सौ श्लोकों के इस ग्रन्थ में आयुर्वेद के सभी अंगों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

[पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित कल्याणकारक की प्रस्तावना में ग्रन्थ और कर्ता के विषय में चर्चा की गयी है।]

जयसिंह

इनका धर्मोपदेशमालाविवरण नामक विस्तृत ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसकी रचना सन् ८५८ में राजस्थान के नागौर नगर में प्रतीहारवंशीय भोज राजा के राज्य में पूर्ण हुई थी। इसकी प्रशस्ति के अनुसार ग्रन्थकर्ता की गुरुपरम्परा इस प्रकार थी—बटेश्वर–उग्रवाचार्य–यक्षमदहर–कृष्णमुनि–जयसिंह। यक्षमदहर ने खट्टउय नगर में और कृष्णमुनि ने नागौर आदि अनेक स्थानों में जिनमन्दिर बनवाये थे ऐसा प्रशस्ति में कहा गया है। ग्रन्थ में धर्मोपदेश की प्राकृत गाथाओं के विवरण के रूप में प्राकृत व संस्कृत में लगभग सौ कथाएँ दी गयी हैं। जयसिंह ने सन् ८५६ में धर्मदासकृत उपदेशमाला का विवरण भी लिखा था जो अभी अप्राप्त है। इनके शिष्य जयकीर्ति का शीलोपदेशमाला नामक ग्रन्थ प्राप्त है।

[धर्मोपदेश मालाविवरण के सम्पादक पं. लालचन्द गान्धी ने प्रस्तावना में जयसिंह का परिचय दिया है।]

नागनन्दि

मैसूर प्रदेश के धारवाड़ जिले में स्थित राणिबेण्णूर ग्राम से प्राप्त लेख में इनका परिचय मिलता है। ये सिंहनूर गण के आचार्य थे। सम्राट् अमोघवर्ष ने नागुलबसदि नामक जिनमन्दिर के लिए सन् ८६० में इन्हें कुछ भूमि प्रदान की थी।

महाराष्ट्र के औरंगाबाद जिले में स्थित एलोरा के प्रसिद्ध गुहामन्दिरों में जगन्नाथ-सभा नामक जैन गुहा भी है। इसमें प्राप्त एक लेख में भी नागनन्दि का नामोल्लेख है। इनके साथ दीपनन्दि तथा कुछ श्रावकों के नाम भी दिये हैं। सम्भवतः इनके द्वारा उक्त गुहा में उत्कीर्ण जिनमूर्तियों की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई थी।

तमिलनाडु में अर्काट जिले में स्थित पंचपाण्डवमलै पहाड़ी पर एक लेख में भी नागनन्दि का नाम मिलता है। वहाँ इनके शिष्य नारण द्वारा पोन्नियक्कियार् (स्वर्ण-यक्षी) मूर्ति की प्रतिष्ठापना हुई थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख ५६; भाग ५, लेख १२ तथा भाग २, लेख ११५]

वर्धमानचरित और शान्तिनाथपुराण नामक संस्कृत महाकाव्यों के रचयिता असग नागनन्दि के शिष्य थे। इनमें से प्रथम काव्य सन् ८५३ में पूर्ण हुआ था। कवि ने भावकीर्ति और आर्यनन्दि का भी गुरु-रूप में उल्लेख किया है। इस काव्य का रचना-स्थान मौद्गल्य पर्वत बताया है। बाद में चोड़ देश की वरला नगरी में इन्होंने आठ ग्रन्थों की रचना की थी ऐसा प्रशस्ति में उल्लेख है। इन स्थानों की पहचान अभी नहीं हो सकी है।

[जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भाग १, प्रशस्ति ७९-८०]

देवेन्द्र

मैसूर प्रदेश के धारवाड़ जिले में स्थित कोन्नूर ग्राम से प्राप्त शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये देशी गण के त्रैकाल्ययोगी के शिष्य थे। इन्हें लेख में सैद्धान्तिकाग्रणी कहा गया है। कोलनूर में सम्राट् अमोघवर्ष के सामन्त बंकेयराज ने एक जिन-मन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए सम्राट् से निवेदन कर एक ग्राम सन् ८६० में देवेन्द्र को अर्पित किया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १२७]

कमलदेव

उत्तर प्रदेश के झाँसी जिले में बेतवा नदी के तीर पर स्थित देवगढ़ एक प्राचीन तीर्थक्षेत्र है। यहाँ प्राप्त शिलालेखों में सबसे पुराना लेख एक स्तम्भ पर है। सन् ८६२ में इस स्तम्भ की स्थापना आचार्य कमलदेव के शिष्य श्रीदेव ने की थी। उस समय वहाँ प्रतीहार वंश के सम्राट् भोजदेव का शासन चल रहा था। कमलदेव के मार्गदर्शन में प्रवर्तित देवगढ़ की शिल्पपरम्परा आगे चलकर काफ़ी समृद्ध हुई। पचास से अधिक मन्दिर एवं सैकड़ों मूर्तियों और स्तम्भों के अवशेष यहाँ प्राप्त होते हैं।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १२८]

शान्तिवीर

तमिलनाडु में मदुरा के समीप ऐवरमलै पहाड़ी पर स्थित जिनमूर्तियों के पास प्राप्त शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये गुणवीर के शिष्य थे। पाण्ड्य वंश के राजा वरगुण के समय सन् ८७० में इन्होंने पार्श्वनाथ और यक्षी मूर्तियों का जीर्णोद्धार करवाया था। इस कार्य के लिए प्राप्त सुवर्णमुद्राओं के दान का लेख में वर्णन है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख ५८]

श्रीवीर निर्वाण संवत् की पन्द्रहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ८७३ से ९७३]

विद्यानन्द व माणिक्यनन्दि

मैसूर प्रदेश के धारवाड़ जिले में स्थित अण्णिगेरि तथा गावरवाड़ इन दो ग्रामों में एक बृहत् शिलालेख प्राप्त हुआ है। इसमें गंग वंश के राजा बुतुग तथा उनकी रानी रेवकनिर्मडि द्वारा निर्मित जिनमन्दिर का वर्णन है। इस मन्दिर के लिए बलगार गण के आचार्य गुणकीर्ति को चार गाँव दान दिये गये थे। लेख में गुणकीर्ति के गुरु के रूप में महावादी विद्यानन्द तथा तार्किकार्क माणिक्यनन्दि का प्रशंसात्मक उल्लेख है। इन दोनों के गुरु वर्धमान थे जो तपस्या और उत्तम ज्ञान के कारण प्रसिद्ध हुए थे तथा गंग वंश के राजाओं के गुरु थे।[1]

विद्यानन्द जैन तर्कशास्त्र के प्रौढ़ लेखकों में प्रमुख हैं। इनके नौ ग्रन्थ ज्ञात हैं। तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या श्लोकवार्तिक का विस्तार १८००० श्लोकों जितना है। इसका पूर्वार्ध—जो प्रथम सूत्र की भूमिका के रूप में है—तर्कदृष्टि से जीव और मोक्ष का विशद विवेचन प्रस्तुत करता है। अद्वैतवाद के विभिन्न रूपों का विस्तृत निरसन इसमें उपलब्ध होता है। अष्टसहस्री में विद्यानन्द ने समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का विस्तृत विवरण और समर्थन प्रस्तुत किया है। नाम के अनुसार इसका विस्तार आठ हजार श्लोकों जितना है। इसकी रचना में कुमारसेन के सहयोग का आचार्य ने प्रशस्ति में उल्लेख किया है। समन्तभद्र की दूसरी कृति युक्त्यनुशासन पर भी विद्यानन्द की व्याख्या प्राप्त है।

इन तीन व्याख्याग्रन्थों के अतिरिक्त छह स्वतन्त्र ग्रन्थों की भी रचना विद्यानन्द ने की। आप्तपरीक्षा में मोक्षमार्ग के उपदेशक सर्वज्ञ के स्वरूप का विवेचन है। जगत्-कर्ता ईश्वर की मान्यता का खण्डन इसमें विस्तार से प्राप्त होता है। प्रमाणपरीक्षा में प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान के विभिन्न प्रकारों का विवेचन है। पत्रपरीक्षा में वादविवादों में प्रयुक्त होनेवाले पत्र (=कूट श्लोक) का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। सत्यशासन-परीक्षा में दस जैनेतर मतों के निरसन के साथ अनेकान्तवाद का समर्थन प्राप्त होता है। श्रीपुर के पार्श्वनाथ की स्तुति में भी इन विभिन्न मतों का संक्षिप्त खण्डन किया गया

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख १४४—इस शिलालेख की उपलब्धि से विद्यानन्द की तिथि के विषय में पुरानी मान्यता बदली है।

है। तर्कशास्त्र सम्बन्धी विविध विषयों का विचार करते हुए विद्यानन्दमहोदय नामक विस्तृत ग्रन्थ विद्यानन्द ने लिखा था। यह अभी प्राप्त नहीं हुआ है।

आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा तथा युक्त्यनुशासनटीका के अन्त में विद्यानन्द ने सत्यवाक्य शब्द का प्रयोग किया है। इससे तर्क किया गया है कि गंग वंश के राजा सत्यवाक्य राजमल्ल के शासनकाल में—उनके सहयोग से—ये ग्रन्थ लिखे गये थे। विद्यानन्द के गुरु वर्धमान गंगराजगुरु कहे गये हैं यह ऊपर बताया जा चुका है।

विद्यानन्द के गुरुबन्धु माणिक्यनन्दि भी तर्कशास्त्र के प्रमुख लेखकों में से एक हैं। इनका परीक्षामुख नामक सूत्रग्रन्थ प्रमाणों के मूलभूत ज्ञान के लिए बहुत उपयोगी है। अकलंक के गम्भीर और दुर्गम ग्रन्थों के विचार सरल सूत्र शैली में निबद्ध कर यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसपर अनेक छोटी-बड़ी व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं। आधुनिक समय में जैन तर्कशास्त्र की पाठ्यपुस्तक के रूप में यह समादृत हुआ है।

[आप्तपरीक्षा की प्रस्तावना में पं. दरबारीलाल ने विद्यानन्द के विषय में विस्तृत विवरण दिया है।]

इन्द्रकीर्ति

मैसूर प्रदेश के धारवाड़ जिले में स्थित सौन्दत्ती नगर के जिनमन्दिर से प्राप्त शिलालेख में इनका परिचय मिलता है। ये कारेय गण के आचार्य मूलभट्टारक के शिष्य गुणकीर्ति के शिष्य थे। इनके उपदेश से राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराज (द्वितीय) के सामन्त रट्टवंशीय पृथ्वीराम ने सौन्दत्ती का यह जिनमन्दिर बनवाया तथा उसके लिए गुरु को सन् ८७५ में भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १३०]

सर्वनन्दि

मैसूर प्रदेश के कूडगु जिले के बिलियूर ग्राम से प्राप्त शिलालेख में इनका परिचय मिलता है। ये शिवनन्दि सिद्धान्त भट्टारक के शिष्य थे। पेण्णेगडंग नगर के सत्यवाक्य जिनालय के लिए राजा सत्यवाक्य कोंगुणिवर्मा (राजमल्ल द्वितीय) ने सन् ८८७ में इन्हें बिलियूर आदि १२ ग्राम अर्पित किये थे। जिनमन्दिर के नाम से स्पष्ट होता है कि उसका निर्माण राजा सत्यवाक्य के द्वारा ही हुआ था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १३१]

इस समय से कुछ ही वर्ष पूर्व—सन् ८८१ में दिवंगत हुए एक अन्य आचार्य का नाम भी सर्वनन्दि था। ये एकचट्टुगद भट्टारक के शिष्य थे। इनका समाधिलेख मैसूर प्रदेश के तीर्थस्थल कोप्पल की एक पहाड़ी चट्टान पर उत्कीर्ण है। लेख में इनके निरन्तर विद्यादान की प्रशंसा की गयी है।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ. ३४०]

कनकसेन

तमिलनाडु प्रदेश के सेलम जिले में स्थित धर्मपुरी ग्राम से प्राप्त शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये सेनगण के आचार्य विनयसेन के शिष्य थे। इनके उपदेश से निधियण्ण और चण्डियण्ण नामक श्रावकों ने धर्मपुरी में जिनमन्दिर बनवाया था। इस मन्दिर की देखभाल के लिए वहाँ के नोलम्ब वंशीय राजा महेन्द्र ने सन् ८९३ में मूलपल्ली नामक ग्राम कनकसेन को अर्पित किया था। कुछ वर्ष बाद महेन्द्र के पुत्र अय्यपदेव ने भी इस मन्दिर के लिए एक ग्राम दान दिया था।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ. १६२]

मौनि भट्टारक व माघवचन्द्र

इनका परिचय मैसूर प्रदेश के शिवमोग्गा जिले में स्थित तीर्थस्थान हुम्मच में प्राप्त दो शिलालेखों से मिलता है। पहला लेख सन् ८९७ का है। हुम्मच के सान्तर वंशीय राजा तोलापुरुष विक्रमादित्य ने मौनि सिद्धान्त भट्टारक के लिए एक जिनमन्दिर बनवाया तथा उसके लिए उन्हें भूमिदान दिया ऐसा इस लेख में वर्णन है।

दूसरे लेख में वर्णन है कि तोलापुरुष की पत्नी पालियक्क द्वारा अपनी माता की स्मृति में एक जिनमन्दिर बनवाया गया। माघवचन्द्र त्रैविद्यदेव के शिष्य नागचन्द्र के पुत्र मादेय द्वारा इसकी पुनः प्रतिष्ठा की गयी थी। इस लेख की तिथि सन् ९५० के आसपास अनुमानित है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १३२ तथा १४५]

कुमारसेन (द्वितीय)

मैसूर प्रदेश के क्यातनहल्लि ग्राम से प्राप्त एक लेख के अनुसार राजा सत्यवाक्य ने वहाँ के जिनमन्दिर के लिए आचार्य कुमारसेन को कुछ दान दिया था। इसी प्रदेश के कूलगेरी ग्राम के सन् ९०९ के लेख के अनुसार राजा नीतिमार्ग ने कनकगिरि तीर्थ के जिनमन्दिर के लिए कनकसेन को कुछ करों की आय समर्पित की थी। कनकसेन कुमारसेन के शिष्य वीरसेन के शिष्य थे ऐसा मैसूर प्रदेश के ही मुलगुन्द नगर से प्राप्त लेख से ज्ञात होता है। सन् ९०३ के इस लेख के अनुसार अरसार्य नामक श्रावक ने अपने पिता द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए कनकसेन को कुछ भूमि प्रदान की थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १३७-१३९]

सिद्धर्षि

ये दुर्गस्वामी के शिष्य थे। सन् ९०६ में इन्होंने उपमितिभवप्रपंचा नामक विस्तृत कथा की रचना की। संसारचक्र से जीव की मुक्ति का तात्त्विक वर्णन इसमें उपन्यास की तरह साहित्यिक रूप में प्रस्तुत किया है। भारतीय साहित्य में रूपक कथा

का यह पहला विस्तृत ग्रन्थ है। सिद्धसेन के न्यायावतार की व्याख्या, उपदेशमाला विवरण तथा चन्द्रकेवलीचरित ये सिद्धर्षि के अन्य ग्रन्थ हैं। हरिभद्र विरचित ललित-विस्तरा नामक चैत्यवन्दनवृत्ति के अध्ययन से जैन मार्ग में दृढ़ श्रद्धा हुई ऐसा सिद्धर्षि ने कहा है।

वर्धमान (द्वितीय)

ये द्राविड़ संघ के आचार्य लोकभद्र के शिष्य थे। महाराष्ट्र में नासिक के समीप चन्दनपुरी में अमोघवसति नामक जिनमन्दिर के लिए राष्ट्रकूट सम्राट् इन्द्रराज (तृतीय) ने सन् ९१५ में इन्हें दो गाँव प्रदान किये थे। समीपवर्ती वडनेर ग्राम की उरिअम्म-वसति के लिए भी इन्हें छह गाँव प्रदान किये गये थे। द्राविड संघ के आचार्यों का प्रभावक्षेत्र मुख्यतः तमिलनाडु और मैसूर प्रदेश में पाया गया है। महाराष्ट्र में इस संघ का यह एक ही उल्लेख प्राप्त हुआ है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ५, लेख १४-१५]

वासुदेव-शान्तिभद्र

राजस्थान में उदयपुर के समीप बिजापुर से प्राप्त एक विस्तृत शिलालेख में इस प्रदेश के ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी के कई आचार्यों का परिचय मिलता है। हस्ति-कुण्डी नगर के राष्ट्रकूट वंश के राजा विदग्धराज ने आचार्य वासुदेव के उपदेश से विशाल जिनमन्दिर बनवाया था तथा अपनी सुवर्णतुला कराकर वह धन उन्हें अर्पित किया था। इस मन्दिर के लिए विदग्धराज ने सन् ९१६ में कई करों की आय बलभद्र-गुरु को अर्पित की थी। विदग्धराज के पुत्र मम्मटराज ने सन् ९३९ में उपर्युक्त दान को अपनी सहमति प्रदान की थी। इस दान के वर्णन के अन्त में केशवसूरि की परम्परा के लिए इसका उपयोग होता रहे ऐसी शुभकामना प्रकट की है। पुनः हस्तिकुण्डी के व्यापारी वर्ग ने सन् ९९७ में उपर्युक्त जिनमन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया तथा आचार्य वासुदेव के उत्तराधिकारी शान्तिभद्र द्वारा प्रतिष्ठा करवायी। इस अवसर पर सूर्याचार्य ने ४० श्लोकों की सुन्दर प्रशस्ति की रचना की जो इस शिलालेख में खुदी है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख ८१]

पद्मनन्दि

मैसूर प्रदेश के बेल्लारी जिले में स्थित हलहरवि ग्राम से प्राप्त शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। सन् ९३२ के इस लेख के अनुसार राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज की रानी चन्दियब्बे ने नन्दवर ग्राम में एक जिनमन्दिर बनवाया था तथा उसकी देखभाल के लिए पद्मनन्दि को कुछ करों की आय प्रदान की थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख ७९]

देवसेन

ये विमलसेन के शिष्य थे। इन्होंने धारा नगर में संवत् ९९० में दर्शनसार नामक ग्रन्थ लिखा। जैनधर्म के विभिन्न सम्प्रदायों और कुछ जैनेतर सम्प्रदायों की स्थापना के विषय में परम्परागत कथाएँ इसमें संक्षेप से दी गयी हैं। नयचक्र नामक प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ में इन्होंने निश्चय और व्यवहार नयों के विभिन्न उपभेदों का वर्णन किया है। इसी विषय को संस्कृत में आलापपद्धति नामक ग्रन्थ में दिया गया है। यह भी देवसेन की ही रचना है। तत्त्वसार और आराधनासार ये इनके प्राकृत ग्रन्थ आत्मचिन्तन के लिए उपयोगी हैं। इनका एक और ग्रन्थ भावसंग्रह भी प्राकृत में है। जीव के विभिन्न भावों का इसमें विस्तार से वर्णन है। देवसेन के नाम से एक अपभ्रंश ग्रन्थ सुलोचना-चरित भी मिला है जो अभी अप्रकाशित है, शेष सब ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इनके एक शिष्य माइल्लधवल ने द्रव्यस्वभाव प्रकाश नाम से नयचक्र का विस्तृत संस्करण लिखा है। यह भी छप चुका है। अपभ्रंश में देवसेन का एक ग्रन्थ सावयधम्म दोहा भी प्रकाशित हुआ है। इसमें श्रावकों के धर्माचरण का वर्णन है।

[पं. प्रेमीजी के जैन साहित्य और इतिहास में देवसेन पर विस्तृत निबन्ध है।]

हरिषेण

पुन्नाट संघ के आचार्य हरिषेण ने सन् ९३२ में कथाकोश नामक बृहद् ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ वर्धमानपुर (बढ़वाण) में लिखा गया था जहाँ लगभग १५० वर्ष पूर्व इसी पुन्नाट संघ के आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण लिखा था। हरिषेण ने अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलायी है—मौनि भट्टारक—हरिषेण (प्रथम)—भरतसेन—हरिषेण (ग्रन्थकर्ता)। १२ हजार से अधिक श्लोकों के इस ग्रन्थ में १५७ कथाएँ हैं जिनमें आराधना की गाथाओं के उदाहरणस्वरूप पुरातन आख्यान दिये गये हैं। इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण चाणक्य, भद्रबाहु, धरसेन आदि की कई कथाएँ इसमें मिलती हैं।

[डॉ. उपाध्ये ने कथाकोश की प्रस्तावना में ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ता के विषय में विस्तृत विवेचन किया है।]

नागदेव

मैसूर प्रदेश के धारवाड़ जिले में स्थित सूदी ग्राम से प्राप्त ताम्रशासन से इनका परिचय मिलता है। ये वडियूर गण के प्रमुख थे। गंग वंश के राजा बूतुग की रानी दीवलाम्बा ने सूदी में एक भव्य जिनमन्दिर बनवाया और उसके लिए नागदेव को सन् ९३८ में भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १४२]

उद्द्योतन-सर्वदेव

तपागच्छ पट्टावली के अनुसार उद्द्योतन सूरि ने सन् ९३८ में सर्वदेव को सूरिपद प्रदान किया था। आबू के यात्रा के लिए जाते हुए टेली ग्राम के समीप एक विशाल वटवृक्ष की छाया में यह कार्य सम्पन्न हुआ जिसकी स्मृति में सर्वदेव का शिष्य परिवार वडगच्छ (जिसका संस्कृत रूपान्तर बृहद् गच्छ हुआ) कहलाया।

हेलाचार्य व इन्द्रनन्दि

दक्षिण भारत में मलयपर्वत के समीप हेमग्राम में द्रविड़ गण के प्रमुख हेलाचार्य का निवास था। एक बार उनकी शिष्या कमलश्री किसी ब्रह्मराक्षस द्वारा पीड़ित हुई। उसके उपचारार्थ आचार्य ने ज्वालामालिनी देवी की आराधना की। देवी द्वारा दिये गये मन्त्र के प्रभाव से कमलश्री का कष्ट दूर हुआ। देवी के कथनानुसार मन्त्रों की साधना के विषय में आचार्य ने ज्वालिनीमत नामक ग्रन्थ लिखा। गंगमुनि-नीलग्रीव-विजाव-आर्या क्षान्तिरसब्बा-क्षुल्लक विरुवट्ट इस परम्परा से आता हुआ यह शास्त्र पढ़कर इन्द्रनन्दि ने सुन्दर संस्कृत छन्दों में ज्वालिनीमत ग्रन्थ की रचना की। हेलाचार्य का मूल ग्रन्थ तो अब प्राप्त नहीं है, इन्द्रनन्दि का ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराज (तृतीय) के राज्यकाल में उनकी राजधानी मान्यखेट में सन् ९३९ में इसकी रचना हुई थी। अन्त में ग्रन्थकर्ता ने अपनी गुरुपरम्परा इन्द्रनन्द्रि—वासवनन्दि—बप्पनन्दि—इन्द्रनन्दि (द्वितीय) इस प्रकार बतायी है।

[जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भाग १, प्रशस्ति ९१]

पद्मकीर्ति

ये माथुर गच्छ के आचार्य थे। इनकी गुरुपरम्परा चन्द्रसेन—माधवसेन—जिनसेन—पद्मकीर्ति इस प्रकार बतलायी है। अपभ्रंश भाषा में रचित पार्श्वपुराण इनकी एकमात्र कृति है जो सन् ९४३ में पूर्ण हुई थी। यह १८ सन्धियों का सुन्दर काव्य है जिसमें तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की कथा का विस्तृत और अलंकृत वर्णन है।

[डॉ. प्रफुल्लकुमार मोदी द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।]

गुणचन्द्र

मैसूर प्रदेश के धारवाड़ जिले में नरेगल ग्राम से प्राप्त शिलालेख में इनका परिचय मिलता है। ये देशी गण के महेन्द्र पण्डित के शिष्य वीरनन्दि के शिष्य थे। गंग वंश के राजा बूतुग की रानी पद्मब्बरसि द्वारा निर्मित जिनमन्दिर में दानशाला के लिए मारसिंघय्य ने एक तालाब अर्पित किया था। सन् ९५० में यह दान गुणचन्द्र को अर्पित किया गया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख ८३]

वासवचन्द्र

मध्य प्रदेश के छतरपुर जिले में स्थित खजुराहो नगर के शान्तिनाथ मन्दिर के स्थापना लेख (सन् ९५५) में इनका नाम उपलब्ध होता है। इन्हें महाराजगुरु कहा गया है। चन्देल वंश के राजा धंग द्वारा सम्मानित पाहिल नामक श्रावक ने यह मन्दिर बनवाया था। मध्ययुग की भारतीय कलाकृतियों में खजुराहो के इस जैन मन्दिर का महत्वपूर्ण स्थान है। इसी के अहाते में आदिनाथ मन्दिर और पार्श्वनाथ मन्दिर भी हैं जिनकी भित्तियों पर उत्कीर्ण दिव्यांगना मूर्तियाँ विश्वविख्यात हुई हैं।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १४७]

सोमदेव

देवसंघ के आचार्य यशोदेव के शिष्य नेमिदेव थे। इनके शिष्य सोमदेव महान् ग्रन्थकर्ता थे। इन्होंने सन् ९५९ में यशस्तिलक चम्पू (गद्यपद्यमिश्र काव्य) की रचना की। अहिंसा का महत्व प्रतिपादन करनेवाली राजा यशोधर की कथा इसमें काव्यमय रूप में ग्रथित है। प्राचीन भारत की संस्कृति का बड़ी सूक्ष्मता से चित्रण इस कृति में किया है। राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराज के सामन्त चालुक्य राजा बद्दिग की राजधानी गंगधारा में यह रचना पूर्ण हुई थी। कथावर्णन के साथ ही श्रावक के आदर्श आचरण का विस्तृत उपदेश भी इस ग्रन्थ में है। दक्षिण भारत में जैन समाज में प्रचलित जिनपूजा का विस्तृत विधान सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में मिलता है। सोमदेव का नीतिवाक्यामृत जैन साहित्य में अपने ढंग का अकेला ग्रन्थ है। इसमें राजनीति का सरस विवेचन किया है। टीकाकार के कथनानुसार कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल के आग्रह से यह ग्रन्थ लिखा गया था। सोमदेव का अध्यात्मतरंगिणी नामक आत्मचिन्तन पर ग्रन्थ भी प्राप्त है। इसके अतिरिक्त युक्तिचिन्तामणि, महेन्द्रमातलिसंजल्प, षण्णवतिप्रकरण तथा स्याद्वादोपनिषत् ये इनके ग्रन्थ अभी अप्राप्त हैं। सोमदेव ने अनेक वादों में विजय पायी थी। उनके गुरु नेमिदेव और गुरुबन्धु महेन्द्रदेव भी अनेक वादों में विजयी हुए थे ऐसा सोमदेव के वर्णन से मालूम होता है। लौकिक विषयों में जैनेतर साहित्य का भी निःसंकोच उपयोग करना चाहिए ऐसा उनका मत था और इस उदारता का उन्होंने अपने साहित्य में भी प्रयोग किया है। आन्ध्र प्रदेश के करीमनगर जिले में स्थित वेमुलवाड से प्राप्त एक शिलालेख के अनुसार राजा बद्दिग ने सोमदेव के लिए एक जिनमन्दिर का निर्माण कराया था।

[डॉ. हन्दिकी ने यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर नामक ग्रन्थ में सोमदेव की कृति का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है; इसका श्रावकाचार सम्बन्धी अंश पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने हिन्दी विवेचन के साथ सम्पादित किया है।]

एलाचार्य

मैसूर प्रदेश के धारवाड़ नगर से प्राप्त ताम्रशासन से इनका परिचय मिलता है। ये सूरस्थ गण के आचार्य थे। इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलायी है—प्रभाचन्द्र—कल्नेलेदेव—रविचन्द्र—रविनन्दि—एलाचार्य। गंग वंश के राजा मारसिंह ने उसकी माता कल्लब्बे द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए इन्हें सन् ९६२ में कादलूर नामक ग्राम दान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भा. ४, लेख ८५]

नागनन्दि (द्वितीय)

मैसूर प्रदेश के रायचूर जिले में स्थित उप्पिनबेटगेरी ग्राम से प्राप्त एक शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये सूरस्थ गण के श्रीनन्दि के शिष्य विनयनन्दि के शिष्य थे। राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराज (तृतीय) के राज्यकाल में महासामन्त शंकरगण्ड ने कोप्पण तीर्थ में जयधीर जिनालय नामक मन्दिर बनवाया था उसके लिए महासामन्त रट्टय्य ने सन् ९६४ में नागनन्दि को भूमिदान दिया था।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, शिलालेख क्र. ४६]

जयदेव

मैसूर प्रदेश के धारवाड़ जिले में स्थित प्राचीन तीर्थ लक्ष्मेश्वर से प्राप्त एक विस्तृत शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये देवगण के प्रधान देवेन्द्र के शिष्य एकदेव के शिष्य थे। गंग वंश के राजा मारसिंह ने गंगकन्दर्पजिन मन्दिर के लिए इन्हें सन् ९६८ में भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १४९]

अभयनन्दि

मैसूर प्रदेश के कडूर नगर से प्राप्त एक समाधिलेख से इनका परिचय मिलता है। ये देशी गण के आचार्य थे। देवेन्द्र—चान्द्रायण—गुणचन्द्र–अभयनन्दि ऐसी इनकी परम्परा बतायी है। इनकी शिष्या नाणब्बे की शिष्या पाम्बब्बे ने सन् ९७१ में सल्लेखना द्वारा देहत्याग किया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १५०]

धीरदेव, अर्हंनन्दि और नायसेन

आन्ध्र प्रदेश के पूर्व भाग के चालुक्य वंश के राजा अम्मराज (द्वितीय) विजयादित्य के तीन दानपत्रों से इन आचार्यों का परिचय मिलता है। इस राजा का राज्य सन् ९४५ से ९७० तक रहा था।

धीरदेव यापनीय संघ के कोटिमडुव गण के प्रधान थे। अर्हनन्दि की परम्परा के जिननन्दि के शिष्य दिवाकर इनके गुरु थे। अम्मराज के सेनापति दुर्गराज ने धर्मपुरी के दक्षिण में कटकाभरण नामक जिनमन्दिर बनवाया था। उसके लिए राजा ने एक ग्राम धीरदेव को अर्पित किया था।

अर्हनन्दि बल्हारिगण—अड्डकलि गच्छ के आचार्य थे। सकलचन्द्र के शिष्य अय्यपोटि इनके गुरु थे। पट्टवर्धिक कुल की श्राविका ने अम्मराज से निवेदन कर सर्व-लोकाश्रय नामक जिनमन्दिर के लिए अर्हनन्दि को एक ग्राम अर्पित किया था।

अम्मराज के सामन्त भीम और नरवाहन ने विजयवाटिका (आधुनिक विजय-वाड़ा) में दो जिनमन्दिर बनवाये थे। इनके लिए राजा ने इन सामन्तों के गुरु चन्द्र-सेन के शिष्य नाथसेन को एक ग्राम अर्पित किया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १४३-४४ तथा भाग ४, लेख १००]

अमृतचन्द्र

कुन्दकुन्द के समयसार पर अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति नामक संस्कृत व्याख्या लिखी है। संस्कृत के अध्यात्म-ग्रन्थों में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। जीव और कर्म के सम्बन्ध को संसाररूपी रंगभूमि पर अभिनीत नाटक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ज्ञानस्वरूप आत्मा की आनन्दमय अनुभूति का सुन्दर संस्कृत श्लोकों में वर्णन इस टीका की विशेषता है। ये श्लोक समयसार-कलश नाम से पृथक् ग्रन्थ के रूप में भी संकलित हुए हैं। हिन्दी में इन्हीं का रूपान्तर बनारसीदास विरचित नाटकसमयसार में प्राप्त होता है। प्रवचनसार और पंचास्तिकाय पर भी अमृतचन्द्र की व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। तत्त्वार्थसार में इन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के विषयों का पद्यबद्ध विवरण दिया है। पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय यह अमृतचन्द्र की ही सुन्दर रचना है। अध्यात्म और व्यवहार का सुन्दर समन्वय करते हुए इसमें श्रावकों के कर्तव्यों का विवेचन किया गया है। इसमें अहिंसा का जैसा सूक्ष्म तात्त्विक और व्यावहारिक विश्लेषण मिलता है वैसा अन्य किसी ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होता। इनका शक्तिमणिकोष नामक एक और ग्रन्थ कुछ वर्ष पूर्व मिला है। यह अभी अप्रकाशित है। पं. आशाधर ने अमृतचन्द्र का उल्लेख ठक्कुर इस विशेषण के साथ किया है। इससे ज्ञात होता है कि पूर्व वय में ये किसी गाँव के जमींदार रहे होंगे।

[पं. प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास में अमृतचन्द्र के समय आदि के विषय में चर्चा की गयी है।]

योगीन्दु

अध्यात्मपर ग्रन्थों में योगीन्दु के परमात्मप्रकाश और योगसार का स्थान बहुत ऊँचा है। अपभ्रंश दोहों में रचित इन ग्रन्थों में मार्मिक शब्दावली में आत्मसाधना के मार्ग का उपदेश दिया गया है। हिन्दी के निर्गुणवादी कवियों की शब्दावली का पूर्वरूप

इन दोहों में उपलब्ध है। ग्रन्थ-रचना में प्रेरक के रूप में योगीन्दु ने भट्टप्रभाकर का उल्लेख किया है। संस्कृत में अमृताशीति और प्राकृत में निजात्माष्टक ये इनकी अन्य दो रचनाएं भी प्रकाशित हुई हैं।

[परमात्मप्रकाश की प्रस्तावना में डॉ. उपाध्ये ने योगीन्दु के विषय में विस्तृत विवेचन किया है।]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के अन्य आचार्यों में आचारांग तथा सूत्रकृतांग की संस्कृत टीकाओं के रचयिता शीलांक (द्वितीय), भुवनसुन्दरी कथा नामक विस्तृत प्राकृत काव्य के प्रणेता विजयसिंह तथा संयममंजरी नामक अपभ्रंश काव्य के लेखक महेश्वर प्रमुख हैं। लघुसर्वज्ञसिद्धि तथा बृहत् सर्वज्ञसिद्धि इन प्रकरणों के रचयिता अनन्तकीर्ति भी इसी शताब्दी में हुए थे।

कन्नड भाषा के प्रारम्भिक साहित्य से भी इस शताब्दी के कुछ जैन आचार्यों का परिचय मिलता है। कन्नड आदिपुराण के रचयिता पम्प ने गुणनन्दि के शिष्य देवेन्द्र का गुरु-रूप में स्मरण किया है, यह रचना सन् ९४१ की है। कन्नड शान्तिनाथपुराण के प्रणेता पोन्न भी इसी काल के हैं, इन्होंने इन्द्रनन्दि और जिनचन्द्र का गुरु-रूप में स्मरण किया है।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की सोलहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ९७३ से १०७३]

अजितसेन

ये सेनगण के आचार्य आर्यसेन के शिष्य थे। इनके तीन महत्त्वपूर्ण शिष्यों का वृत्तान्त श्रवणबेलगोल के शिलालेखों से तथा उनके साहित्य से ज्ञात होता है।

श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर स्थित एक स्तम्भ पर गंग वंश के राजा मारसिंह के समाधिमरण का स्मारक लेख है। मारसिंह के राजनीतिक जीवन की सफलताओं का—विभिन्न युद्धों में प्राप्त विजयों का तथा प्रशंसात्मक विरुदों का उल्लेख करने के बाद कहा गया है कि उन्होंने बंकापुर में अजितसेन गुरु के सान्निध्य में समाधिमरण स्वीकार किया। यह घटना सन् ९७४ की है।

मारसिंह के उत्तराधिकारी राजमल्ल के सेनापति चामुण्डराय भी अजितसेन के शिष्य थे। इन्होंने संस्कृत में चारित्रसार तथा कन्नड में त्रिषष्टिशलाकापुरुषपुराण (सन् ९७८) की रचना की है। ये दोनों ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। दोनों में ग्रन्थकर्ता के गुरु के रूप में अजितसेन का उल्लेख है। श्रवणबेलगोल के विन्ध्यगिरि पर्वत पर स्थित विश्वविख्यात गोम्मटेश्वर बाहुबली की महामूर्ति का निर्माण भी चामुण्डराय द्वारा ही किया गया था। यहीं के चन्द्रगिरि पर्वत पर भी चामुण्डरायवसति नामक मन्दिर है। इसमें चामुण्डराय के पुत्र जिनदेव द्वारा स्थापित जिनमूर्ति है।

कन्नड के महाकवि रन्न के अजितनाथ पुराण में भी अजितसेन का गुरु रूप में उल्लेख है। यह ग्रन्थ सन् ९९३ में पूर्ण हुआ था।

नेमिचन्द्र के गोम्मटसार में अजितसेन को गुण-समूह के धारक तथा भुवनगुरु कहा गया है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भा. १ की प्रस्तावना में डॉ. हीरालाल जैन ने तथा जैन साहित्य और इतिहास में पं. प्रेमी ने अजितसेन का परिचय दिया है।]

वीरनन्दि

ये गुणनन्दि के शिष्य अभयनन्दि के शिष्य थे। इनका चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य सुप्रसिद्ध है। इसमें आठवें तीर्थंकर की जीवनकथा पाँच पूर्वजन्मों के साथ विस्तार से वर्णित है। संस्कृत भाषा के साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से यह रचना उच्च कोटि की

है। वादिराज ने पार्श्वचरित में इनकी प्रशंसा में एक श्लोक लिखा है। नेमिचन्द ने गुरु-रूप में इनका स्मरण किया है।

इन्द्रनन्दि

इनकी श्रुतावतार नामक रचना संक्षिप्त होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। षट्खण्डागम तथा कषायप्राभृत इन सिद्धान्त ग्रन्थों तथा उनकी टीकाओं के विषय में महत्त्वपूर्ण विवरण इन्द्रनन्दि ने दिया है। जैन आचार्यों के कालक्रम को निश्चित करने में श्रुतावतार से बहुत सहायता मिली है। नेमिचन्द्र ने इनका भी गुरुरूप में स्मरण किया है।

[पं. प्रेमी ने जैन साहित्य और इतिहास में इन दोनों आचार्यों का परिचय दिया है।]

नेमिचन्द्र

ये सिद्धान्तचक्रवर्ती के विरुद से प्रसिद्ध हैं। उन्हीं के कथनानुसार जिस प्रकार चक्रवर्ती अपने चक्र से भरत क्षेत्र के छह खण्डों को जीतता है उसी प्रकार बुद्धिरूपी चक्र से नेमिचन्द्र ने आगम के छह खण्डोंको जीत लिया था। उनके इस गहन अध्ययन का सार गोम्मटसार नामक ग्रन्थ में निबद्ध है। जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड इन दो भागों में इस ग्रन्थ की रचना हुई है। लब्धिसार ग्रन्थ भी नेमिचन्द्र ने लिखा जो गोम्मटसार के परिशिष्ट के समान है। इनके त्रिलोकसार में लगभग एक हजार गाथाओं में विश्वस्वरूप सम्बन्धी प्राचीन मान्यताएँ संकलित हैं। गोम्मटसार के विभिन्न प्रकरणों में आचार्य ने अभयनन्दि, इन्द्रनन्दि, वीरनन्दि (इन तीनों का ऊपर उल्लेख हो चुका है), कनकनन्दि तथा अजितसेन का गुरुरूप में उल्लेख किया है। चामुण्डराय द्वारा गोमटेश्वर-मूर्ति के निर्माण का तथा वीरमार्तण्डी नामक देशी (कन्नड़) व्याख्या का भी उल्लेख हुआ है। चामुण्डराय के आग्रह से संकलित होने के कारण ही गोम्मटसार यह नाम इस ग्रन्थ को दिया गया था। पहले द्रव्यसंग्रह यह छोटा-सा ग्रन्थ भी इन्हीं नेमिचन्द्र का माना गया था किन्तु अब यह भ्रम दूर हो चुका है।

[पुरातन जैन वाक्य सूची की प्रस्तावना में पं. मुख्तार ने नेमिचन्द्र के विषय में विस्तृत चर्चा की है।]

अमितगति

ये माथुर संघ के आचार्य थे। इन्होंने अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलायी है—वीरसेन—देवसेन—अमितगति (प्रथम, जिनका योगसार नामक संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है)—नेमिषेण—माधवसेन—अमितगति (द्वितीय, प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता)। इनकी सात संस्कृत रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। सुभाषितरत्नसन्दोह में लगभग ९०० श्लोकों में वैराग्य का उपदेश है। इसकी रचना राजा मुंज के राज्य में सन् ९९३ में

हुई थी। धर्मपरीक्षा में वैदिक पुराणों की अविश्वसनीयता कथाओं के माध्यम से स्पष्ट की है। यह सन् १०१३ में पूर्ण हुई थी। पंचसंग्रह की रचना सन् १०१६ में धारा के समीप मसूतिका (वर्तमान मसोद ग्राम) में हुई थी। कर्मबन्ध सम्बन्धी विवरण देनेवाला यह ग्रन्थ इसी नाम के प्राकृत ग्रन्थ का संस्कृत रूपान्तर है। शिवार्य की आराधना का संस्कृत रूपान्तर भी अमितगति ने किया है। इनकी तत्त्वभावना में आत्मचिन्तन के विषय में १२० श्लोक हैं। बत्तीस श्लोकों की भावना द्वात्रिंशतिका अमितगति की सबसे अधिक लोकप्रिय रचना है। यह सामायिक पाठ के नाम से भी प्रसिद्ध है। इनके उपासकाचार (या श्रावकाचार) में जैन गृहस्थों के आदर्श आचरण का सुन्दर विवरण है। तत्त्वज्ञान की भी विस्तृत चर्चा इसमें मिलती है। अमितगति के सभी ग्रन्थ सरल भाषा-शैली के कारण समाज में सुप्रचलित रहे हैं।

[पं. प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास में अमितगति का विस्तृत परिचय देनेवाला निबन्ध है।]

जयसेन

ये लाडबागड संघ के आचार्य थे। इनका धर्मरत्नाकार नामक ग्रन्थ प्राप्त हुआ है। करहाटक (वर्तमान कन्हाड महाराष्ट्र) में सन् ९९९ में इसकी रचना पूर्ण हुई थी। प्रशस्ति के अनुसार जयसेन की गुरुपरम्परा इस प्रकार थी—धर्मसेन—शान्तिषेण—गोपसेन—भावसेन—जयसेन। ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है।

[जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भाग १, प्रशस्ति २]

महासेन

ये जयसेन के शिष्य गुणाकरसेन के शिष्य थे। मुंज राजा ने इनका सम्मान किया था। मुंज के उत्तराधिकारी सिन्धुराज के महामन्त्री पर्पट के आग्रह से इन्होंने प्रद्युम्नचरित महाकाव्य की रचना की। यह प्रकाशित हो चुका है। श्रीकृष्ण के पुत्र और कामदेव के रूप में प्रसिद्ध प्रद्युम्नकुमार की रोचक कथा इसमें वर्णित है। शृंगार, वीर, हास्य और शान्त रस का उत्तम परिपोष इसमें प्राप्त होता है।

[पं. प्रेमीजी ने जैन साहित्य और इतिहास में महासेन का परिचय दिया है।]

अभयदेव

सिद्धसेन के सन्मतिसूत्र पर अभयदेव ने वादमहार्णव नामक टीका लिखी जिसका विस्तार २५००० श्लोकों जितना है। आत्मा, ईश्वर, सर्वज्ञ, मुक्ति, वेदप्रामाण्य आदि विविध विषयों का तर्कदृष्टि से विस्तृत परीक्षण इस ग्रन्थ में मिलता है। अभयदेव चन्द्रकुल के प्रद्युम्नसूरि के शिष्य थे। इनके शिष्य धनेश्वर राजा मुंज की सभा में सम्मानित हुए थे। इनकी परम्परा को राजगच्छ यह नाम मिला था।

[पं. सुखलालजी और पं. बेचरदासजी द्वारा सम्पादित सन्मतिटीका गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अहमदाबाद से १९२३–३० में प्रकाशित हुई है ।]

पद्मनन्दि

ये वीरनन्दि के शिष्य बलनन्दि के शिष्य थे । इनका जम्बूदीवपण्णत्तिसंगह नामक प्राकृत ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है । राजस्थान के बारा नगर में जिनधर्म के प्रति वत्सल शक्ति राजा के राज्य में यह ग्रन्थ लिखा गया था । तेरह अधिकारों में लगभग २४०० गाथाओं में जम्बूद्वीप सम्बन्धी प्राचीन मान्यताओं का अच्छा विवरण इसमें प्राप्त होता है । माघनन्दि के शिष्य सकलचन्द्र के शिष्य श्रीनन्दि के आग्रह से पद्मनन्दि ने इस ग्रन्थ की रचना की थी ।

[डॉ. हीरालाल जैन तथा डॉ. उपाध्ये ने ग्रन्थ की प्रस्तावना में कर्ता का परिचय दिया है । जैन साहित्य और इतिहास में पं. प्रेमी का इस विषय पर निबन्ध भी उपयुक्त है ।]

वीरभद्र

इनके ग्रन्थ प्रकीर्णक इस नाम से आगमों में सम्मिलित किये गये हैं । चतुःशरण में ६३ गाथाओं में अरहन्त, सिद्ध, साधु तथा जिनप्रणीत धर्म इन चार को शरण जाने योग्य बताया है । आतुरप्रत्याख्यान में ७० गाथाओं में समाधिमरण का महत्त्व स्पष्ट किया है । भक्तपरिज्ञा में १७२ गाथाएँ हैं, इसमें भी समाधिमरण के विषय में विवेचन है तथा चित्त को निराकुल बनाने की आवश्यकता स्पष्ट की है । देवेन्द्रस्तव में ३०७ गाथाएँ हैं, इसमें तीर्थंकरों की वन्दना के प्रसंग से देवों के इन्द्रों के विषय में विवरण दिया गया है । आराधनापताका में ९९० गाथाओं में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का महत्त्व स्पष्ट किया है । इसकी रचना सन् १०२२ में हुई थी ।

[डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने प्राकृत साहित्य का इतिहास, अ. २ में इन ग्रन्थों का विवरण दिया है ।]

जिनेश्वर

इनका जन्म उज्जयिनी के एक ब्राह्मणकुल में हुआ था । ये चन्द्रकुल के आचार्य उद्द्योतन के शिष्य वर्धमान के शिष्य थे । उनके समय में प्रायः सभी जैन आचार्य स्थायी रूप से किसी जिनमन्दिर में निवास करते थे और इसलिए चैत्यवासी या मठपति कहलाते थे । वर्धमान ने इस स्थिति में सुधार कर पुरातन शास्त्रवर्णित मुनिचर्या को पुनः प्रवर्तित करने का प्रयास किया । इस कार्य में जिनेश्वर की विद्वत्ता से काफ़ी सफलता मिली । इन्होंने अणहिलपुर में चौलुक्य राजा दुर्लभराज की सभा में अपना पक्ष स्थापित कर प्रशंसा प्राप्त की । इनकी परम्परा आगे चलकर खरतर गच्छ इस नाम से प्रसिद्ध हुई ।

जालोर में सन् १०२३ में जिनेश्वर ने हरिभद्रकृत अष्टकप्रकरण पर विस्तृत व्याख्या लिखी। इसी वर्ष यहीं पर इनके बन्धु बुद्धिसागर ने संस्कृत व्याकरण की रचना की। इसी स्थान पर सोलह वर्ष बाद जिनेश्वर ने चैत्यवन्दनटीका की रचना की। इसके चार वर्ष पूर्व आशापल्ली में वे निर्वाणलीलावती नामक विस्तृत कथाग्रन्थ की रचना कर चुके थे। उनका कथाकोष प्रकरण सन् १०५२ में पूर्ण हुआ था। इसमें धर्माचरण के दृष्टान्तस्वरूप ४० कथाएँ सुन्दर प्राकृत में लिखी गयी हैं। श्वेताम्बरों के पास अपना कोई विस्तृत प्रमाणशास्त्र नहीं है। इस आक्षेप को दूर करने के लिए इन्होंने न्यायावतार के प्रथम श्लोक को आधार के रूप में लेकर प्रमालक्ष्म नामक वार्तिकग्रन्थ की रचना की। प्रमाण और तर्काधारित वाद की प्रक्रिया के विषय में विस्तृत विवरण इसमें प्राप्त होता है। षट्स्थानकप्रकरण और पंचलिंगीप्रकरण ये इनकी अन्य रचनाएँ हैं। पहली में श्रावकों के छह गुणों का तथा दूसरी में सम्यक्त्व के पाँच लक्षणों का विवेचन है।

जिनेश्वर के तीन शिष्य प्रथितयश ग्रन्थकर्ता हुए। जिनभद्र—जिनका दूसरा नाम धनेश्वर था—ने सन् १०३८ में चड्डावली नगर में सुरसुन्दरी कथा की रचना की। जिनचन्द्र ने सन् १०६८ में संवेगरंगशाला नामक विस्तृत कथाग्रन्थ लिखा। तीसरे शिष्य अभयदेव का परिचय आगे दिया गया है।

[सिंघी ग्रन्थमाला में प्रकाशित कथाकोष प्रकरण की भूमिका में मुनि जिनविजयजी ने इनका विस्तृत परिचय दिया है।]

अभयदेव (द्वितीय)

धारा नगर के एक श्रेष्ठिकुल में अभयदेव का जन्म हुआ था। इन्हें खरतर गच्छ के आचार्य जिनेश्वरसूरि से शिक्षा-दीक्षा प्राप्त हुई। एक बार शम्भाणा ग्राम में विहार करते हुए इन्हें कुष्ठरोग हुआ। रोग असाध्य समझकर उन्होंने सल्लेखना का विचार किया किन्तु शासनदेवता की प्रेरणा से वह विचार छोड़कर अनेक श्रावकों के साथ स्तम्भन तीर्थ (खम्भात नगर) के समीप सेढी नदी के तट पर पहुँचे। वहाँ पलाश वृक्षों के झुरमुट में पार्श्वनाथ की एक दिव्य प्रतिमा थी। आचार्य ने जय तिहुअण इन शब्दों से प्रारम्भ कर भक्तिपूर्वक पार्श्वस्तुति की रचना की। इसके प्रभाव से उनका रोग पूर्णतः दूर हो गया। यह स्तुति अब भी सुप्रसिद्ध है। खम्भात का यह पार्श्वनाथ मन्दिर भी तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध है। तदनन्तर अणहिलवाड़ पाटन की करडिहट्टी बसति में रहते हुए आचार्य ने स्थानांग से विपाकश्रुतांग तक नौ अंग ग्रन्थों पर वृत्ति की रचना की, यह कार्य सन् १०६३ से १०७१ तक सम्पन्न हुआ। पाल्हउदा ग्राम में आचार्य के कुछ भक्त श्रावक थे। उनके कुछ जहाज समुद्र में डूबने की अफ़वाह सुनकर वे दुखी हुए थे। आचार्य ने उन्हें धैर्य रखने को कहा। बाद में उनके सभी जहाज सकुशल लौटे। तब उन श्रावकों ने प्राप्त धन में से आधा भाग अंगग्रन्थों की प्रतियाँ लिखवाने में खर्च किया। इस प्रकार आचार्य की वृत्तियों का व्यापक प्रसार हुआ। सन् १०७८ में इनका स्वर्गवास हुआ।

इनके शिष्य वर्धमान द्वारा रचित मनोरमा कथा तथा आदिनाथचरित प्राप्त हैं। इनके दूसरे शिष्य जिनवल्लभ का उल्लेख आगे हुआ है।

[प्रभावकचरित, प्र. १९; प्रबन्धचिन्तामणि प्रकाश ५, प्र. २१; खरतरगच्छ बृहद्-गुर्वावलि, पृ. ६, ९०; नवांगवृत्तियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं।]

धर्मघोष-वर्धमान

गुजरात के चौलुक्य वंशीय महाराज भीमदेव के मन्त्री विमल चन्द्रावती नगर में शासन कर रहे थे। तब वहाँ धर्मघोष सूरि का विहार हुआ था। उनके उपदेश से प्रभावित होकर विमल ने आबू पर्वत पर नवीन भव्य जिनमन्दिर निर्माण करवाने का संकल्प किया। इस कार्य में अनेक बाधाएँ आयीं किन्तु अन्ततोगत्वा १८ करोड़ सुवर्ण-मुद्राओं का व्यय कर मन्त्रिवर ने प्रारब्ध कार्य पूर्ण किया। विमलवसही के नाम से प्रख्यात इस आदिनाथ मन्दिर की प्रतिष्ठा सन् १०३१ में वर्धमान सूरि के हाथों सम्पन्न हुई। श्वेत संगमर्मर की सुन्दर कलाकृतियों से सुशोभित यह मन्दिर आज भी देश-विदेश के दर्शकों को आश्चर्यचकित कर देता है।

[मुनि जयन्तविजय सम्पादित 'आबू' ग्रन्थ में इस मन्दिर का विस्तृत परिचय दिया गया है।]

शान्तिसूरि

इनका जन्म अणहिलपुर के समीप के एक ग्राम में हुआ था। चन्द्रकुल के अन्तर्गत थारापद्र गच्छ के आचार्य विजयसिंह से इन्हें शिक्षा-दीक्षा प्राप्त हुई। अणहिलपुर के राजा भीमदेव की सभा में कवि और वादी के रूप में इन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। तदनन्तर महाकवि धनपाल के निमन्त्रण पर वे धारा पहुँचे। राजा भोजदेव की सभा में अनेक वादियों को पराजित कर ख्याति प्राप्त की जिसके फलस्वरूप राजा ने इन्हें वादिवेताल यह बिरुद प्रदान किया। धनपाल की तिलकमंजरी कथा का संशोधन इनके द्वारा हुआ। अणहिलपुर के एक श्रेष्ठिपुत्र पद्म को सर्पदंश हुआ था, वह आचार्य के मन्त्रप्रभाव से स्वस्थ हो गया। उत्तराध्ययनसूत्र पर इनकी विस्तृत व्याख्या सुप्रसिद्ध है। इनके प्रधान शिष्यों के नाम वीर, शालिभद्र और सर्वदेव बताये गये हैं। सोढ नामक श्रावक के संघ के साथ आचार्य गिरनार की वन्दना के लिए गये थे। वहीं सन् १०४० में उनका स्वर्गवास हुआ।

[प्रभावकचरित में इनकी जीवनकथा विस्तार से दी है।]

शान्तिसूरि (द्वितीय)

प्राय: उपर्युक्त शान्तिसूरि के ही समय में पूर्णतल्ल गच्छ के आचार्य वर्धमान के शिष्य शान्तिसूरि हुए। इन्होंने सिद्धसेन के न्यायावतार पर वार्तिक की रचना की और

स्वयं उसपर टीका भी लिखी। प्रमाण, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन चार प्रकरणों में इस ग्रन्थ में प्रमाणशास्त्र का अच्छा विवेचन प्राप्त होता है। इन्होंने घटकर्पर, वृन्दावन, मेघाभ्युदय, शिवभद्र, चन्द्रदूत तथा तिलकमंजरी पर स्पष्टीकरणात्मक टीका-टिप्पण भी लिखे।

[पं. दलसुख मालवणिया ने न्यायावतार वार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना में इनका परिचय दिया है।]

महेन्द्र

ये चन्द्रकुल के आचार्य थे। धारा नगर में राजा भोज द्वारा सम्मानित महाकवि धनपाल के पिता सर्वदेव से इनकी भेंट हुई। सर्वदेव के घर में कुछ भूमिगत धन था। आचार्य की कृपा से उसकी प्राप्ति हुई। इसके प्रतिफल के रूप में सर्वदेव ने अपने कनिष्ठ पुत्र शोभन को आचार्य को सौंप दिया। आगमों का अध्ययन करने के बाद शोभन ने अपने बड़े भाई धनपाल को भी जैन बनाया। शोभन मुनि की चतुर्विंशतिजिनस्तुति प्रसिद्ध है। धनपाल की बुद्धिमत्ता, कवित्व शक्ति तथा धर्मप्रियता की अनेक कथाएँ प्राप्त होती हैं। इनकी तिलकमंजरी कथा संस्कृत गद्य साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुकी है।

[प्रभावकचरित तथा प्रबन्धचिन्तामणि में धनपाल सम्बन्धी कथाएँ विस्तार से प्राप्त होती हैं।]

सूराचार्य

ये अणहिलपुर के राजा भीमदेव के मामा के पुत्र थे। द्रोणाचार्य के पास इनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। इनकी कविप्रतिभा की प्रशंसा सुनकर राजा भोजदेव ने इन्हें आमन्त्रित किया। धारा में इनका सम्मान तो किया गया किन्तु वहाँ के पण्डित इनसे पराजित हुए। अपने सभापण्डितों के अपमान से क्षुब्ध होकर भोज ने इन्हें क़ैद करना चाहा किन्तु धनपाल की सहायता से ये गुप्त रूप से अणहिलपुर लौट गये। इनका नाभेयनेमिद्विसन्धान नामक महाकाव्य प्राप्त है जिसमें श्लेष अलंकार का विस्तृत उपयोग कर एक ही काव्य में आदिनाथ और नेमिनाथ का चरित वर्णन किया गया है।

[प्रभावकचरित में इनकी कथा विस्तार से दी है।]

वादिराज

ये नन्दिसंघ के अरुंगल अन्वय के आचार्य श्रीपाल के शिष्य मतिसागर के शिष्य थे। इनके गुरुबन्धु दयापाल ने रूपसिद्धि नामक व्याकरण ग्रन्थ लिखा है। वादिराज ने अकलंकदेव के न्यायविनिश्चय पर २० हजार श्लोकों जितने विस्तार की टीका लिखी है जो प्रकाशित हो चुकी है। इससे जैन-जैनेतर दर्शनों का उनका अध्ययन और तर्कविद्या में निपुणता प्रकट होती है। तर्कशास्त्र पर प्रमाणनिर्णय

नामक एक छोटा ग्रन्थ भी उन्होंने लिखा था। यह भी प्रकाशित हुआ है। सन् १०२५ में राजा जयसिंह के राज्यकाल में इनका पार्श्वचरित पूर्ण हुआ। तीर्थंकर पार्श्वनाथ की नौ पूर्वभवों के साथ काव्यमय रूप में वर्णित कथा इसका विषय है। यह ग्रन्थ कट्टगेरी नामक स्थान में पूर्ण हुआ था। प्रशस्ति में वादिराज ने अपने प्रगुरु श्रीपाल को सिंहपुरैक-मुख्य कहा है जिससे ज्ञात होता है कि इनके मठ के लिए सिंहपुर ग्राम दान मिला होगा। एकीभावस्तोत्र वादिराज की सुप्रसिद्ध रचना है। कथा के अनुसार इस स्तोत्र के प्रभाव से उनका कुष्ठरोग दूर हुआ था। स्तोत्र के चार श्लोकों से भी संकेत मिलता है कि इसकी रचना के समय कवि किसी रोग से पीड़ित थे। दक्षिण के बीसों शिलालेखों में वादिराज की प्रशंसा की गयी है जिससे मालूम होता है कि उन्होंने त्रैलोक्यदीपिका नामक ग्रन्थ लिखा था (यह अप्राप्त है) तथा राजा जयसिंह उनका सम्मान करते थे। उनकी एक और रचना यशोधरचरित प्रकाशित हो चुकी है।

[पं. प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास में वादिराज के विषय में एक निबन्ध है।]

प्रभाचन्द्र

धारा नगर में महाराज भोजदेव के समय में विद्यमान विद्वन्मण्डल में प्रभाचन्द्र का विशिष्ट स्थान था। उनकी बहुमुखी प्रतिभा के प्रमाण चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख की व्याख्या है। इसका विस्तार १२००० श्लोकों जितना है। मूल ग्रन्थ में प्रमाणों का विवेचन है। इस व्याख्या में प्रमाणों के विषयों के रूप में, विश्व के स्वरूप के विषय में विविध वादविषयों की सूक्ष्म चर्चा उपलब्ध है। इसी प्रकार न्यायकुमुदचन्द्र अकलंकदेव के लघीयस्त्रय की व्याख्या है। इसमें भी मूल ग्रन्थ के प्रमाण-विषयों के साथ प्रमेय-विषयों का विस्तृत विवेचन है। इसका विस्तार १६००० श्लोकों जितना है। शब्दाम्भोज भास्कर जैनेन्द्र-व्याकरण की विस्तृत व्याख्या है जो अभी पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं है। इन तीन व्याख्या-ग्रन्थों के समान ही प्रभाचन्द्र की स्वतन्त्र कृति—गद्यकथाकोष—भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। धर्माराधन के उदाहरणों के रूप में इसमें कथाएँ दी गयी हैं। समन्तभद्र, अकलंक और पात्रकेसरी के विषय में इनकी कथाओं का उल्लेख पहले हो चुका है। पुष्पदन्त के अपभ्रंश महापुराण पर प्रभाचन्द्र के टिप्पण संक्षिप्त होते हुए भी अपभ्रंश शब्दों के अर्थज्ञान के लिए महत्त्व के सिद्ध हुए हैं।

श्रवणबेलगोल के दो शिलालेखों में प्रभाचन्द्र की प्रशंसा प्राप्त होती है। इससे ज्ञात होता है कि इनका प्रारम्भिक जीवन दक्षिण में बीता था। पद्मनन्दि और वृषभ-नन्दि उनके गुरु थे। उनके कई गुरुबन्धुओं के नाम भी इन लेखों में मिलते हैं। धारा नगर में उनके गुरुबन्धु नयनन्दि का आगे उल्लेख होगा।

[न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना में पं. कैलाशचन्द्र और पं. महेन्द्रकुमार ने प्रभाचन्द्र के विषय में विस्तृत विवेचन किया है।]

नयनन्दि

इनके दो अपभ्रंश ग्रन्थ प्राप्त हैं। सुदर्शनचरित में नमस्कार मन्त्र और ब्रह्मचर्याणुव्रत का महत्त्व प्रकट करते हुए सुदर्शन श्रेष्ठी की कथा का काव्यमय वर्णन है। यह ग्रन्थ महाराज भोज के राज्यकाल में धारा नगर में सन् १०४३ में पूर्ण हुआ था। नयनन्दि के दूसरे ग्रन्थ सकलविधिविधान काव्य में श्रावकों के आचारधर्म का अनेक कथाओं के उदाहरण देते हुए विस्तृत वर्णन दिया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अनेक उल्लेख इस काव्य में प्राप्त होते हैं। कवि ने अपनी गुरुपरम्परा विस्तार से इस प्रकार बतलायी है—कुन्दकुन्दान्वय के पद्मनन्दि–विष्णुनन्दि—अनेक ग्रन्थों के कर्ता विश्वनन्दि–वृषभनन्दि–आगमों के उपदेशक, तपस्वी और राजाओं द्वारा पूजित रामनन्दि –त्रैलोक्यनन्दि–महापण्डित माणिक्यनन्दि–नयनन्दि।

[जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भाग २ में पं. परमानन्द शास्त्री ने इन ग्रन्थों का परिचय दिया है।]

मल्लिषेण

इन्होंने अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलायी है–अजितसेन (जिनका पहले चामुण्डराय के गुरु के रूप में परिचय आ चुका है) – कनकसेन–जिनसेन–मल्लिषेण। इनके छह संस्कृत ग्रन्थ प्राप्त हैं। महापुराण में लगभग दो हजार श्लोकों में शलाकापुरुषों की कथाओं का वर्णन है। इसकी रचना सन् १०४८ में मुलगुन्द नगर में हुई थी (मैसूर प्रदेश के धारवाड़ जिले में यह नगर है, यहाँ पुरातन जिनमन्दिर अब भी विद्यमान हैं)। नागकुमारचरित में लगभग ५०० श्लोकों में नागकुमार की कथा सुन्दर शैली में बतलायी है। भैरवपद्मावतीकल्प, सरस्वतीकल्प, ज्वालिनीकल्प तथा कामचाण्डालीकल्प ये चार ग्रन्थ मन्त्रशास्त्र के हैं। इन देवताओं की आराधना द्वारा विविध विपत्तियों के परिहार और समृद्धि-प्राप्ति की विधियाँ इन ग्रन्थों में बतलायी हैं। जैन मन्त्रशास्त्र में इन ग्रन्थों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

[पं. प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास में मल्लिषेण पर एक निबन्ध है।]

नरेन्द्रसेन-नयसेन

उपर्युक्त मुलगुन्द नगर से प्राप्त एक विस्तृत शिलालेख से मल्लिषेण की परम्परा के कुछ अन्य आचार्यों का भी परिचय मिलता है। मल्लिषेण के गुरु जिनसेन तथा प्रगुरु कनकसेन थे यह ऊपर बताया है। इस लेख में कनकसेन के दूसरे शिष्य नरेन्द्रसेन और उनके शिष्य नयसेन की प्रशंसा मिलती है। ये दोनों व्याकरणशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् थे ऐसा लेख में कहा गया है। महासामन्त बेलदेव ने अपनी माता गोज्जिकब्बे की स्मृति में सन् १०५३ में नयसेन आचार्य को कुछ भूमि दान दी थी। सिन्द कुल के सामन्त कंचरस की भी नयसेन के प्रति श्रद्धा थी इसका भी लेख में वर्णन है।

वादिराज ने न्यायविनिश्चय विवरण की अन्तिम प्रशस्ति में श्लेष द्वारा कनकसेन और नरेन्द्रसेन का नामोल्लेख कर उनके प्रति अपना आदर प्रकट किया है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख १३८]

सुदत्त व शान्तिदेव

मैसूर प्रदेश के दक्षिण भाग में लगभग ३५० वर्षों तक शासन करनेवाले होयसल वंश के प्रारम्भिक राजा जैन आचार्यों के शिष्य थे। सोरब ग्राम के लेख में कहा गया है कि इस वंश के प्रथम राजा सल जब सुदत्त मुनि के दर्शन कर रहे थे तब एक चीता उनपर झपटा किन्तु सल ने साहसपूर्वक अपनी और गुरु की रक्षा की थी।

सल के बाद के प्रमुख राजा नृपकाम और उनके बाद विनयादित्य हुए। विनयादित्य द्वारा स्थान-स्थान पर जिनमन्दिर बनवाये गये थे। श्रवणबेलगोल के एक लेख के शब्दों में—मन्दिरों के लिए ईंटें बनवाने के लिए जहाँ से मिट्टी खोदी गयी वहाँ तालाब बन गये, पत्थरों के लिए जिन पहाड़ों में खुदाई हुई वे भूमि से समतल हो गये तथा चूने की गाड़ियाँ जिन रास्तों से गुजरीं वहाँ घाटियाँ बन गयीं। इसी समय के एक अन्य लेख में विनयादित्य की समृद्धि का श्रेय उनके गुरु शान्तिदेव की उपासना को दिया गया है। मूडगेरे तालुके में स्थित अंगडि नामक स्थान में प्राप्त लेख के अनुसार शान्तिदेव सन् १०६२ में दिवंगत हुए थे। उनकी स्मृति में नागरिकों द्वारा स्थापित स्तम्भ पर यह लेख उत्कीर्ण है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, लेख ४५७; भाग १, लेख ५३-५४ तथा भाग २ लेख २००]

श्रीचन्द्र

इनकी दो अपभ्रंश रचनाएँ प्राप्त हैं। रयणकरण्ड में श्रावकों के व्रतों का महत्त्व कथाओं के माध्यम से २१ प्रकरणों में स्पष्ट किया है। इसकी रचना श्रीबालपुर में राजा कर्णदेव के राज्य में सन् १०६६ में पूर्ण हुई थी। इनका दूसरा ग्रन्थ कथाकोश अणहिलपुर में लिखा गया था। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की साधना के उदाहरण-स्वरूप कथाओं का इसमें संग्रह किया गया है। गुजरात के राजा मूलराज के दरबार में सम्मानित श्रेष्ठी सज्जन के पुत्र कृष्ण के पुत्रों के आग्रह से इसकी रचना हुई थी। ग्रन्थकर्ता ने अपनी गुरुपरम्परा विस्तार से बतलायी है। देशी गण के आचार्य श्रीकीर्ति के शिष्य श्रुतकीर्ति हुए जो कलचुरि वंश के राजा गांगेय तथा मालवा के परमार वंश के राजा भोजदेव द्वारा सम्मानित हुए थे। इनके शिष्य सहस्रकीर्ति के पाँच शिष्य थे—देवचन्द्र, वासवमुनि, उदयकीर्ति, शुभचन्द्र तथा वीरचन्द्र। इनमें से अन्तिम वीरचन्द्र ग्रन्थकर्ता के गुरु थे।

[जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भाग २, प्रशस्ति ७-८; कथाकोश डॉ. हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है ।]

वादीभसिंह

इनकी तीन महत्त्वपूर्ण रचनाएँ उपलब्ध हैं । गद्यचिन्तामणि एक विस्तृत गद्यकथा है जिसमें जीवन्धर की काव्यपूर्ण कथा का सुन्दर चित्रण प्राप्त होता है । संस्कृत गद्य साहित्य में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है । क्षत्रचूडामणि में जीवन्धर की ही कथा श्लोकबद्ध रूप में प्रस्तुत की है । इसकी विशेषता यह है कि प्रायः प्रत्येक श्लोक में एक सुभाषित ग्रथित है और इस तरह प्रारम्भ से अन्त तक अर्थान्तरन्यास अलंकार का लगातार प्रयोग किया गया है । सरल भाषा के कारण यह काव्य काफ़ी लोकप्रिय रहा है—इसके अनेक अनुवाद विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित हुए हैं । तमिल भाषा का प्राचीन महाकाव्य तिरुतक्कदेव कृत जीवकचिन्तामणि इसी पर आधारित कहा जाता है । वादीभसिंह की तीसरी कृति स्याद्वादसिद्धि तर्कशास्त्र की रचना है जो अभी खण्डित रूप में प्राप्त हुई है । इसके सोलह प्रकरणों में जीव, सर्वज्ञ, ब्रह्म, ईश्वर आदि के विषय में विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्राप्त होता है ।

गद्यचिन्तामणि में वादीभसिंह के गुरु का नाम पुष्पसेन बताया है । इसी की एक प्रति में वादीभसिंह का मूल नाम ओडयदेव बताया गया है ।

[गद्यचिन्तामणि के संस्करण में कुप्पुस्वामी शास्त्री और स्याद्वादसिद्धि के संस्करण में पं. दरबारीलाल ने वादीभसिंह के विषय में विवेचन किया है ।]

शुभचन्द्र

इनका एकमात्र संस्कृत ग्रन्थ ज्ञानार्णव काफ़ी महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय रहा है । ४२ अध्याय और लगभग २१०० श्लोकों के इस ग्रन्थ में ध्यान का सर्वांगीण विवेचन प्रथमतः उपलब्ध होता है । योगसाधना के प्राणायाम आदि अंगों का विस्तृत वर्णन और ध्यान के पिण्डस्थ, पदस्थ आदि प्रकारों का विवेचन इस ग्रन्थ में है । साथ ही मुनि की जीवनचर्या के सम्बन्ध में आवश्यक विषयों का—महाव्रत, अनुप्रेक्षा आदि का भी सरल भाषा में वर्णन किया गया है । हेमचन्द्र के योगशास्त्र के आधारभूत ग्रन्थ के रूप में भी ज्ञानार्णव का महत्त्व है । इसके दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं ।

[पं. प्रेमीजी के जैन साहित्य और इतिहास में शुभचन्द्र पर एक निबन्ध है ।]

वसुनन्दि

इनका उपासकाध्ययन नामक प्राकृत ग्रन्थ वसुनन्दि श्रावकाचार के नाम से भी प्रसिद्ध है । श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं का विशद वर्णन इसमें प्राप्त होता है । विशेष रूप से जिनपूजा और जिनबिम्बप्रतिष्ठा का महत्त्व इसमें प्रतिपादित हुआ है । इस विषय

पर संस्कृत में वसुनन्दि का प्रतिष्ठापाठ भी प्रकाशित हुआ है। उपासकाध्ययन में इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार दी है—कुन्दकुन्दान्वय में श्रीनन्दि के शिष्य नयनन्दि हुए, उनके शिष्य नेमिचन्द्र वसुनन्दि के गुरु थे। समन्तभद्र कृत आप्तमीमांसा तथा जिनशतक एवं वट्टकेर कृत मूलाचार पर वसुनन्दि की विस्तृत संस्कृत टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं। इनसे तर्क, काव्य और आगम के उनके विस्तृत अध्ययन का परिचय मिलता है।

[पं. हीरालालजी द्वारा सम्पादित श्रावकाचार की प्रस्तावना में वसुनन्दि के विषय में विवेचन किया गया है।]

कनकामर

ये मंगलदेव के शिष्य थे। आसाइय नगर में लिखित करकण्डुचरित नामक अपभ्रंश काव्य के ये कर्ता हैं। इस काव्य में पार्श्वनाथ और महावीर के मध्यवर्ती समय में हुए प्रत्येकबुद्ध राजर्षि करकण्डु की रोमांचपूर्ण कथा वर्णित है। विशेष महत्व की बात यह है कि इसमें महाराष्ट्र के उस्मानाबाद जिले में स्थित धाराशिव की गुहाओं का करकण्डु द्वारा निर्मित रूप में वर्णन है। यहाँ की पार्श्वनाथ-मूर्ति अग्गलदेव के नाम से मध्ययुग में प्रसिद्ध थी। इस काव्य के दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

[डॉ. हीरालाल जैन ने इस काव्य की प्रस्तावना में कनकामर और धाराशिव की गुहाओं का विस्तृत परिचय दिया है।]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के साहित्य और शिलालेखों से ज्ञात होनेवाले प्रमुख आचार्यों का परिचय अबतक प्रस्तुत किया। शिलालेखों से ज्ञात होनेवाले इस शताब्दी के अन्य आचार्यों का संक्षिप्त विवरण आगे दिया जा रहा है।

अनन्तवीर्य

मैसूर प्रदेश के कूडगु जिले में स्थिति पेग्गूर ग्राम के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये बेलगोल के वीरसेन के शिष्य गोणसेन के शिष्य थे। गंग वंश के राजा राजमल्ल के शासनकाल में सन् ९७७ में इन्हें पेग्गूर के जिनमन्दिर के लिए कुछ दान दिया गया था। इसका शिलालेख चन्द्रनन्दि ने लिखा था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १५४]

कनकप्रभ

मैसूर प्रदेश के बेलगाँव जिले में स्थित येडरावी ग्राम से प्राप्त शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। सन् ९७९ में वहाँ के जिनमन्दिर के लिए बारह ग्रामप्रमुखों ने इन्हें कुछ भूमि प्रदान की थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ५, लेख १८]

रविचन्द्र

मैसूर प्रदेश के गुब्बि तालुके में स्थित बिदरे ग्राम से प्राप्त समाधिलेख के अनुसार रविचन्द्र का स्वर्गवास सन् ९७९ में हुआ था। ये त्रिलोकचन्द्र के शिष्य थे। इनके स्मृतिलेख की स्थापना भानुकीर्ति ने की थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १५८]

बाहुबली

मैसूर प्रदेश के सौन्दत्ती नगर से प्राप्त सन् ९८० के लेख के अनुसार सामन्त शान्तिवर्मा ने वहाँ के जिनमन्दिर के लिए कण्डूर गण के प्रधान आचार्य बाहुबली को भूमिदान दिया था। लेख के अनुसार ये व्याकरण और तर्कशास्त्र के विशिष्ट विद्वान् थे। इसी लेख में रविचन्द्र, अर्हणन्दि, शुभचन्द्र, मौनिदेव तथा प्रभाचन्द्र इन आचार्यों के प्रशंसात्मक श्लोक भी हैं।

[उपर्युक्त, लेख १६०]

गुणवीर

तमिलनाडु प्रदेश के उत्तर अर्काट जिले में स्थित तिरुमलै नामक पहाड़ी स्थान से प्राप्त शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। चोल वंश के राजा राजराज के शासन काल में उत्कीर्ण इस लेख के अनुसार महामुनि गुणवीर ने गणिशेखर मरुपोर्चुरियन् की स्मृति में एक नहर का निर्माण कराया था। इसी प्रदेश के दक्षिण अर्काट जिले में स्थित चोलवाण्डिपुरम् ग्राम से प्राप्त शिलालेख में भी गुणवीर का नामोल्लेख है। यहाँ की पहाड़ी पर उत्कीर्ण महावीर, पार्श्वनाथ, गोम्मटदेव, बाहुबली तथा पद्मावती की मूर्तियों की पूजा के लिए गुणवीर भट्टारक को कुछ दान दिया गया था। इसमें गुणवीर के निवास स्थान का नाम कुरण्डि बताया है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १७१ तथा भाग ४, लेख ८]

कुलचन्द्र-यशोनन्दि

उड़ीसा के प्रसिद्ध तीर्थस्थान खण्डगिरि के दो शिलालेखों से इनका परिचय मिलता है। समय निश्चित न होने पर भी अक्षरों की बनावट के आधार पर ये लेख सन् १००० के आसपास के माने गये हैं। देशी गण के आचार्य कुलचन्द्र के शिष्य शुभचन्द का इन लेखों में नामोल्लेख है। इनसे ज्ञात होता है कि खारवेल द्वारा प्रवर्तित जैनधर्म के सम्मान की परम्परा उड़ीसा में दसवीं शताब्दी में भी जीवित थी। यहीं के एक अन्य लेख में यशोनन्दि द्वारा यहाँ के प्राचीन स्थानों के जीर्णोद्धार का वर्णन है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख ९३-९५]

अनन्तवीर्य

मैसूर प्रदेश के विजापुर जिले में स्थित मरोल ग्राम से प्राप्त सन् १०२४ के शिलालेख में इनकी विस्तृत प्रशंसा प्राप्त होती है। चालुक्य सम्राट् सत्याश्रय की कन्या महादेवी द्वारा इस ग्राम के जिनमन्दिर के लिए दिये गये दान के प्रसंग में यह लेख खुदवाया गया था। इसके अनुसार अनन्तवीर्य व्याकरण, कोश, छन्द, गणित, ज्योतिष आदि कई शास्त्रों में पारंगत थे। इनके बाद के गुणकीर्ति और देवकीर्ति का तथा पूर्व के कई आचार्यों का भी वर्णन लेख में है।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ. १०५]

कनकनन्दि

मैसूर प्रदेश के रायचूर जिले में स्थित मस्की ग्राम से प्राप्त सन् १०३२ के लेख में इनका वर्णन मिलता है। इस ग्राम को उस समय राजधानी होने का गौरव प्राप्त हुआ था तथा चालुक्य सम्राट् जगदेकमल्ल की कन्या सोमलदेवी वहाँ शासन कर रही थी। सम्राट् के नाम पर वहाँ का मन्दिर जगदेकमल्ल जिनालय कहलाता था। इसके लिए सोमलदेवी ने भूमि दान दी थी। लेख में कनकनन्दि को अष्टोपवासी कहा गया है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख १२६]

बालचन्द्र

मैसूर प्रदेश के बेलगाँव जिले में स्थित हूलि ग्राम के सन् १०४४ के लेख में इनका वर्णन है। इस समय वहाँ के शासक की पत्नी लच्छियव्वे ने उक्त ग्राम में एक जिनमन्दिर का निर्माण कराया था तथा उसके लिए बालचन्द्र को दान दिया था। लेख के अनुसार ये यापनीय संघ के आचार्य थे।

[उपर्युक्त, लेख १३०]

गोवर्धन

मैसूर प्रदेश के धारवाड़ जिले में स्थित मुगद ग्राम से प्राप्त सन् १०४५ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। चावुण्ड नामक ग्रामप्रमुख ने वहाँ सम्यक्त्व-रत्नाकर नामक जिनमन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए गोवर्धन को भूमिदान दिया था। गोवर्धन कुमुदि गण के आचार्य थे। इनकी परम्परा के बहुत-से आचार्यों के नाम लेख में मिलते हैं किन्तु बीच-बीच में लेख टूटा होने से इनका परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ. १४२]

नागसेन

मैसूर प्रदेश के बिजापुर जिले में स्थित अरसिबीडि नगर से प्राप्त सन् १०४७ के शिलालेख में इनका वर्णन है। चालुक्य सम्राट् जयसिंह (द्वितीय) की बहन अक्कादेवी ने उसके नाम पर निर्मित जिनमन्दिर के लिए सेनगण के आचार्य नागसेन को कुछ भूमि प्रदान की थी।

[उपर्युक्त, पृ. १०५]

केशवनन्दि

मैसूर प्रदेश के शिकारपुर तालुके के बेलगामि ग्राम के सन् १०४८ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये बलगार गण के मेघनन्दि आचार्य के शिष्य थे। इन्हें अष्टोपवासी कहा गया है। उक्त ग्राम के शान्तिनाथ जिनालय के लिए इन्हें महासामन्त चावुण्डराय ने भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १८१]

महासेन

मैसूर प्रदेश के बिजापुर जिले में स्थित होनवाड ग्राम से प्राप्त सन् १०५४ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। अनेक राजाओं द्वारा सम्मानित सेनगण के आचार्य ब्रह्मसेन के शिष्य आर्यसेन के ये शिष्य थे। चालुक्य सम्राट् त्रैलोक्यमल्ल के सामन्त चांकिराज ने होनवाड में शान्तिनाथ मन्दिर का निर्माण कराया था तथा उसके लिए अपने गुरु महासेन को भूमि आदि दान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १८६]

इन्द्रकीर्ति

मैसूर प्रदेश के बल्लारी जिले में स्थित कोगलि ग्राम के सन् १०५५ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। इस स्थान के जिनमन्दिर का निर्माण राजा दुर्विनीत ने किया था। यहाँ के शास्त्राभ्यास की सुविधाएँ बढ़ाने के लिए इन्द्रकीर्ति ने भूमि आदि दान दिया था। ये देशी गण के आचार्य थे। लेख में इन्हें सम्राट् त्रैलोक्यमल्ल की सभा के भूषण, कवियों के गुरु, सब शास्त्रों के ज्ञाता तथा कोकलिपुर के स्वामी कहा गया है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख १४१]

गुणसेन

मैसूर प्रदेश के कूडगु जिले में स्थित मुल्लूर ग्राम से प्राप्त अनेक शिलालेखों से इनका परिचय मिलता है। कोंगाल्व वंश के राजा राजेन्द्र ने अपने पिता द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए गुणसेन को भूमिदान दिया था। सन् १०५८ के इस लेख में इन्हें द्रविड़ गण के आचार्य कहा गया है। इस राजा की माता पोचब्बरसि तथा पुत्र ने भी इन्हें दान दिया था। गुणसेन ने उक्त स्थान में नगर के व्यापारी समूह की ओर से एक वापी का निर्माण कराया था ऐसा एक अन्य लेख से ज्ञात होता है। इस स्थान के जिन-मन्दिर के सम्मुख गुणसेन के गुरु पुष्पसेन के चरणचिह्न स्थापित हैं। श्रवणबेलगोल के मल्लिषेण-प्रशस्ति शिलालेख में भी गुणसेन की प्रशंसा में एक श्लोक है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १७७, १८८ से १९२]

सकलचन्द्र व माधवसेन

मैसूर प्रदेश के शिवमोग्गा जिले में स्थित तीर्थस्थान हुम्मच से प्राप्त सन् १०६२ के लेख से इनका परिचय मिलता है। राजा वीरसान्तर और पट्टणस्वामी नोक्क ने नोक्क द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए इन्हें भूमि आदि दान दिया था। इस विस्तृत शिलालेख की रचना सकलचन्द्र के शिष्य मल्लिनाथ ने की थी। लेख में पट्टणस्वामी के गुरु के रूप में दिवाकरनन्दि का नाम भी उल्लिखित है। पट्टणस्वामी की विस्तृत प्रशंसा में उनके द्वारा स्थापित रत्नमूर्तियों और खुदवाये गये तालाबों का विवरण भी है। हुम्मच के इसी वर्ष के एक अन्य लेख में राजा वीरसान्तर की पत्नी चागलदेवी द्वारा देवीमन्दिर के तोरणद्वार के निर्माण का वर्णन है। इस मन्दिर के लिए माधवसेन गुरु को भूमि आदि दान दिया गया था।

[उपर्युक्त, लेख १९७-९८]

अभयचन्द्र

होयसल वंश के राजा विनयादित्य ने सन् १०६२ में मूलसंघ के आचार्य अभयचन्द्र को भूमि आदि दान दिया था। मैसूर के निकट तोललु ग्राम से प्राप्त शिला-लेख से यह विवरण ज्ञात हुआ है। इस ग्राम के दो नागरिकों मुद्दगौड और तिप्पगौड ने भी आचार्य को कुछ भूमि अर्पित की थी यह भी लेख में कहा गया है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख १४५]

कनकनन्दि

मैसूर प्रदेश के शिवमोग्गा जिले के तीर्थ-स्थान हुम्मच से प्राप्त सन् १०६५ के लेख से इनका परिचय मिलता है। वहाँ के राजा भुजबल सान्तर ने स्वनिर्मित जिन-मन्दिर के लिए अपने गुरु कनकनन्दि को एक ग्राम दान दिया ऐसा लेख में वर्णन है।

[उपर्युक्त, भाग २, लेख २०३]

शान्तिनन्दि व माघनन्दि

मैसूर प्रदेश के धारवाड़ ज़िले में स्थित मोटेबेन्नूर ग्राम से प्राप्त सन् १०६६ के शिलालेख में शान्तिनन्दि का वर्णन है। उक्त ग्राम में आयचिमय्य द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए महासामन्त लक्ष्मरस ने इन्हें भूमिदान दिया था। ये चन्द्रिकवाट अन्वय के आचार्य थे। महासामन्त लक्ष्मरस के ही दूसरे दानलेख की तिथि सन् १०६८ है, यह शिकारपुर तालुक़े के बलगावे से प्राप्त हुआ है। इसमें तालकोल अन्वय के आचार्य माघनन्दि को राजधानी बलिगावे के जिनमन्दिर के लिए भूमिदान दिये जाने का वर्णन है। इस विस्तृत लेख में लक्ष्मरस के परिवार और माघनन्दि की पूर्व-परम्परा का विवरण भी मिलता है।

[उपर्युक्त, भाग ४, लेख १४७ तथा भाग २, लेख २०४]

त्रिभुवनचन्द्र

मैसूर प्रदेश के धारवाड़ ज़िले में स्थित अण्णिगेरि व गावरवाड ग्रामों के विस्तृत शिलालेख का उल्लेख ऊपर आ चुका है। गंग राजा बूतुग द्वारा निर्मित यहाँ का जिन-मन्दिर चोल राजाओं के आक्रमण के समय खण्डित हुआ था। बाद में जब यहाँ चालुक्य सम्राटों की शक्ति सुदृढ़ हुई तो इस प्रदेश में नियुक्त महामण्डलेश्वर लक्ष्मरस ने उपर्युक्त मन्दिर का जीर्णोद्धार किया तथा इसकी देखभाल के लिए आचार्य त्रिभुवनचन्द्र को सन् १०७१ में समुचित दान दिया था। इस प्रदेश के दूसरे शासक काटरस ने भी सन् १०७२ में त्रिभुवनचन्द्र को दान दिया था। लेख के अनुसार ये आचार्य मन्त्रवाद में निपुणता के कारण विद्वानों द्वारा पूजित हुए थे। सुप्रसिद्ध तीर्थस्थान लक्ष्मेश्वर से प्राप्त एक लेख में भी इनका उल्लेख है। इस लेख के अनुसार महासामन्त जयकेशी ने सन् १०७४ में लक्ष्मेश्वर की बसदि के दर्शन किये थे तथा आचार्य के आग्रह से उसे पुर के रूप में मान्यता दी थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख १५४-५५,१५७]

श्रीवीर निर्वाण संवत् की सत्रहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् १०७३ से ११७३]

अजितसेन (द्वितीय)

मैसूर प्रदेश के अनेक शिलालेखों में द्राविड़ संघ के आचार्य अजितसेन का वर्णन मिलता है। शिवमोग्गा जिले के प्रसिद्ध तीर्थ हुम्मच में प्राप्त सन् १०७७ के लेख में इन्हें शब्दचतुर्मुख, तार्किकचक्रवर्ती और वादीभसिंह ये उपाधियाँ दी गयी हैं। लेख का उद्देश्य सान्तर वंश के राजा विक्रमसान्तर देव द्वारा पंचबसदि नाम से प्रसिद्ध जिनमन्दिर के निर्माण का वर्णन करना है। इसके लिए अजितसेन के गुरुबन्धु कुमारसेन के शिष्य श्रेयान्स पण्डितदेव को भूमि दान दी गयी थी। इसी स्थान के सन् १०८७ के एक लेख के अनुसार विक्रमसान्तर ने अजितसेन को कुछ गाँव दान दिये थे जिससे उपर्युक्त मन्दिर की देखभाल हो सके। हुम्मच के समीपवर्ती दानसाले ग्राम से प्राप्त सन् ११०३ के लेख में अजितसेन के शिष्य सान्तरवंशीय तैलुग द्वारा एक जिनमन्दिर के निर्माण का वर्णन है। श्रवणबेलगोल के समीपवर्ती चामराज नगर से प्राप्त सन् १११७ के शिलालेख में वर्णन है कि होयसल वंश के राजा विष्णुवर्धन के सेनापति पुणिसमय्य अजितसेन के शिष्य थे। इन्होंने इस प्रदेश में अनेक जिनमन्दिर बनवाये थे।

श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर पार्श्वनाथ बसति में अजितसेन के शिष्य मल्लिषेण की स्मृति में स्थापित स्तम्भ है। इनका स्वर्गवास सन् ११२८ में हुआ था। इस स्तम्भ पर ७२ श्लोकों की एक सुन्दर प्रशस्ति खुदी है जिसमें दक्षिण भारत के प्रमुख जैन आचार्यों का इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण वर्णन प्राप्त होता है जिसका पहले कई बार उल्लेख हो चुका है। इस लेख में अजितसेन के दो शिष्यों—कविताकान्त शान्तिनाथ और वादिकोलाहल पद्मनाभ की प्रशंसा भी मिलती है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख २१४, २२६, २४८, २६४ तथा भाग १, लेख ५४]

नरेन्द्रसेन और नयसेन (द्वितीय)

ऊपर मुलगुन्द नगर के आचार्य नरेन्द्रसेन और उनके शिष्य नयसेन का परिचय आया है। समीपवर्ती तीर्थस्थान लक्ष्मेश्वर से प्राप्त एक विस्तृत शिलालेख से नयसेन के शिष्य नरेन्द्रसेन (द्वितीय) का परिचय मिलता है। चालुक्य सम्राट् त्रिभुवनमल्ल के

अधीन महासामन्त एरेमय्य के बन्धु द्रोण ने इन्हें भूमिदान दिया था। इस दान की तिथि सन् १०८१ में पड़ती है। लेख में नरेन्द्रसेन को राजपूजित, शास्त्रपारंगत तथा नयी कल्पनाओं में भारवि के समान निपुण कहा गया है।

नरेन्द्रसेन (द्वितीय) के शिष्य नयसेन (द्वितीय) भी प्रख्यात ग्रन्थकर्ता थे। कन्नड़ भाषा में धर्मामृत नामक ग्रन्थ की रचना इन्होंने मुलगुन्द नगर में सन् १११२ के आसपास की थी। इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं। अनेक कथाओं से सुशोभित इस ग्रन्थ में श्रावकों के धर्माचरण का विस्तृत वर्णन मिलता है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख १६५, जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ. १३५-६]

चतुर्मुखदेव व उनका शिष्यमण्डल

श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर स्थित कत्तलेबसति नामक जिनमन्दिर के निकट स्थापित एक स्तम्भ पर एक विस्तृत लेख उत्कीर्ण है जिससे इस प्रदेश के अनेक प्रभावशाली आचार्यों का परिचय प्राप्त होता है।

इसमें सर्वप्रथम कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा में देशीय गण के प्रमुख देवेन्द्र सिद्धान्तदेव के शिष्य चतुर्मुखदेव का वर्णन है। इनका मूल नाम वृषभनन्दि था। एकेक दिशा के सम्मुख ध्यानस्थित होकर इन्होंने आठ-आठ उपवास किये थे इससे ये चतुर्मुख-देव कहलाये। इनके चौरासी शिष्य थे।

चतुर्मुखदेव के शिष्यों में सर्वप्रथम गोपनन्दि की विस्तृत प्रशंसा की गयी है। इन्होंने अनेक वादियों पर विजय प्राप्त किया था तथा धूर्जटि के कुटिल मत को ध्वस्त कर दिया था। श्रवणबेलगोल से चार मील दूर हलेबेलगोल ग्राम में प्राप्त एक लेख में भी गोपनन्दि की प्रशंसा के ऐसे ही श्लोक हैं। इस लेख के अनुसार होयसल वंश के राजकुमार एरेयंग गोपनन्दि के शिष्य थे। उन्होंने सन् १०९३ में जिनमन्दिरों के जीर्णोद्धार आदि के लिए तेरह ग्राम गुरु को समर्पित किये थे।

गोपनन्दि के गुरुबन्धु दामनन्दि भी प्रख्यात वादी थे। इन्होंने विष्णुभट्ट नामक वादी को परास्त किया था। इनका पुराणसारसंग्रह नामक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। आयज्ञानतिलक नामक ग्रन्थ के कर्ता भट्ट वोसरि ने इनका गुरुरूप में स्मरण किया है।

इनके गुरुबन्धु मलधारी गुणचन्द्र थे जो बलिपुर के मल्लिकामोद शान्तिनाथ-मन्दिर के प्रमुख थे।

इनके गुरुबन्धु माघनन्दि सिद्धान्त, तर्क और व्याकरण में प्रवीण थे।

इनके गुरुबन्धु जिनचन्द्र व्याकरण में पूज्यपाद के समान, तर्क में अकलंक के समान तथा साहित्य में भारवि के समान प्रसिद्ध हुए थे।

इनके गुरुबन्धु देवेन्द्र बंकापुर के मुनियों में प्रमुख तथा सिद्धान्त के ज्ञाता थे।

इनके गुरुबन्धु वासवचन्द्र तर्कशास्त्र में पारंगत थे। इन्हें चालुक्य राजसभा में बालसरस्वती यह विरुद प्राप्त हुआ था।

इनके बन्धु यशःकीर्ति भी प्रसिद्ध वादी थे। सिंहलद्वीप के राजा ने इनका सम्मान किया था।

उपर्युक्त गोपनन्दि आचार्य के शिष्यों का भी इस लेख में वर्णन किया गया है। त्रिमुष्टि मुनि का नाम इनमें प्रथम है। ये केवल तीन मुट्ठी आहार लिया करते थे। हेमचन्द्र, गण्डविमुक्त, गौलमुनि तथा शुभकीर्ति इनके गुरुबन्धु थे।

इनके एक और गुरुबन्धु कल्याणकीर्ति थे जो शाकिनी आदि भूत-प्रेतों की बाधा दूर करते थे।

अन्त में इनके गुरुबन्धु बालचन्द्र की प्रशंसा है। ये आगम, अध्यात्म, व्याकरण, साहित्य आदि में पारंगत महान् विद्वान् थे।

इस प्रकार चतुर्मुखदेव के शिष्यमण्डल ने इस प्रदेश में अपनी बहुमुखी गतिविधियों द्वारा आदर और सम्मान प्राप्त किया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, लेख ५५ तथा ४९२]

मेघचन्द्र, वीरनन्दि व प्रभाचन्द्र

श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर मेघचन्द्र का स्मारक स्तम्भ है। इनकी गुरुपरम्परा का विस्तृत वर्णन इस स्तम्भ के शिलालेख में है। चन्दिल वंश के एक राजा गोल्ल प्रदेश का राज्य छोड़कर मुनि हुए थे तथा गोल्लाचार्य नाम से प्रसिद्ध हुए थे। इनके शिष्य त्रैकाल्ययोगी हुए जिन्होंने एक ब्रह्मराक्षस को शिष्य बनाया था। उनके शिष्य अभयनन्दि हुए। उनके शिष्य सकलचन्द्र ही मेघचन्द्र के गुरु थे। लेख में सिद्धान्त, तर्क और व्याकरण में निपुणता के कारण मेघचन्द्र को त्रैविद्य यह पद दिया गया है। इनका स्वर्गवास सन् १११५ में हुआ था। इनकी समाधि की प्रतिष्ठा होयसल वंश के राजा विष्णुवर्धन के सेनापति गंगराज की पत्नी लक्ष्मीमती ने करवायी थी।

मेघचन्द्र के शिष्य प्रभाचन्द्र का श्रवणबेलगोल के अनेक लेखों में वर्णन है। राजा विष्णुवर्धन की रानी शान्तलदेवी ने श्रवणबेलगोल में चन्द्रगिरि पर्वत पर जिन-मन्दिर बनवाकर उसके लिए प्रभाचन्द्र को एक ग्राम दान दिया था। शान्तलदेवी का समाधिमरण सन् ११२८ में शिवगंगा में हुआ था तब उपस्थित गुरुओं में भी प्रभाचन्द्र का नाम दिया है। श्रवणबेलगोल के समीपवर्ती मुत्तत्ति ग्राम से प्राप्त एक लेख में राजा विष्णुवर्धन के सेनापति विनयादित्य द्वारा निर्मित जिनालय के लिए प्रभाचन्द्र को कुछ भूमि दान दिये जाने का वर्णन है। प्रभाचन्द्र का स्वर्गवास सन् ११४६ में हुआ था।

प्रभाचन्द्र के गुरुबन्धु वीरनन्दि का भी अनेक लेखों में वर्णन है। इनका संस्कृत ग्रन्थ आचारसार प्रकाशित हो चुका है। इस पर इन्होंने स्वयं सन् ११५४ में कन्नड़

व्याख्या लिखी थी। इनके कहने से नेमिनाथ नामक विद्वान् ने सोमदेव के नीतिवाक्यामृत पर कन्नड़ व्याख्या लिखी थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग १ में इन आचार्यों से सम्बद्ध लेख प्राप्त होते हैं।]

प्रभाचन्द्र

ये मडुव गण के रामचन्द्र आचार्य के शिष्य थे। इन्हें त्रैविद्य, प्रसिद्ध मन्त्रवादी तथा वीरपुर तीर्थ के प्रमुख कहा गया है। चालुक्य वंश के सम्राट् विक्रमादित्य (षष्ठ) त्रिभुवनमल्ल के शासनकाल में सन् ११२४ में सेडिम्ब ग्राम के तीन सौ महाजनों ने ग्राम में शान्तिनाथ-जिनमन्दिर का निर्माण कराकर उसके लिए प्रभाचन्द्र को भूमिदान दिया था। महत्त्व की बात यह है कि ये तीन सौ महाजन वैष्णव वेदपाठी ब्राह्मण थे और यह अभिमानपूर्वक कहते थे कि उनके मन्त्रों के प्रभाव से कांचीनगर जीता गया था। सम्भवत: प्रभाचन्द्र की मन्त्रनिपुणता से प्रसन्न होकर इन ब्राह्मणों ने यह मन्दिर बनवाया था। मैसूर प्रदेश के गुलबर्गा जिले में स्थित सेडम ग्राम (उपर्युक्त सेडिम्ब) में उक्त जीर्ण मन्दिर में प्राप्त लेख में यह विवरण मिलता है।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया में डॉ. देसाई ने इस लेख का सम्पादन किया है।]

माघनन्दि

महाराष्ट्र में कोल्हापुर के पुरातन जिनमन्दिर से सम्बद्ध कई शिलालेखों से माघनन्दि का परिचय मिलता है। सांगली जिले में तेरदाल नगर से प्राप्त लेख इनमें सबसे विस्तृत है। सन् ११२३ में इस नगर में गोंक नामक सामन्त ने एक जिनमन्दिर का निर्माण कर उसकी रक्षा के लिए कुछ भूमि दान दी थी। इस अवसर पर रट्ट वंश के राजा कार्तवीर्य भी उपस्थित थे। लेख में माघनन्दि के गुरु का नाम कुलचन्द्र बताया है। माघनन्दि के शिष्यों के नाम इस प्रकार बताये हैं—कनकनन्दि, श्रुतकीर्ति, चन्द्रकीर्ति, प्रभाचन्द्र और वर्धमान। महासामन्त निम्बदेव भी माघनन्दि के शिष्य थे। इन्होंने कवडेगोल्ल नगर में एक जिनालय बनवाया था। इसकी रक्षा के लिए सन् ११३५ में श्रुतकीर्ति को कुछ भूमि अर्पित की गयी थी। श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेख क्र. ४० (सन् ११६३) में माघनन्दि की विस्तृत प्रशंसा है। इसमें उनके शिष्य गण्डविमुक्त के शिष्य देवकीर्ति के स्वर्गवास का उल्लेख है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, लेख ४०, भाग २, लेख २८० तथा भाग ४, लेख २२१।]

पद्मनन्दि

कोल्हापुर के महासामन्त निम्बदेव द्वारा सम्मानित आचार्य पद्मनन्दि का पद्मनन्दि पंचविंशति नामक ग्रन्थ सुप्रसिद्ध है। इसके २५ प्रकरणों में दो प्राकृत में और

शेष संस्कृत में हैं तथा इनमें मुनि और श्रावकों के आचार-विचारों का हृदयग्राही वर्णन है। इसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं तथा कुछ प्रकरणों का अलग-अलग प्रकाशन भी हुआ है। आचार्य ने अपने गुरु का नाम वीरनन्दि बताया है।

[जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर के संस्करण में डॉ. उपाध्येजी ने ग्रन्थकर्ता का विस्तृत परिचय दिया है।]

शुभचन्द्र

ये देशी गण के गण्डविमुक्त मलधारिदेव के शिष्य थे। होयसल वंश के राजा विष्णुवर्धन के सेनापति गंगराज की इन पर बड़ी श्रद्धा थी। श्रवणबेलगोल की दोनों पहाड़ियों पर गंगराज ने मन्दिरों और मूर्तियों की प्रतिष्ठा करायी। उनके स्मृति लेखों में शुभचन्द्र का आदरसहित उल्लेख है। गंगराज की माता पोचिकब्बे, पत्नी लक्ष्मीमती, मित्र बूचिराज आदि के स्मृति लेखों में भी इनका उल्लेख है। इनका स्वर्गवास सन् ११२३ में हुआ था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भा. १ में शुभचन्द्र सम्बन्धी १८ लेख हैं।]

श्रीपाल

ये द्राविड़ संघ के आचार्य थे। श्रवणबेलगोल के समीप चल्लग्राम से प्राप्त सन् ११२५ के एक लेख के अनुसार होयसल वंश के राजा विष्णुवर्धन ने इन्हें यह ग्राम दान दिया था। बेलूर में प्राप्त एक शिलालेख में भी इनकी विस्तृत प्रशंसा मिलती है। इसके अनुसार विष्णुवर्धन के सेनापति बिट्टियण्ण ने सन् ११३७ में एक जिनमन्दिर का निर्माण किया तथा उसके लिए श्रीपाल को एक ग्राम दान दिया था। इसमें श्रीपाल को तार्किकचक्रवर्ती और वादीभसिंह ये विशेषण दिये हैं। इनके शिष्य वासुपूज्य का वर्णन सन् ११७३ के लेख में मिलता है। राजा वीरबल्लाल के मन्त्री बूचिमय्य ने हासन तालुके के मर्कुली ग्राम में एक जिनमन्दिर बनवाकर उसकी देखभाल के लिए उस ग्राम की आय वासुपूज्य को अर्पित की थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भा. १, लेख ४९३ तथा भाग ३, लेख ३०५, ३७९]

भानुकीर्ति

क्राणूर गण के आचार्य भानुकीर्ति का परिचय मैसूर प्रदेश के आठ शिलालेखों से मिलता है। ये मुनिचन्द्र के शिष्य थे तथा प्रसिद्ध मन्त्रवादी के रूप में इनकी प्रशंसा की गयी है।

सन् ११३९ में सम्राट् जगदेकमल्ल के सामन्त एक्कल ने कनकजिनालय नामक मन्दिर के लिए इन्हें दान दिया था ऐसी जानकारी बुद्रि ग्राम से प्राप्त लेख में मिलती है। कसलगेरि ग्राम के सन् ११४२ के लेख में राजा विष्णुवर्धन के सामन्त सोम के गुरु

के रूप में भानुकीर्ति का नाम है। सोम ने एक जिनमन्दिर बनवाया था। हेरेकेरी ग्राम के सन् ११५९ के लेख के अनुसार राजा तैलप सान्तर की पौत्री अलियादेवी ने सेतु ग्राम के जिनमन्दिर के लिए भानुकीर्ति को दान दिया था। तेवरतेप्प ग्राम के सन् ११७१ के लेख में राजा सोविदेव के अधीन उस ग्राम के प्रमुख लोकगौंड द्वारा एक जिनमन्दिर के निर्माण का तथा उसके लिए भानुकीर्ति को दान दिये जाने का वर्णन है। एलेवाल ग्राम के सन् ११७६ के लेख में एकिसेट्टि द्वारा शान्तिनाथ मन्दिर के निर्माण का तथा उसके लिए भानुकीर्ति को दान दिये जाने का वर्णन है।

चिक्कमागडि के सन् ११८२ के लेख में भानुकीर्ति के शिष्य नयकीर्ति का, बन्दलिके के सन् १२०३ के लेख में उनमें शिष्य शंकरसेट्टि का तथा सन् १२०७ के हंचि ग्राम के लेख में उनके एक और शिष्य अनन्तकीर्ति का गौरवसहित उल्लेख मिलता है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, लेख ३१३, ३१८, ३४९, ३७७, ३८९, ४०८, ४४८ तथा भाग ४, लेख ३२३]

नेमिचन्द्र

ये बृहद् गच्छ के उद्द्योतन सूरि के शिष्य आम्रदेव उपाध्याय के शिष्य थे। प्राकृत साहित्य में इनका प्रशंसनीय योगदान रहा। उत्तराध्ययन सूत्र पर लगभग १२ हजार श्लोकों जितने विस्तार की इनकी टीका है। इसकी अनेक कथाएँ सुन्दर साहित्यिक शैली में हैं अतएव पाठ्यग्रन्थों में स्थान पाकर समादृत हुई हैं। रत्नचूडकथा और महावीरचरित (रचना सन् १०८५) ये इनके प्राकृत ग्रन्थ भी पठनीय हैं। आख्यानमणिकोश में इन्होंने ५२ गाथाओं में धर्माराधन के दृष्टान्त संकलित किये हैं जिसका विवरण १२७ कथाओं में प्राप्त है। पौराणिक और ऐतिहासिक महत्त्व की अनेक कथाओं का यह साहित्यिक संकलन बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

[आख्यानमणिकोश की प्रस्तावना में मुनि पुण्यविजय ने नेमिचन्द्र का विस्तृत परिचय दिया है।]

देवभद्र

ये नवांगवृत्तिकर्ता अभयदेव के शिष्य प्रसन्नचन्द्र के शिष्य थे। इनका पहला नाम गुणचन्द्र गणी था। प्राकृत साहित्य में इनके तीन ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका कथारत्नकोष सन् ११०१ में पूर्ण हुआ था। इसमें धर्मोपदेश के दृष्टान्तस्वरूप ५० कथाएँ हैं। दूसरा ग्रन्थ पार्श्वनाथचरित सन् ११११ में भड़ौच में पूर्ण हुआ था। महावीरचरित इनकी तीसरी प्राकृत रचना है। इसके अतिरिक्त तर्कशास्त्र पर प्रमाणप्रकाश नामक ग्रन्थ तथा कुछ स्तोत्रों की रचना भी इन्होंने की थी।

[कथारत्नकोष की प्रस्तावना में मुनि पुण्यविजय ने देवभद्र का विस्तृत परिचय दिया है।]

अभयदेव व मलधारी हेमचन्द्र

प्रश्नवाहनकुल के हर्षपुरीय गच्छ के आचार्य जयसिंह शाकम्भरी मण्डल (अजमेर के समीपवर्ती प्रदेश) में प्रसिद्ध थे। इनके शिष्य अभयदेव हुए। ये दो ही वस्त्र धारण करते थे तथा घी को छोड़ अन्य सब विकृतियों का त्याग इन्होंने किया था। बहुत समय से बन्द पड़ा हुआ ग्वालियर का जिनमन्दिर इनके आग्रह से वहाँ के राजा भुवनपाल ने खुलवाया था। मन्त्री शान्तू ने इनके उपदेश से भड़ौच के जिनमन्दिर पर सुवर्णकलश चढ़ाये। अणहिलपुर में सिद्धराज जयसिंह ने इनका उपदेश सुनकर पर्वदिनों में जीववध बन्द करवाया। इनके सन्देश से पृथ्वीराज ने रणथम्भौर के जिनमन्दिर को सुवर्णकलश प्रदान किये। इनके अन्तिम संस्कार के लिए एकत्रित विशाल जनसमूह को देखकर सिद्धराज भी आश्चर्यचकित हुआ था।

अभयदेव के शिष्य मलधारी हेमचन्द्र प्रसिद्ध ग्रन्थकर्ता थे। अनुयोगद्वार, जीवसमास, शतक, आवश्यक इन प्राचीन ग्रन्थों पर इनकी विस्तृत व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। भवभावना इनकी प्रसिद्ध रचना है। मेड़ता और छत्रपल्ली में लिखित यह कृति सन् ११२३ में पूर्ण हुई थी। यह इन्हीं की उपदेशमाला की व्याख्या है जिसमें सुन्दर कथाओं के माध्यम से धर्म का उपदेश दिया है। इनका प्रवचन सुनने के लिए सिद्धराज स्वयं सपरिवार जिनमन्दिर में उपस्थित होते थे। धन्धूका, सत्यपुर आदि में जिनमन्दिरों के कार्य में अन्य धर्मियों द्वारा खड़ी की गयी बाधाएँ इनके उपदेश से सिद्धराज ने दूर करवायीं तथा अनेक मन्दिरों पर सुवर्णकलश चढ़वाये। इन्होंने एक विशाल संघ के साथ शत्रुंजय और गिरनार की यात्रा की थी।

हेमचन्द्र के शिष्य श्रीचन्द्र ने आशापल्ली में सन् ११३६ में मुनिसुव्रतचरित नामक विस्तृत प्राकृत ग्रन्थ लिखा था। इनके दूसरे शिष्य विबुधचन्द्र के आग्रह से लक्ष्मण गणी ने मण्डलिपुरी में सुपार्श्वनाथचरित की रचना सन् ११४२ में की थी।

[सुपार्श्वनाथचरित की प्रस्तावना में उद्धृत मुनिसुव्रतचरित की प्रशस्ति से उपर्युक्त विवरण संकलित किया है।]

मुनिचन्द्र व देवसूरि

मुनिचन्द्र बृहद्गच्छ के यशोभद्र के शिष्य थे। ये अपने समय के प्रथितयश ग्रन्थकर्ता थे। हरिभद्र रचित अनेकान्तजयपताका, धर्मबिन्दु, उपदेशपद और ललितविस्तरा पर इनके टिप्पण प्राप्त हैं। स्वतन्त्र रूप से भी इन्होंने अनुशासनांकुश, उपदेशामृत, मोक्षोपदेशपंचाशिका, गाथाकोष, कालशतक आदि अनेक छोटे-छोटे प्रकरणों की रचना की है। ये उग्र तपस्वी के रूप में भी प्रसिद्ध थे। कहा गया है कि इन्होंने आजीवन केवल कांजी का ही आहार ग्रहण किया था।

मुनिचन्द्र के पट्टशिष्य देव प्रसिद्ध वादी थे और वादी देवसूरि इसी रूप में

उनका नाम विख्यात हुआ। इनका जन्म सन् १०८७ में हुआ था तथा ९ वर्ष की अवस्था में ही ये मुनि हुए। सन् १११८ में इन्हें सूरिपद प्राप्त हुआ। दक्षिण के प्रसिद्ध दिगम्बर विद्वान् कुमुदचन्द्र के साथ अणहिलपुर में राजा सिद्धराज जयसिंह की सभा में इनका वाद हुआ था जिसका वर्णन अनेक ग्रन्थों में मिलता है। माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख का परिवर्धन कर इन्होंने प्रमाणनयतत्त्वालोक नामक सूत्रग्रन्थ लिखा और उस पर स्याद्वादरत्नाकर नामक बृहत्काय व्याख्या की रचना की। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में उस समय प्रचलित प्रायः सभी मान्यताओं का विस्तृत परीक्षण इस व्याख्या में प्राप्त होता है। प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए इसका संक्षेप रत्नाकरावतारिका इस नाम से इनके शिष्य रत्नप्रभ ने लिखा है। उपदेशमालावृत्ति और नेमिनाथचरित ये रत्नप्रभ की अन्य रचनाएँ भी प्राप्त हैं। राजस्थान में फलोधी और आरासण के जिनमन्दिर देवसूरि द्वारा प्रतिष्ठित माने जाते हैं। इनका स्वर्गवास सन् ११७० में हुआ था।

[प्रभावकचरित में इनकी कथा विस्तार से मिलती है।]

हेमचन्द्र

गुजरात में जैन समाज के गौरव का चरम उत्कर्ष हेमचन्द्र के कृतित्व में प्रस्फुटित हुआ। धन्धूका नगर के वैश्य परिवार में सन् १०८८ में उनका जन्म हुआ था। बाल वय में ही देवचन्द्र के संघ में वे दीक्षित हुए और विविध शास्त्रों का अध्ययन पूर्ण होने पर आयु के बाईसवें वर्ष में ही उन्हें आचार्य पद प्राप्त हुआ। उस समय के गुजरात के यशस्वी राजा सिद्धराज जयसिंह उनकी विद्वत्ता और काव्यप्रतिभा से अत्यधिक प्रभावित थे। उन्होंने भोजराज के समय के विस्तृत साहित्य को धारा-विजय के अवसर पर देखा था और गुजरात के साहित्यिक इस क्षेत्र में बहुत पिछड़े हैं यह देखकर वह व्यथित हुए थे। इस निमित्त से हेमचन्द्र ने गुजरात के साहित्य की श्रीवृद्धि का कार्य हाथ में लिया और सिद्धराज के सहयोग से उन्हें इसमें आशातीत सफलता मिली। सिद्धहेमशब्दानुशासन उनका पहला ग्रन्थ था जिसमें संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के व्याकरण का विशद विवेचन है। इसका प्राकृत सम्बन्धी अध्याय विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें हेमचन्द्र ने पहली बार अपभ्रंश को शास्त्रीय अध्ययन का विषय बनाया है। व्याकरण के साथ साहित्य के अध्ययन के अन्य अंगों पर भी उन्होंने ग्रन्थरचना की। अनेकार्थचिन्तामणि, देशीनाममाला, काव्यानुशासन तथा छन्दोनुशासन ये अपने-अपने क्षेत्र के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

विद्वत्ता के साथ ही सहृदयता और व्यवहारकुशलता भी उनमें थी। उनके जीवनसम्बन्धी आख्यानों में कितने ही जैनेतर विद्वानों के साथ सम्पर्क के वृत्तान्त मिलते हैं। अन्य सम्प्रदायों द्वारा जैनों पर किये गये आक्षेप भी वे इस प्रकार दूर करते थे जिससे कटुता दूर हो और सौमनस्य बढ़े।

पुत्रप्राप्ति की इच्छा से सिद्धराज ने जो तीर्थयात्रा की उसमें हेमचन्द्र उनके साथ रहे। शत्रुंजय के आदीश्वर मन्दिर के लिए इस अवसर पर सिद्धराज ने बारह गाँव प्रदान किये थे। इसके पश्चात् गिरनार और सोमनाथ के दर्शन भी उन्होंने किये थे।

गुजरात राज्य के उत्तराधिकार के इच्छुक कुमारपाल के प्रति सिद्धराज के मन में तीव्र क्रोध था और उससे बचने के लिए कुमारपाल को साधुवेष में यहाँ-वहाँ भटकना पड़ा। इस अवधि में एक बार हेमचन्द्र के उपाश्रय में छिपकर प्राणरक्षा करनी पड़ी तब हेमचन्द्र ने उज्ज्वल भविष्य का आश्वासन देकर कुमारपाल को सान्त्वना दी थी। राजपद प्राप्त होने पर इस उपकार को स्मरण कर कुमारपाल ने हेमचन्द्र का आदरसहित दर्शन किया। इसके साथ ही उनके जीवन का दूसरा स्वर्णिम अध्याय प्रारम्भ हुआ। कुमारपाल ने राजधानी अणहिलपुर में तथा शत्रुंजय, तारंगा, भड़ौच आदि अनेक स्थानों में जिन-मन्दिर बनवाये तथा पुराने अनेक मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया। कुमारपाल ने स्वयं मांसाहार का त्याग किया तथा नवरात्र आदि में देवताओं को दी जानेवाली पशुबलि पर प्रतिबन्ध लगाया। शत्रुंजय और गिरनार की यात्रा भी कुमारपाल ने हेमचन्द्र के साथ की। इस अवधि में भी हेमचन्द्र ने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित में उन्होंने परम्परागत जैन पुराणकथाओं का वर्णन किया। इसके अन्तिम भाग में भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद छह शताब्दियों में हुए प्रमुख आचार्यों की जीवनकथाएँ भी हैं जो इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्त्व की हैं। सिद्धहेम व्याकरण के नियमों के सब उदाहरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से प्रारम्भ किया गया उनका द्वयाश्रय महाकाव्य भी इसी अवधि में पूर्ण हुआ। इसमें चौलुक्य राजवंश का इतिहास ही प्रमुख वर्ण्य विषय है। वीतरागस्तव, योगशास्त्र और प्रमाणमीमांसा ये इस युग की उनकी अन्य रचनाएँ हैं। सन् ११७२ में उनका स्वर्गवास हुआ।

[जॉर्ज बुह्लर के लाइफ़ ऑफ़ हेमचन्द्राचार्य में हेमचन्द्र के साहित्य और उनके सम्बन्ध की कथाओं का विवेचन प्राप्त होता है। काव्यानुशासन, द्वयाश्रय काव्य, प्रमाणमीमांसा आदि के विभिन्न संस्करणों की विस्तृत प्रस्तावनाएँ भी उपयोगी हैं।]

जिनवल्लभ

ये पहले आशी दुर्ग में कूर्चपुरीय गच्छ के जिनेश्वर के शिष्य थे। सिद्धान्ताभ्यास के लिए अणहिलपुर में अभयदेव के पास काफ़ी समय तक रहने के बाद ये भी उन्हीं के खरतरगच्छ में सम्मिलित हुए। इन्होंने ज्योतिष का विशेष अध्ययन किया था। चित्तौड़ में इनकी प्रेरणा से खरतरगच्छ का पहला मन्दिर बनवाया गया। धारा के राजा नरवर्मा ने समस्यापूर्ति से सन्तुष्ट होकर इनका सम्मान किया था। नागौर और नरवर में भी इन्होंने मन्दिरों की प्रतिष्ठा सम्पन्न की। सन् १११० में इन्हें चित्तौड़ में सूरिपद प्राप्त हुआ किन्तु चार मास बाद ही इनका स्वर्गवास हुआ। सूक्ष्मार्थसिद्धान्त-

विचार, आगमिकवस्तुविचार आदि प्रकरणों के अतिरिक्त लगभग सौ स्तोत्रों की रचना भी इन्होंने की थी।

जिनदत्त

इनका जन्म धोलका नगर में सन् १०७६ में हुआ था। ९ वर्ष की आयु में इन्हें दीक्षा दी गयी। चित्तौड़ में सन् १११२ में ये खरतरगच्छ के सूरिपद पर प्रतिष्ठित हुए। अजमेर में राजा अर्णोराज ने इनका सम्मान किया। वहाँ मन्दिर की प्रतिष्ठा भी इनके द्वारा सम्पन्न हुई। रुद्रपल्ली के निकट एक गाँव में एक श्रावक व्यन्तर से पीड़ित था। सूरिजी ने उसकी पीड़ामुक्ति के लिए गणधरसप्तति की रचना की जिसके प्रभाव से वह स्वस्थ हो गया। त्रिभुवनगिरि में राजा कुमारपाल ने इनका सम्मान किया। विक्रमपुर, नागौर आदि में भी इनका विहार हुआ था। सन् ११५५ में इनका स्वर्गवास हुआ। खरतरगच्छ के श्रावक अब भी विघ्नपरिहार के लिए इनके नाम का स्मरण करते हैं। उपदेशरसायन, कालस्वरूपकुलक, चर्चरी, सुगुरुपारतन्त्र्यस्तव आदि इनकी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

जिनचन्द्र

जिनदत्त ने विक्रमपुर में सन् ११४९ में इन्हें सूरिपद प्रदान किया था। त्रिभुवनगिरि, अजमेर, मरुकोट, सागरपाट आदि स्थानों में इनका विहार हुआ। इन्होंने मथुरा की भी यात्रा की थी। चौरसिन्दानक ग्राम के पास जब ये संघसहित ठहरे थे तो मुसलमान सिपाहियों का एक दल वहाँ से गुजरा किन्तु सूरिजी के मन्त्र-प्रभाव से वह दल संघ को देख नहीं पाया। दिल्ली में राजा मदनपाल ने इनका सम्मान किया था। यहाँ अधिबल नामक व्यन्तरदेव को मांसबलि रोककर इन्होंने उसे पार्श्वनाथ मन्दिर के एक स्तम्भ में स्थापित किया था। सन् ११६६ में इनका स्वर्गवास हुआ।

[उपर्युक्त तीन आचार्यों का परिचय बृहत् खरतरगच्छगुर्वावलि से लिया गया है।]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के शिलालेखों से ज्ञात अन्य आचार्यों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

कुलचन्द्र

मैसूर प्रदेश के शिकारपुर तालुके में स्थित बन्दलिके ग्राम से प्राप्त सन् १०७४ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये क्राणूर गण के आचार्य रामनन्दि के शिष्य थे। चालुक्य सम्राट् भुवनैकमल्ल के सामन्त उदयादित्य ने बन्दलिके के शान्तिनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार कर उसके लिए कुलचन्द्र को भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख २०७]

पद्मनन्दि

मैसूर प्रदेश के सोरब तालुके में स्थित कुप्पटूर ग्राम के सन् १०७५ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये क्राणूर गण के आचार्य थे। कुप्पटूर में इनके द्वारा जिनमन्दिर की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई थी। इसके लिए कदम्ब वंश के राजा कीर्तिदेव की रानी माकलदेवी ने भूमिदान दिया था।

[उपर्युक्त, लेख २०९]

श्रीनन्दि

मैसूर प्रदेश के गुडिगेरी ग्राम से प्राप्त सन् १०७६ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। लक्ष्मेश्वर के आनेसेज्ज बसति के अधिकार की भूमि का संरक्षण इनकी देखरेख में होता था। जिनपूजा और शास्त्रलेखन के लिए भूमि से समुचित आय होने हेतु किये गये प्रबन्ध का विवरण लेख में दिया गया है। लेख के अनुसार श्रीनन्दि श्रेष्ठ वादी, तपस्वी और व्याख्यानकुशल थे। इनकी शिष्या अष्टोपवासी कन्ति की भी लेख में प्रशंसा की गयी है।

[उपर्युक्त, लेख २१०]

रामसेन

मैसूर प्रदेश के शिकारपुर तालुके में स्थित बलगावे ग्राम से प्राप्त सन् १०७७ के लेख से इनका परिचय मिलता है। ये सेनगण के आचार्य गुणभद्र के शिष्य थे। गुणभद्र के गुरुबन्धु महासेन की प्रशंसा भी लेख में है। चालुक्यगंगपेर्मानिडि जिनमन्दिर के लिए महासामन्त बर्मदेव द्वारा रामसेन को एक ग्राम दान दिया गया था। व्याकरण, तर्क और काव्य में इनकी निपुणता की प्रशंसा भी लेख में प्राप्त होती है।

[उपर्युक्त, लेख २१७]

कमलभद्र

ये द्राविड़ संघ के आचार्य थे। मैसूर प्रदेश के शिवमोग्गा जिले के तीर्थस्थल हुम्मच से प्राप्त सन् १०७७ के तीन लेखों में इनका वर्णन है। राजा भुजबल सान्तर की माता चट्टलदेवी द्वारा निर्मित पंचबसति के लिए कमलभद्र को ग्राम और भूमि का दान दिया गया था। कमलभद्र की परम्परा और भुजबलसान्तर के कुल का विस्तृत परिचय इन लेखों में प्राप्त होता है। श्रवणबेलगोल के मल्लिषेणप्रशस्ति शिलालेख में भी कमलभद्र की प्रशंसा में दो श्लोक हैं।

[उपर्युक्त, लेख २१३-१४ तथा २१६]

आन्ध्र प्रदेश के चार आचार्य

आन्ध्र के मेडक जिले में स्थित चिन्तलघाट ग्राम से सन् १०८१ का शिलालेख प्राप्त हुआ है। इसके अनुसार वहाँ के जिनमन्दिर के लिए महासामन्त कद्दरस ने माधवचन्द्र आचार्य को कुछ दान दिया था।

इसी जिले के अल्लदुर्ग नामक स्थान से सन् १०८४ का शिलालेख मिला है। इसमें कीर्तिविलास शान्ति जिनालय नामक मन्दिर के लिए महासामन्त आहवमल्ल द्वारा आचार्य कमलदेव को दिये गये दान का वर्णन है।

आन्ध्र के महबूबनगर जिले के सुदूर ग्राम से सन् १०८७ के दो शिलालेख मिले हैं। एक के अनुसार देशी गण के आचार्य पद्मनन्दि द्वारा स्थापित जिनमन्दिर के लिए महासामन्त जत्तरस ने भूमि, उद्यान आदि का दान दिया था। दूसरे लेख में द्राविड़ संघ के पल्लव जिनालय के लिए आचार्य कनकसेन को महासामन्त हुल्लवरस ने भूमि दान दी ऐसा वर्णन है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ५, लेख ५२-५३ और ५५-५६]

श्रीधर व वासुपूज्य

मैसूर प्रदेश के बेलगाँव जिले के कोण्णूर ग्राम से प्राप्त सन् १०८७ के लेख से इनका परिचय मिलता है। बलात्कार गण की परम्परा में गुणचन्द्र, पक्षोपवासी, नयनन्दि, श्रीधर (प्रथम) तथा चन्द्रकीर्ति इन आचार्यों की प्रशंसा के बाद इस लेख में चन्द्रकीर्ति के शिष्य श्रीधर (द्वितीय) का वर्णन है। इनके शिष्य वासुपूज्य त्रैविद्य की विस्तृत प्रशंसा के बाद बताया गया है कि महासामन्त सेन के अधीन ग्रामप्रमुख निधियम ने इन आचार्यों को कुछ दान दिया था। वासुपूज्य के गुरुबन्धु नेमिचन्द्र एवं मलयाल पण्डित तथा शिष्य पद्मप्रभ का भी लेख में वर्णन है।

इसी जिले के कोलिहल्लि ग्राम से प्राप्त एक अन्य लेख में भी उक्त आचार्य-परम्परा का वर्णन मिलता है। इस लेख की तिथि अस्पष्ट है। इसमें वासुपूज्य के बाद कुमुदचन्द्र, उदयचन्द्र तथा त्रिभुवनदेव इन आचार्यों के नाम हैं। लेख टूटा होने से इसका पूरा विवरण स्पष्ट नहीं है।

[जैन शिलालेख.संग्रह, भाग २, लेख २२७, जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ. ११७]

विजयकीर्ति

मध्य प्रदेश में ग्वालियर के समीप दूबकुण्ड ग्राम से प्राप्त सन् १०८८ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये लाटवर्गट गण के आचार्य शान्तिषेण के शिष्य थे। लेख के अनुसार शान्तिषेण ने राजा भोज की सभा में अनेक वादियों को पराजित किया

था। कच्छपघात वंश के राजा विक्रमसिंह के दरबार के प्रमुख नगरश्रेष्ठी दाहड द्वारा विजयकीर्ति की प्रेरणा से उक्त स्थान में जिनमन्दिर बनवाया गया था तथा राजा ने उसके लिए उद्यान आदि का दान दिया था। राजा, श्रेष्ठी और आचार्य तीनों की परम्परा का काव्यमय वर्णन विस्तार से देनेवाले इस शिलालेख की रचना विजयकीर्ति ने ही की थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख २२८]

इन्द्रसेन

मैसूर प्रदेश के गुलबर्गा जिले के इंगळगी ग्राम से प्राप्त शिलालेख में इनका परिचय मिलता है। ये द्राविड़ संघ—सेन गण के मल्लिषेण आचार्य के शिष्य थे। चालुक्य वंश के सम्राट् विक्रमादित्य (षष्ठ) त्रिभुवनमल्ल की रानी जाकलदेवी ने इस ग्राम में एक भव्य जिनमन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए सन् १०९४ में इन्द्रसेन को भूमिदान दिया था।

आन्ध्र प्रदेश के महबूबनगर जिले में स्थित उज्जिलि ग्राम से प्राप्त दो शिलालेखों में भी इन्द्रसेन को भूमिदान दिये जाने का वर्णन है। यह दान महाप्रधान भानुदेव ने वहाँ के जिनमन्दिर के लिए सन् ११६७ में दिया था। समय के अन्तर को देखते हुए ये इन्द्रसेन उपर्युक्त इन्द्रसेन के प्रशिष्य जान पड़ते हैं। यहाँ के दूसरे लेख में श्रीवल्लभचोल महाराज द्वारा इन्द्रसेन को भूमिदान दिये जाने का वर्णन है।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया में प्रथम लेख का तथा जैन शिलालेखसंग्रह, भाग ५ में अन्य दो लेखों का विवरण मिलता है।]

चारुकीर्ति, रविचन्द्र और कनकप्रभ

मैसूर प्रदेश के उत्तर भाग से प्राप्त सन् १०९६ के तीन लेखों से इन आचार्यों का परिचय मिलता है। दोणि ग्राम के लेख में यापनीय संघ के मुनिचन्द्र आचार्य के शिष्य चारुकीर्ति का वर्णन है। इन्हें सोविसेट्टि नामक श्रावक ने एक उद्यान अर्पित किया था। तुम्बदेवनहल्लि ग्राम के लेख में वहाँ के जिनमन्दिर का निर्माण कदम्ब कुल के राजा एरेयंग की पत्नी असवब्बरसि द्वारा किया गया था ऐसा वर्णन है। इन्होंने देशीय गण के आचार्य रविचन्द्र को उक्त जिनमन्दिर के लिए दान दिया था। तीसरा लेख सौन्दत्ती नगर से प्राप्त हुआ है। इसमें रट्ट वंश के राजा कन्नकैर द्वारा उनके गुरु कनकप्रभ को दिये गये भूमिदान का वर्णन है। लेख में कनकप्रभ को गणधरों के समान सर्वशास्त्रनिपुण कहा गया है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख १६९-७० तथा भाग २, लेख २३७]

मुनिचन्द्र

मैसूर प्रदेश के शिमोगा जिले में स्थित हेब्बण्डे ग्राम के सन् १११० के लेख से इनका परिचय मिलता है। ये कनकनन्दि के शिष्य थे। इन्हें राजा विष्णुवर्धन, सामन्त भुजबल गंग पेर्माडि तथा गावुण्ड बम्म आदि ने भूमि आदि दान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख २५१]

छत्रसेन

राजस्थान में डूंगरपुर के समीप अर्थूणा ग्राम से प्राप्त शिलालेख में इनका वर्णन है। ये माथुर अन्वय के प्रमुख आचार्य थे। इनके शिष्य आलोक के पुत्र भूषण ने सन् १११० में उक्त ग्राम में वृषभदेव का भव्य मन्दिर बनवाया था।

[उपर्युक्त, भा. ३, लेख ३०५ क]

शुभकीर्ति

मैसूर प्रदेश के शिमोगा जिले में स्थित निदिगि ग्राम के सन् १११७ के लेख से इनका परिचय मिलता है। ये मेषपाषाण गच्छ के आचार्य थे। सामन्त नन्नियं गंग पेर्माडि ने इन्हें नवनिर्मित जिनमन्दिर के लिए भूमि आदि दान दिया था।

[उपर्युक्त, लेख २६७]

अर्हणन्दि

मैसूर प्रदेश के कण्णूर ग्राम के सन् १११२ के लेख से इनका परिचय मिलता है। ये बालचन्द्र के शिष्य थे। चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य (षष्ठ) के सेनापति कालिदास ने इन्हें उक्त ग्राम के पार्श्वनाथ मन्दिर के लिए भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख १९०]

गण्डविमुक्त

मैसूर प्रदेश के मूडगेरे तालुके में स्थित हन्तूर ग्राम के सन् ११३० के लेख से इनका परिचय मिलता है। ये माघनन्दि के शिष्य थे। होयसल वंश के राजा विष्णुवर्धन की कन्या हरियब्बरसि ने इन्हें स्वनिर्मित रत्नखचित जिनमन्दिर के लिए कुछ भूमि दान दी थी।

[उपर्युक्त, भाग २, लेख २९३]

नेमिचन्द्र

मैसूर प्रदेश के विख्यात कलाकेन्द्र हलेबीड के पार्श्वनाथ जिनमन्दिर से सम्बद्ध शिलालेख में इनका वर्णन है। सन् ११३३ में होयसल वंश के महाराज विष्णुवर्धन के

सेनापति गंगराज के पुत्र बोप्प ने इस मन्दिर का निर्माण किया था। राजा ने विजय-पार्श्वदेव ऐसा नाम देकर इस जिनालय के लिए भूमिदान दिया था। यह दान नयकीर्ति आचार्य के शिष्य नेमिचन्द्र को सौंपा गया था। विजापूर के समीप अरसीबीडि ग्राम से प्राप्त सन् ११५१ के लेख में भी नेमिचन्द्र को प्राप्त कुछ दान का वर्णन है।

[उपर्युक्त, लेख ३०१ तथा भाग ४, लेख २४१]

सुभद्र

मध्यप्रदेश में जबलपुर के निकट बहुरीबन्द ग्राम में प्राप्त भव्य शान्तिनाथ मूर्ति के पादपीठ के लेख में इनका नाम प्राप्त होता है। ये देशी गण के चन्द्रकराचार्य के आम्नाय के प्रमुख थे। उपर्युक्त मूर्ति की स्थापना कलचुरि वंश के राजा गयाकर्ण के सामन्त गोल्हणदेव के शासनकाल में महाभोज नामक श्रावक द्वारा की गयी थी तथा उसकी प्रतिष्ठा आचार्य सुभद्र ने की थी। यह कार्य सन् ११३२ के लगभग सम्पन्न हुआ था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भा. ४, लेख २१७]

माणिक्यसेन

मैसूर प्रदेश के सोरब तालुके के हिरे आवली ग्राम के पार्श्वनाथ मन्दिर से प्राप्त लेख में इनका वर्णन है। ये सेनगण के आचार्य वीरसेन के सहधर्मा थे। इन्हें उक्त मन्दिर के लिए प्रादेशिक शासक मल्लिदेव ने सन् ११४२ में भूमिदान दिया था।

[उपर्युक्त, भा. ३, लेख ३२२]

हरिनन्दि

मैसूर प्रदेश में धारवाड़ के निकट नीरलगि ग्राम से प्राप्त लेख में इनका वर्णन मिलता है। ये सूरस्थ गण के आचार्य थे। प्रादेशिक शासक मल्लगावुण्ड ने उक्त ग्राम में मल्लिनाथ जिनमन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए इन्हें सन् ११४८ में भूमिदान दिया था। समीप के ही एक ग्राम करगुदरि से प्राप्त एक लेख में हरिनन्दि के शिष्य नागचन्द्र को पार्श्वनाथ मन्दिर के लिए कुछ दान दिये जाने का वर्णन है।

[उपर्युक्त, भा. ४, लेख २३७-२३८]

रामकीर्ति

राजस्थान के प्रसिद्ध दुर्ग चित्तौड़ में प्राप्त सन् ११५० के एक विस्तृत शिलालेख की रचना जयकीर्ति के शिष्य रामकीर्ति ने की थी। इसमें चौलुक्य राजा कुमारपाल के राज्य की प्रमुख घटनाओं का तथा चित्तौड़-प्रवास का विवरण दिया गया है।

[उपर्युक्त, भा. ३, लेख ३३२]

माणिकनन्दि

मैसूर प्रदेश के हेग्गेरी ग्राम के सन् ११६१ के शिलालेख में इनका वर्णन मिलता है। ये गुणचन्द्र के शिष्य थे। होयसल वंश के राजा नरसिंह के सामन्त गोविदेव ने हेग्गेरी में अपनी पत्नी की स्मृति में पार्श्वनाथ जिनालय का निर्माण कराया था तथा उसके लिए माणिकनन्दि को भूमि आदि दान दिया था।

[उपर्युक्त, लेख ३५६]

विजयकीर्ति

मैसूर प्रदेश में बेलगाँव के निकट एकसम्बि ग्राम के सन् ११६५ के शिलालेख में इनका वर्णन मिलता है। ये यापनीय संघ के आचार्य कुमारकीर्ति के शिष्य थे। शिलाहार वंश के राजा विजयादित्य के सेनापति कालण ने उक्त ग्राम में नेमिनाथ मन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए विजयकीर्ति को भूमि आदि दान दी थी।

[उपर्युक्त, भा. ४, लेख २५९]

रामचन्द्र

मध्यप्रदेश के पश्चिमी निमाड जिले के प्रसिद्ध तीर्थ बडवानी के दो शिलालेखों से इनका परिचय मिलता है। इनके उपदेश से वहाँ इन्द्रजित केवली का विशाल मन्दिर सन् ११६६ में बनाया गया था। इनके पूर्ववर्ती लोकनन्दी और देवनन्दी आचार्यों का भी लेख में वर्णन आता है।

[उपर्युक्त, भा. ३, लेख ३७०-७१]

गुणभद्र

राजस्थान के बिजोलिया नगर से प्राप्त सन् ११७० के एक विस्तृत शिलालेख की रचना माथुर संघ के महामुनि गुणभद्र ने की थी। इस लेख में उक्त नगर के विभिन्न मन्दिरों का विस्तृत विवरण दिया गया है।

[उपर्युक्त, भा. ४, लेख २६५]

श्रीवीर निर्वाण संवत् की अठारहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ११७२ से १२७२]

मदनकीर्ति

इनकी एकमात्र रचना शासनचतुस्त्रिंशिका बहुत छोटी (३४ श्लोक) होने पर भी इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह पहली रचना है जिसमें अपने समय के प्रसिद्ध जैन तीर्थों के विषय में देखी-सुनी बातों का व्यवस्थित वर्णन मिलता है। कैलास, पोदनपुर, श्रीपुर, शंखजिनेन्द्र (लक्ष्मेश्वर), धारा, बृहत्पुर (बड़वानी), दक्षिणगोम्मट (श्रवणबेलगोल), बेतवा-तट (देवगढ़), सम्मेदशिखर, पुष्पपुर, नागह्रद, पश्चिम समुद्र तट (वेरावल), समुद्रान्तर्गत आदिजिन, पावापुर, गिरनार, चम्पापुर, नर्मदातटवर्ती शान्तिजिन, आश्रम के मुनिसुव्रत, विपुलाचल, विन्ध्याचल, नागफणी तथा मंगलपुर इनके विषय में विविध अतिशयों का उल्लेख मदनकीर्ति ने किया है।

मदनकीर्ति प्रसिद्ध वादी विशालकीर्ति के शिष्य थे। महापण्डित आशाधर ने आदरपूर्वक लिखा है कि मदनकीर्ति ने उनकी प्रज्ञापुंज कहकर प्रशंसा की थी। राजशेखर के प्रबन्धकोश से ज्ञात होता है कि कुछ समय के लिए वे दक्षिण भारत गये थे। कोल्हापुर के राजा भोजदेव के दरबार में रहकर उनका कुलवृत्तान्त काव्यरूप में निबद्ध करते हुए उनका राजा की कन्या के साथ अनुराग का सम्बन्ध रहा। किन्तु बाद में गुरु के उपदेश से वे पुनः धर्ममार्ग में स्थिर हुए थे।

[पं. दरबारीलाल ने शासनचतुस्त्रिंशिका की प्रस्तावना में ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ता के विषय में विस्तृत विवेचन किया है।]

वसन्तकीर्ति

प्राचीन भारत में दिगम्बर मुनियों का विहार सुप्रचलित था—अजैन सम्प्रदाय भी मुनियों की नग्नता को सुस्थापित परम्परा के रूप में मान्य करते थे। किन्तु गोरी और गुलाम सुलतानों के शासनकाल में इस स्थिति में बड़ा परिवर्तन हुआ। नये मुस्लिम शासक भारत की प्राचीन धार्मिक परम्परा से अनभिज्ञ होने के साथ ही असहिष्णु भी थे। अतः उस समय उत्तर भारत में बलात्कार गण के प्रधान आचार्य वसन्तकीर्ति ने यही उचित समझा कि सार्वजनिक विहार के समय मुनि नग्नता का आग्रह छोड़ दें—चटाई या चादर का उपयोग करें। उत्तर भारत में साधुसंघ का अस्तित्व बनाये रखने में यह नीति काफ़ी हद तक सफल रही।

वसन्तकीर्ति के पट्टावली में प्राप्त वर्णन से ज्ञात होता है कि अजमेर में उन्हें आचार्यपद प्राप्त हुआ था। ऊपर वर्णित परिवर्तन का निश्चय उन्होंने माण्डलगढ़ में किया था ऐसा श्रुतसागरकृत षट्प्राहुडटीका से ज्ञात होता है। पट्टावली के वर्णन के अनुसार वन में निवास करते हुए शेर भी उनको वन्दन करते थे।

नयकीर्ति व बालचन्द्र

नयकीर्ति देशी गण के गुणचन्द्र के शिष्य थे। श्रवणबेलगोल के बीसों शिलालेखों में इनकी और इनके शिष्यों की प्रशंसा प्राप्त होती है। सन् ११७६ में इनके स्वर्गवास होने पर महामन्त्री हुल्ल, नागदेव आदि शिष्यों ने इनकी स्मृति में जो स्तम्भ स्थापित किया वह चन्द्रगिरि पर्वत पर अब भी देखा जा सकता है। गोम्मटेश्वर महामूर्ति के चारों ओर के देवालयों में इनके शिष्य बसविसेट्टि द्वारा स्थापित अनेक सुन्दर जिन-मूर्तियाँ हैं।

नयकीर्ति के शिष्यों में बालचन्द्र प्रमुख थे। राजा वीरबल्लाल के नगरश्रेष्ठी सोमिसेट्टि ने स्वनिर्मित पार्श्वजिनालय के लिए इन्हें सन् ११७८ में भूमिदान दिया था। श्रवणबेलगोल नगर में अक्कन बसति नामक जिनमन्दिर के सन् ११८१ के लेख से विदित होता है कि राजा वीरबल्लाल के मन्त्री चन्द्रमौलि की पत्नी आचलदेवी बालचन्द्र की शिष्या थी। उसके द्वारा निर्मित इस मन्दिर को राजा ने एक गाँव अर्पित किया था। बालचन्द्र को इन अनेक लेखों में अध्यात्मी यह उपाधि दी गयी है।

नयकीर्ति के अन्य शिष्यों के नाम लेखों में इस प्रकार दिये हैं—दामनन्दि, भानुकीर्ति, प्रभाचन्द्र, माघनन्दि, मन्त्रवादी पद्मनन्दि तथा नेमिचन्द्र।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, लेख ४२, १२४, ३२० आदि तथा भाग ३, लेख ३४९]

अमरकीर्ति

ये माथुर संघ के आचार्य थे। इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलायी है—अमितगति—शान्तिषेण—अमरसेन—श्रीषेण—चन्द्रकीर्ति—अमरकीर्ति। इनके तीन अपभ्रंश ग्रन्थ मिले हैं। इनमें नेमिनाथचरित सन् ११८८ में तथा षट्कर्मोपदेश सन् ११९१ में लिखा गया था। तीसरी ज्ञात रचना पुरन्दर विधान कथा है। इसके सिवाय इन्होंने महावीरचरित, यशोधरचरित, धर्मचरितटिप्पन, सुभाषितरत्ननिधि, धर्मोपदेशचूडामणि तथा ध्यानप्रदीप इन ग्रन्थों की भी रचना की थी ऐसा षट्कर्मोपदेश की प्रशस्ति से ज्ञात होता है। गुजरात के गोधरा नगर में राजा कृष्ण के राज्यकाल में अमरकीर्ति ने इन ग्रन्थों की रचना की थी। राजा कृष्ण ने इनके गुरु चन्द्रकीर्ति का सम्मान किया था ऐसा नेमिनाथचरित की प्रशस्ति से ज्ञात होता है।

[जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भाग २, प्रशस्ति ११ तथा ३१, षट्कर्मोपदेश डॉ. मोदी द्वारा सम्पादित होकर गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज में प्रकाशित हुआ है]

भावसेन

ये सेनगण के आचार्य थे। इनका समाधिलेख आन्ध्र प्रदेश के अनन्तपुर जिले में अमरापुरम् ग्राम के निकट प्राप्त हुआ है। न्याय, व्याकरण और सिद्धान्त में निपुणता के कारण इन्हें त्रैविद्य कहा जाता था। इनके तीन संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। विश्वतत्त्वप्रकाश में चार्वाक, मीमांसा आदि दर्शनों के मन्तव्यों का जैन दृष्टि से विस्तृत परीक्षण किया गया है। प्रमाप्रमेय में प्रमाण सम्बन्धी जैन सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन मिलता है। कातन्त्र रूपमाला में कातन्त्र व्याकरण के अनुसार शब्द रूपों की सिद्धि का विवरण दिया गया है। इनके अप्रकाशित ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—सिद्धान्तसार, न्यायदीपिका, कथाविचार, न्यायसूर्यावली, भुक्तिमुक्तिविचार तथा शाकटायन व्याकरण टीका।

[डॉ. जोहरापुरकर द्वारा सम्पादित विश्वतत्त्वप्रकाश की प्रस्तावना में भावसेन के विषय में विस्तृत चर्चा की गयी है।]

पद्मसेन

मैसूर प्रदेश के धारवाड़ जिले में स्थित तीर्थस्थान लक्ष्मेश्वर से प्राप्त सन् १२४७ के लेख में इनका प्रथम उल्लेख है। इस समय वहाँ की श्रीविजय-बसति के लिए पद्मसेन की शिष्या राजलदेवी द्वारा कुछ भूमि दान दी गयी थी। राजलदेवी के पिता महाप्रधान बीचिराज यादव राजा सिंहण के सामन्त थे। दावणगेरे तालुके में स्थित बेतूर ग्राम के सन् १२७१ के लेख में भी पद्मसेन का वर्णन आता है। इनके गुरु का नाम यहाँ महासेन बताया है। यादव राजा रामदेव के सामन्त कूचिराज ने अपनी दिवंगत पत्नी लक्ष्मी की स्मृति में एक जिनमन्दिर बनवाया था तथा उसकी देखभाल के लिए एक ग्राम पद्मसेन को समर्पित किया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख ३३० तथा भाग ३, लेख ५११]

सोमप्रभ

ये ऊपर वर्णित वादी देवसूरि के गुरुबन्धु अजितदेव के शिष्य विजयसिंह के शिष्य थे। इनकी विख्यात कृति कुमारपाल प्रतिबोध है जिसकी रचना सन् ११८४ में अणहिलपुर में हुई थी। हेमचन्द्र द्वारा कुमारपाल राजा को दिये गये उपदेश के रूप में इसमें ५६ कथाएँ हैं। प्राकृत भाषा के साहित्यिक सौन्दर्य के साथ सदाचार का प्रभावशाली उपदेश इन कथाओं से प्राप्त होता है। सोमप्रभ की दूसरी विस्तृत रचना सुमतिनाथचरित में भी अनेक कथाओं के माध्यम से सदाचार का उपदेश दिया गया है। इसमें लगभग ९५०० गाथाएँ हैं। इनकी एक छोटी रचना सूक्तिमुक्तावली (जिसे सिन्दूरप्रकर या सोमशतक भी कहा जाता है) काफ़ी लोकप्रिय रही है। वैराग्य का

भावपूर्ण प्रतिपादन करनेवाले संस्कृत सुभाषित इस रचना में प्राप्त होते हैं। एक श्लोक के सौ विभिन्न अर्थ प्रकट करनेवाली टीका की रचना से सोमप्रभ को शतार्थी यह बिरुद प्राप्त हुआ था। इनके गुरुबन्धु मणिरत्न थे जिनके शिष्य जगच्चन्द्र का आगे उल्लेख होगा।

[कुमारपाल प्रतिबोध की प्रस्तावना में मुनि जिनविजय ने इनका विस्तृत परिचय दिया है।]

जगच्चन्द्र

ये मणिरत्न के शिष्य थे। अपने समय के साधुओं के आचार में व्याप्त शिथिलताएँ दूर करने का व्यापक प्रयास इन्होंने किया। बारह वर्ष तक लगातार आचाम्ल तपस्या करने के कारण इनकी ख्याति सुनकर मेवाड़ के राजा जैत्रसिंह ने इन्हें तपा इस बिरुद से सम्मानित किया था। तब से इनके शिष्यों की परम्परा तपागच्छ कहलायी। यह घटना सन् १२२८ की है। अनेक वादियों से अपराजित रहने के कारण इन्हें हीरला यह बिरुद प्राप्त हुआ था।

देवेन्द्र

ये जगच्चन्द्र के पट्टशिष्य थे। इनका प्रारम्भिक समय मालवा में बीता। उज्जयिनी के श्रेष्ठिपुत्र वीरधवल ने इनसे मुनिदीक्षा ली थी तथा उनका नाम विद्यानन्द रखा गया था। इनका विद्यानन्द व्याकरण प्राप्त है। बाद में देवेन्द्र ने गुजरात और राजस्थान में विहार किया। खम्भात में महामन्त्री वस्तुपाल ने इनका सम्मान किया था। यहीं पर इनके गुरुबन्धु विजयचन्द्र ने आचार सम्बन्धी कुछ मतभेदों के कारण अपना पृथक् सम्प्रदाय स्थापित किया था। पाल्हणपुर में देवेन्द्र ने सन् १२६६ में विद्यानन्द को सूरिपद प्रदान किया था। देवेन्द्र ने पाँच कर्मग्रन्थों की रचना की। शिवशर्मकृत पुरातन ग्रन्थों से भिन्नता बताने के लिए इन्हें नव्य कर्मग्रन्थ कहा जाता है। श्राद्धदिनकृत्य, सुदर्शनाचरित्र तथा कुछ स्तुतियों की रचना भी इन्होंने की थी। सन् १२७० में इनका स्वर्गवास हुआ।

[मुनि दर्शनविजय सम्पादित पट्टावली समुच्चय के विभिन्न प्रकरणों में इन दो आचार्यों का वृत्तान्त दिया है।]

विजयसेन

ये नागेन्द्र गच्छ के हरिभद्रसूरि के शिष्य थे। गुजरात की राजधानी अणहिलपुर पाटन के पंचासर पार्श्वनाथ मन्दिर के ये प्रमुख थे। महामन्त्री वस्तुपाल और तेजपाल इनके शिष्य थे। आबू पर्वत पर वस्तुपाल ने अपने बड़े भाई लूणिग की स्मृति में लूणिगवसही नामक नेमिनाथ मन्दिर का निर्माण कराया, उसकी प्रतिष्ठा विजयसेन द्वारा सम्पन्न हुई थी। तारंगा पर्वत पर आदिनाथदेवकुलिका का निर्माण वस्तुपाल ने कराया,

उसकी प्रतिष्ठा भी विजयसेन ने की थी। वस्तुपाल निर्मित ये मन्दिर शिल्पकला के लिए विश्वविख्यात हैं। सन् १२२० में वस्तुपाल ने विशाल संघ के साथ शत्रुंजय और गिरनार की यात्रा की। इस अवसर पर विजयसेन के शिष्य उदयप्रभ ने धर्माभ्युदय नामक महाकाव्य लिखा। इसमें आदिनाथ और नेमिनाथ सम्बन्धी कथाएँ विस्तार से दी हैं। उदयप्रभ के अन्य ग्रन्थ हैं—आरम्भसिद्धि, उपदेशमालाटीका, षडशीति टिप्पण तथा कर्मस्तवटिप्पण।

[मुनि पुण्यविजय सम्पादित धर्माभ्युदय की प्रस्तावना में इनका विस्तृत परिचय दिया है।]

जयसिंह व बालचन्द्र

महामन्त्री वस्तुपाल-तेजपाल से सम्बन्धित साहित्यिकों में इन दोनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जयसिंह भड़ौच के मुनिसुव्रत मन्दिर के प्रधान आचार्य थे। इनका हम्मीर-मदमर्दन नाटक प्रकाशित हुआ है। वस्तुपाल द्वारा दिल्ली के अमीर सुलतानों की सेनाओं के पराजय का समकालीन वृत्तान्त इस नाटक का विषय है। वीररस के परिपोष के साथ ही ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व है। बालचन्द्र का वसन्तविलास नामक महाकाव्य प्रकाशित हुआ है। इसमें वस्तुपाल के जीवन की बहुविध उपलब्धियों का सुन्दर क्रमबद्ध वर्णन मिलता है। ऐतिहासिक महाकाव्यों में इतिवृत्त के विस्तार की दृष्टि से यह एक श्रेष्ठ रचना है। मन्त्रिवर के पुत्र जयन्तसिंह के अनुरोध पर बालचन्द्र ने यह काव्य लिखा था।

जिनपति

खरतरगच्छ की परम्परा में पूर्ववर्णित जिनचन्द्र के बाद सन् ११६६ में जिनपति सूरिपद पर प्रतिष्ठित हुए। आसिका नगर के राजा भीमसिंह ने इनका सम्मान किया था। अजमेर में चौहान राजा पृथ्वीराज की सभा में हुए वाद में इन्हें जयपत्र प्राप्त हुआ। अणहिलपुर के श्रीमान् सेठ अभयकुमार ने सन् ११८८ में गिरनार, शत्रुंजय, तारंगा आदि तीर्थों की यात्रा के लिए विशाल संघ निकाला था जिसमें जिनपति भी सम्मिलित हुए। यात्रा से लौटते समय आशापल्ली में प्रद्युम्नाचार्य के साथ हुए इनके वाद का विवरण वादस्थल नामक ग्रन्थ के रूप में प्राप्त है। नगरकोट के राजा पृथ्वीचन्द्र सन् १२१७ में गंगादशहरा यात्रा के अवसर पर बृहद्द्वार आये थे। उनके साथ आये हुए कश्मीर के पण्डित मनोदानन्द के साथ जिनपति के शिष्य जिनपाल उपाध्याय का वाद हुआ जिसमें राजा ने उन्हें जयपत्र प्रदान किया। विक्रमपुर, फलोधी, आसिका, अजमेर, अणहिलपुर, जालोर आदि स्थानों में इनके विहार, अनेक मुनियों की दीक्षा तथा मन्दिरों और मूर्तियों की स्थापना का विवरण पट्टावली में प्राप्त होता है। सन् १२२१ में इनका स्वर्गवास हुआ।

जिनेश्वर

ये जिनपति के बाद सूरिपद पर प्रतिष्ठित हुए। ठक्कुर अश्वराज द्वारा निकाले गये संघ के साथ इन्होंने सन् १२३३ में शत्रुंजय, गिरनार आदि की यात्रा की। इस अवसर पर खम्भात में महामन्त्री वस्तुपाल ने इनका सम्मान किया। सन् १२७० में पाल्हणपुर से श्रेष्ठी अभयचन्द्र के संघ के साथ चलकर जिनेश्वर ने पुनः शत्रुंजय आदि की यात्रा की। जालोर, बीजापुर, जेसलमेर, बाडमेर आदि स्थानों से इनके विहार, शिष्यों की दीक्षा और मूर्ति-मन्दिरों की प्रतिष्ठा का विवरण पट्टावली में प्राप्त होता है। सन् १२७४ में इनका स्वर्गवास हुआ।

[उपर्युक्त दो आचार्यों का परिचय बृहत्खरतरगच्छ-गुर्वावलि से लिया गया है।]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के शिलालेखों से ज्ञात होनेवाले कुछ अन्य आचार्यों का विवरण इस प्रकार है।

देवचन्द्र

मैसूर प्रदेश के नागमंगल तालुके के अलेसन्द्र ग्राम से प्राप्त ११८३ के शिलालेख में इनका वर्णन आता है। ये ऊपर वर्णित माघनन्दि आचार्य के प्रशिष्य देवकीर्ति के शिष्य थे। होयसल वंश के राजा वीरबल्लाल के सेनापति भरत और बाहुबली ने कुछ जिनमन्दिरों के लिए इन्हें भूमि आदि दान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, लेख ४११]

वज्रनन्दि

मैसूर प्रदेश के सोमपुर ग्राम से प्राप्त सन् ११९२ के लेख से इनका परिचय मिलता है। ये द्राविड़ संघ के वासुपूज्य आचार्य के शिष्य थे। होयसल वंश के राजा वीरबल्लाल ने शान्तिनाथ मन्दिर के लिए इन्हें दो ग्राम अर्पित किये थे।

[उपर्युक्त, भाग ४, लेख २८२]

सकलचन्द्र

मैसूर प्रदेश के सोरब तालुके के अदरि ग्राम से प्राप्त सन् ११९७ के लेख में इनका वर्णन मिलता है। ये आचार्य कुलभूषण के शिष्य थे। होयसल राजा वीरबल्लाल के सेनापति महादेव ने शान्तिनाथजिनमन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए सकलचन्द्र को भूमि आदि दान दिया था।

[उपर्युक्त, भाग ३, लेख ४३१]

शुभचन्द्र

मैसूर प्रदेश के प्रमुख नगर बेलगाँव से प्राप्त सन् १२०४ के दो विस्तृत शिला-लेखों में इनका वर्णन आता है। रट्ट वंश के राजा कार्तवीर्य के मन्त्री बीचण ने बेलगाँव में रट्टजिनालय नामक मन्दिर बनवाया था और उसके लिए इन्हें भूमि आदि दान दिया था।

[उपर्युक्त, भा. ४, लेख ३१८–१९]

धर्मचन्द्र

महाराष्ट्र के परभणी जिले में स्थित तीर्थ उखलद के जिनमन्दिर में स्थित तीन भव्य मूर्तियों के पादपीठ लेखों में इनका नाम प्राप्त होता है। ये लेख सन् १२१५ के हैं। ऐसा ही एक लेख मध्यप्रदेश के दतिया जिले में स्थित तीर्थ सोनागिरि के मन्दिर नं. ५७ की जिनमूर्ति के पादपीठ पर भी है।

[उपर्युक्त, भा. ५, लेख १३५-३८]

सागरनन्दि

मैसूर प्रदेश के अरसीकेरे नगर के सन् १२१९ के लेख में इनका नाम मिलता है। होयसल राजा वीरबल्लाल के सेनापति रेच ने सहस्रकूट जिनमन्दिर बनवाया था। उसके लिए सागरनन्दि को भूमि आदि दान प्राप्त हुए थे।

[उपर्युक्त, भा. ३, लेख ४६५]

पुष्पसेन

मैसूर प्रदेश के शिमोगा जिले के तीर्थ हुम्मच में सन् १२५६ का शिलालेख है। इसमें द्राविड़ संघ के आचार्य वादिराज के शिष्य पुष्पसेन के समाधिमरण का वर्णन है। लेख के अनुसार वे प्रसिद्ध वादी और साहित्यवेत्ता थे।

[उपर्युक्त, लेख ५०३]

□

द्वितीय खण्ड

प्रस्तावना

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनके शासन का समस्त भार उनके प्रधान शिष्यों पर आ गया। उनके शिष्यों की परम्परा शिष्य-प्रशिष्य के रूप में अविच्छिन्न रूप से चलती रही। गौतम, सुधर्मा एवं जम्बू स्वामी ये पहले तीन केवली हुए फिर पाँच श्रुतकेवली हुए।[1] इनमें अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु थे जिन्हें दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों ने स्वीकार किया है। आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द तक क़रीब २० आचार्य हुए जो अंगों एवं पूर्वों के ज्ञाता थे तथा जिन्होंने महावीर शासन की प्रभावना में उत्तरोत्तर वृद्धि की। ऐसे आचार्यों में अन्तिम आचार्य धरसेन थे जो विक्रम की प्रथम शताब्दी में हुए और जिन्होंने अपने दो योग्यतम शिष्यों को जो कुछ उनके पास ज्ञान अवशिष्ट था उसे उन्हें पढ़ाया। ये दोनों शिष्य आचार्य भूतबलि एवं पुष्पदन्त के नाम से प्रख्यात हुए। जिन्होंने 'षट्खण्डागम' ग्रन्थ को लिपिबद्ध करने की प्रक्रिया का शुभारम्भ किया।

जैनाचार्यों की ज्ञान के प्रति अगाध श्रद्धा एवं अभिरुचि ने साहित्य निर्माण में ज़बरदस्त योग दिया और ईसा की प्रथम शताब्दी में होनेवाले आचार्य कुन्दकुन्द से लेकर १२वीं शताब्दी तक ऐसे सैकड़ों आचार्य हुए जिन्होंने वीर शासन की ज़बरदस्त प्रभावना की और वे अपनी अद्भुत ज्ञान, शक्ति, चरित्र एवं तपःसाधना द्वारा उत्तर से दक्षिण एवं पूर्व से पश्चिम तक महावीर शासन का देश में ज़बरदस्त प्रचार करते रहे। ऐसे आचार्यों में उमास्वामी (तृतीय शताब्दी), समन्तभद्र (तृतीय-चतुर्थ शताब्दी), सिद्धसेन (पाँचवीं शताब्दी), देवनन्दि, पात्रकेसरी, अकलंक (सातवीं शताब्दी), वीरसेन (८वीं शताब्दी), विद्यानन्दि एवं माणिक्यनन्दी (नवीं शताब्दी), जिनसेन (नवीं शताब्दी), गुणभद्र (१०वीं शताब्दी), नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती, अमृतचन्द्र, देवसेन, पद्मनन्दि (११-१२वीं शताब्दी)-जैसे प्रभावक आचार्य हुए। ये सभी आचार्य अपने समय के अत्यधिक ओजस्वी एवं तपःपूत आचार्य थे जिनके आचार्यत्व काल में महावीर शासन का प्रभाव दिन प्रतिदिन बढ़ता गया और देश में सर्वजीवसमभाव, सर्वजातिसमभाव एवं सर्वधर्मसमभाव-जैसे लोकप्रिय सिद्धान्तों के माध्यम से जनता के विचारों में सहिष्णुता आने लगी।

लेकिन देश की जब राजनीतिक एकता समाप्त होने लगी और देश को सम्राट्

---

१. तिलोयपण्णत्ति, गाथा संख्या १४७६-७८ एवं १४८२ से १४८४ तक।

हर्षवर्धन के पश्चात् जब कोई भी शासक एक सूत्र में बाँधने में असमर्थ रहा तब देश में एकता के स्थान पर अनेकता ने सिर उठाया और चारों ओर अशान्ति का वातावरण छाने लगा। ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारत पर मुसलमानों के आक्रमण होने लगे और १३वीं शताब्दी के आते-आते तो यहाँ मुसलमानों का हमेशा के लिए शासन स्थापित हो गया। देश में आतंक का साम्राज्य छा गया क्योंकि मुसलमान शासक धर्मान्ध, क्रूर, निर्दयी और बर्बर होते थे। उनके महत्वपूर्ण कारनामे यही होते थे कि किस मुसलमान सिपाही ने कितने सशस्त्र एवं निहत्थों को तलवार के घाट उतारा और कितनों को जबरदस्ती मुसलमान बनाया, कितने मन्दिरों और मूर्तियों को तोड़ा और लूटा।

ऐसे भयपूर्ण शासन में अहिंसकों का जीना बड़ा दूभर हो गया। नग्न साधुओं का विहार होना और भी कठिन हो गया। मन्दिरों को लूटने, मूर्तियों को तोड़ने एवं स्त्री-पुरुषों तथा बच्चों को मौत के घाट उतारना एक साधारण-सी घटना हो गयी। स्वतन्त्रता पूर्वक धर्माचरण नहीं हो सकता था तथा सभी के हृदयों में भय एवं आतंक का वातावरण बना हुआ था। न तो नग्न साधुओं का स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण हो सकता था और न मन्दिरों एवं शास्त्र भण्डारों की सुरक्षा की गारण्टी थी। इन सब कारणों से पूर्णतः नग्नत्व में ढिलाई रखने पर विचार किया जाने लगा।

अलाउद्दीन खिलजी के समय (१२९६-१३१६) में दिल्ली का नगरसेठ पूर्णचन्द्र नामक अग्रवाल जैन था। बादशाह की उसपर विशेष कृपा थी और शासन में उसका विशेष हाथ था। राज्य की अर्थ व्यवस्था का वह एकमात्र अधिकारी था। जब बादशाह को माधवसेन की विद्वत्ता, तपस्या एवं चमत्कार की कितनी ही कहानी राजदरबारियों से सुनने को मिली तो बादशाह ने भी उनसे भेंट करने की इच्छा प्रकट की। बादशाह के पण्डितों में राघो, चेतन ये दो प्रसिद्ध पण्डित थे। ये संस्कृत के महान् ज्ञाता एवं तार्किक विद्वान् थे। बादशाह के हृदय में जैन एवं ब्राह्मण विद्वानों के शास्त्रार्थ देखने की इच्छा हुई। इसलिए उसने अपने कोषाधिकारी सेठ पूर्णचन्द्र से दिगम्बराचार्य माधवसेन को देहली बुलाने का आग्रह किया। माधवसेन नग्न साधु थे इसलिए पद-विहार करते हुए ही वे देहली आये। वहाँ उनका कितने ही स्थानों पर प्रवचन हुआ।

माधवसेन ने शास्त्रार्थ में बादशाह के दो पण्डितों राघो, चेतन को हराया और इस प्रकार ऐसे कट्टर मुस्लिम बादशाह के शासन काल में भी माधवसेन ने जैनधर्म की प्रभावना स्थापित की।[1] इसी बादशाह के शासन काल में नन्दिसंघ के आचार्य प्रभाचन्द्र ने दिल्ली में अपना संघ, स्थापित किया और इस प्रकार सारे उत्तर भारत में भट्टारक परम्परा को नवरूप प्रदान किया गया।

भट्टारक प्रभाचन्द्र के पश्चात् भट्टारक परम्परा ने सारे देश में शनैः-शनैः लोकप्रियता प्राप्त की और एक के पश्चात् दूसरे प्रान्तों में भट्टारक गादियाँ स्थापित होने लगीं। राजस्थान में चित्तौड़, चाकसू, आमेर, साँगानेर, जयपुर, श्रीमहावीरजी, अजमेर

१. भारतीय इतिहास—एक दृष्टि, पृष्ठ-४०३, ४०८-४०९

एवं नागौर, मध्य प्रदेश में ग्वालियर एवं सोनागिरि, बागड प्रदेश में डूंगुरपुर, सागवाडा, बांसवाड़ा, गुजरात में नवसारी, सूरत, खम्भात, घोघा, सौराष्ट्र में गिरनार, महाराष्ट्र में कारंजा, नागपुर, दक्षिण में श्रवणबेलगोल, आदि स्थानों में भट्टारकों की गादियाँ ही स्थापित नहीं थीं किन्तु इन प्रान्तों में भट्टारकों का पूर्ण प्रभाव भी व्याप्त रहा। इन भट्टारकों ने अपने अलग-अलग गण, संघ एवं गच्छ स्थापित कर लिये। अपने प्रभाव से क्षेत्र बांट लिये और अपनी-अपनी सीमाओं में धर्म के एकमात्र स्तम्भ बन गये। १६वीं शताब्दी में देहली गादी के भट्टारकों ने अपने ही अधीन मण्डलाचार्य के पद भी बनाये और ये मण्डलाचार्य ही भट्टारक के नाम पर प्रतिष्ठा, पूजा एवं समारोह आयोजित करने लगे।

संवत् १३५१ से १८०० तक भट्टारक ही आचार्य, उपाध्याय एवं सर्वसाधु के रूप में जनता द्वारा पूजित थे। ये भट्टारक प्रारम्भ में नग्न होते थे इसलिए भट्टारक सकलकीर्ति को निर्ग्रन्थराज कहा गया है। आँवा (राजस्थान) में भट्टारक शुभचन्द्र, जिनचन्द्र एवं प्रभाचन्द्र की जो निषेधिकाएँ हैं वे तीनों ही नग्नावस्था की हैं। ये भट्टारक अपना आचरण श्रमण परम्परा के पूर्णतः अनुकूल रखते थे। ये अपने संघ के प्रमुख होते थे और संघ की देख-रेख का सारा भार इन पर ही रहता था। इनके संघ में मुनि, उपाध्याय, ब्रह्मचारी एवं आर्यिकाएँ होती थीं। प्रतिष्ठा-महोत्सवों एवं विविध व्रत-उपवासों की समाप्ति पर होनेवाले आयोजनों के संचालन में इनका प्रमुख हाथ होता था। राजस्थान के शास्त्र भण्डारों में ऐसी हजारों पाण्डुलिपियाँ संगृहीत हैं जो इन भट्टारकों की विशेष प्रेरणा से विभिन्न श्रावक-श्राविकाओं ने व्रतोद्यापन के अवसर पर लिखवाकर इन शास्त्र भण्डारों में विराजमान की थीं। इस दृष्टि से इन भट्टारकों का सर्वाधिक योग रहा। संवत् १३५१ से संवत् १९०० तक जितने भी देश में पंच कल्याणक प्रतिष्ठाएँ सम्पन्न हुई वे प्रायः सभी इन्हीं भट्टारकों के तत्वावधान में आयोजित हुई थीं। संवत् १५४८, १६६४, १७८३, १८२६ एवं १८५२ में देश में जो विशाल प्रतिष्ठाएँ हुई थीं वे इतिहास में अद्वितीय थीं और उनमें हजारों मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित हुई थीं। उत्तर भारत के प्रायः सभी मन्दिरों में आज इन संवतों में प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ अवश्य मिलती हैं।

इन भट्टारकों को जैन सन्तों के रूप में स्मरण किया जा सकता है। क्योंकि सन्तों का स्वरूप हमें इन भट्टारकों में देखने को मिलता है। इनका जीवन ही राष्ट्र को आध्यात्मिक खुराक देने के लिए समर्पित हो चुका था तथा वे देश को साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं बौद्धिक दृष्टि से सम्पन्न बनाते थे। वे स्थान-स्थान पर विहार करके जन-मानस को पावन बनाते थे।

ये भट्टारक पूर्णतः संयमी होते थे। भट्टारक विजयकीर्ति के संयम को डिगाने के लिए कामदेव ने भारी प्रयत्न किये थे लेकिन अन्त में उसे हार माननी पड़ी। विजयकीर्ति अपनी संयम की परीक्षा में सफल हुए। इनका आहार एवं विहार पूर्णतः श्रमण परम्परा के अन्तर्गत होता था। मुगल बादशाहों तक ने उनके चरित्र एवं विद्वत्ता की

प्रशंसा की थी। मध्यकाल में तो वे जैनों के आध्यात्मिक राजा कहलाने लगे थे किन्तु यही उनके पतन का प्रारम्भिक क़दम था।[1]

संवत् १३५१ से संवत् २००० तक इन भट्टारकों का कभी उत्थान हुआ तो कभी वे पतन की ओर अग्रसर हुए लेकिन फिर भी ये समाज के आवश्यक अंग माने जाते रहे। यद्यपि दिगम्बर जैन समाज में तेरापन्थ के उदय से इन भट्टारकों पर विद्वानों द्वारा कड़े प्रहार किये गये तथा कुछ विद्वान् इनकी लोकप्रियता को समाप्त करने में बड़े भारी साधक भी बने लेकिन फिर भी समाज में इनकी आवश्यकता बनी रही और व्रत-विधान एवं प्रतिष्ठा समारोहों में तो इन भट्टारकों की उपस्थिति आवश्यक मानी जाती रही। ६५० वर्षों में से ६०० वर्ष तक तो ये भट्टारक जैन समाज के अनेक विरोधों के बावजूद भी श्रद्धा के पात्र बने रहे और समाज इनकी सेवाओं को आवश्यक समझती रही। शुभचन्द्र, जिनचन्द्र, सकलकीर्ति, ज्ञानभूषण-जैसे भट्टारक किसी भी दृष्टि से आचार्यों से कम नहीं थे क्योंकि उनका ज्ञान, त्याग, तपस्या और साधना सभी तो उनके समान थी और वे अपने समय के एकमात्र निर्विवाद दिगम्बर समाज के आचार्य थे। उन्होंने मुग़लों के समय में जैन धर्म की रक्षा ही नहीं की किन्तु साहित्य एवं संस्कृति की रक्षा में भी अत्यधिक तत्पर रहे। भट्टारक शुभचन्द्र को यतियों का राजा कहा जाता था तथा भट्टारक सोमकीर्ति अपने आपको आचार्य लिखना अधिक पसन्द करते थे। भट्टारक वीरचन्द्र महाव्रतियों के नायक थे। उन्होंने १६ वर्ष तक नीरस आहार का सेवन किया था।

ये भट्टारक पूर्णतः प्रभुत्वसम्पन्न थे। वैसे ये आचार्यों के भी आचार्य थे क्योंकि इनके संघ में आचार्य, मुनि, ब्रह्मचारी एवं आर्यिकाएं रहती थीं। भट्टारक रतनचन्द्र के शिष्यों में ६ आचार्य एवं ३३ उपाध्याय थे। ४० ब्रह्मचारी एवं १० ब्रह्मचारिणियाँ थीं। इसी तरह मण्डलाचार्य गुणचन्द्र के शिष्यों में ९ आचार्य एवं १ मुनि तथा २७ ब्रह्मचारी एवं १२ ब्रह्मचारिणियाँ थीं[2]। मुनि एवं आचार्य नग्न रहा करते थे। केवल भट्टारकों में कुछ-कुछ अपवाद आ गया था। वैसे भट्टारक सकलकीर्ति को निर्ग्रन्थराज कहा जाता था।

साहित्य की जितनी सेवा इन भट्टारकों ने की थी वह तो अपनी दृष्टि से इतिहास का अद्वितीय उदाहरण है। भट्टारक सकलकीर्ति एवं उनकी परम्परा के अधिकांश विद्वान् साहित्यसेवी थे। भट्टारक रत्नकीर्ति, कुमुदचन्द्र, सोमकीर्ति, जयसागर, भट्टारक महीचन्द्र आदि पचासों भट्टारकों ने साहित्य निर्माण में अत्यधिक रुचि ली थी। साहित्य निर्माण के अतिरिक्त इन्होंने प्राचीन साहित्य की सुरक्षा में भी सबसे अधिक योग दिया। शास्त्र भण्डारों की स्थापना, नवीन पाण्डुलिपियों का लेखन एवं उनका संग्रह आदि सभी इनके अद्वितीय कार्य थे। आज भी जितना अधिक पाण्डुलिपियों का संग्रह भट्टारकों के केन्द्रों पर मिलता है उतना अन्यत्र नहीं। अजमेर, नागौर, आमेर-जैसे नगरों के शास्त्र भण्डार इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। ये भट्टारक ज्ञान की ज्वलन्त मूर्ति

१. राजस्थान के जैन सन्त—व्यक्तित्व एवं कृतित्व—डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल।
२. गुटका—पं. चन्दनलाल जी जैन, पत्र संख्या ७३-७८।

होते थे। इन्होंने प्राकृत एवं अपभ्रंश के स्थान पर संस्कृत एवं हिन्दी में ग्रन्थ रचनाओं को अधिक प्रोत्साहन दिया और स्वयं भी प्रमुखतः इन्हीं भाषाओं में ग्रन्थों का निर्माण किया। इसके अतिरिक्त वे साहित्य की किसी भी एक विधा से नहीं चिपके रहे किन्तु साहित्य के सभी अंगों को पल्लवित किया। उन्होंने चरित काव्यों के साथ-साथ पुराण, काव्य, बेलि, रास, पंचासिका, शतक, पचीसी, बावनी, विवाहलो, आख्यान, पद एवं गीतों की रचना में गहरी रुचि ली और संस्कृत एवं हिन्दी में सैकड़ों महत्त्वपूर्ण रचनाओं में उसके प्रचार-प्रसार में पूर्ण योग दिया। इन्हीं के शिष्य ब्रह्म जिनदास अपने गुरु से भी बाजी मार ले गये और संस्कृत में १२ तथा हिन्दी-राजस्थानी में ५३ रचनाएँ लिख-कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। वास्तव में ब्रह्म जिनदास-जैसा हिन्दी साहित्य में दूसरा कोई कवि नहीं मिलेगा जिन्होंने अकेले ३५ रासक ग्रन्थ लिखे हों। ब्रह्म जिनदास का 'राम सीता रास' तुलसीदास के 'रामचरितमानस' से भी कहीं बड़ा है।

साहित्य निर्माण के अतिरिक्त श्रमण संस्कृति के इन उपासकों द्वारा राजस्थान, मध्यप्रदेश, देहली, बागड प्रदेश एवं गुजरात में मन्दिरों के निर्माण में, प्रतिष्ठा समारोहों के आयोजनों में, मूर्तियों की प्रतिष्ठा में जितना योग दिया गया वह भी आज हमारे लिए इतिहास की वस्तु है। आज सारा बागड प्रदेश, मालवा प्रदेश, कोटा, बूंदी एवं झाला-वाड का प्रदेश, चम्पावती, टोडारायसिंह एवं रणथम्भौर का क्षेत्र जितना जैन पुरातत्त्व में समृद्ध है उतना देश का अन्य क्षेत्र नहीं है। मुगल शासन में एवं उसके बाद भी इन भट्टारकों ने इस प्रकार के कार्य सम्पन्नता में जितना रस लिया वह भारतीय पुरातत्व के इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है। संवत् १५४८ में भट्टारक जिनचन्द्र ने मुडासा नगर में एक हजार से भी अधिक मूर्तियों की प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न किया था। यह विशाल आयोजन जीवराज पापड़ीवाल द्वारा कराया गया था। इसी तरह संवत् १८२६ में सवाई माधोपुर में भट्टारक सुखेन्द्रकीर्ति के तत्त्वावधान में जो विशाल प्रतिष्ठा समारोह हुआ था उसमें भी हजारों मूर्तियों को प्रतिष्ठित बनाया गया था। राजस्थान में आज कोई ऐसा मन्दिर नहीं होगा जिसमें संवत् १८२६ में प्रतिष्ठापित मूर्ति नहीं मिलती हो। ये भट्टारक बाद में अपने कीर्तिस्तम्भ बनवाने लगे थे जिनमें भट्टारक परम्परा का विस्तृत उल्लेख मिलता है। ऐसा ही कीर्तिस्तम्भ पहले चाकसू में था जो आजकल राजस्थान पुरातत्त्व विभाग के अधीन है और यह आमेर के बाग में स्थापित किया हुआ है। आमेर (जयपुर) में एक नशियाँ कीर्तिस्तम्भ की नशियाँ के नाम से ही प्रसिद्ध है। इस कीर्ति-स्तम्भ को संवत् १८८३ में भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने स्थापित किया था। इसी तरह चाँदखेड़ी, एवं मौजमाबाद में विशाल प्रतिष्ठाओं का आयोजन हुआ था। संवत् १६६४ में प्रतिष्ठापित २०० से अधिक मूर्तियाँ तो स्वयं मौजमाबाद में विराजमान हैं। विशाल एवं कलापूर्ण मूर्तियों के निर्माण में भी इनकी गहरी रुचि होती थी। जयपुर में पार्श्व-नाथ की प्रतिमा सांगवाडा, चाँदखेड़ी, झालरापाटन में जैसी विशालकाय एवं मनोज्ञ मूर्तियाँ मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

विहार

संवत् १३५१ से संवत् २००० तक होनेवाले सभी भट्टारक, आचार्य, उपाध्याय, ब्रह्मचारी एवं आर्यिकाएँ चातुर्मास के अतिरिक्त वर्ष के शेष भाग में विहार करते रहे हैं। इनका यह विहार ही जन जाग्रति का सूचक होता था। चातुर्मास में वे एक ही स्थान पर धर्मोपदेश दिया करते थे। शास्त्र प्रवचन, ग्रन्थ निर्माण एवं अध्ययन-अध्यापन का कार्य किया करते थे। भट्टारक क्षेमकीर्ति का संवत् १७३१ से संवत् १७५७ तक का विहार का विस्तृत वर्णन प्राप्त हुआ है जिसके पढ़ने से ज्ञात होता है कि उन्होंने कहाँ-कहाँ विहार किया था और किस ग्राम एवं नगर को अपने चरणरज से पावन किया था।[1]

भट्टारक सकलकीर्ति का इसी प्रकार के विहार का वर्णन मिलता है। जिसमें लिखा है कि भट्टारक सकलकीर्ति "एहवा धर्म्म करणी करावता बागडरायने देस दक्षलगड़ नवसहस्रमध्य संचली देसी प्रदेसी व्यवहार कर्म करता धर्मोपदेस देता नवाँ ग्रन्थ सुध करतां वर्ष २२ व्याहार कर्म करिने धर्म संचली प्रवर्त्यां।" भट्टारक रत्नकीर्ति (संवत् १६००-१६५६) के विहार करते समय महिलाएँ उनके स्वागत में विविध मंगल गीत गाती थीं, चौक पूरती थीं और विविध बाजे बजाती थीं—

> कमल बदन करुणालय कहीये
> कनक वरण सोहे कांत मोरी सहीय रे।
> कजल दल लोचन पापना मोचन
> कलाकार प्रगटो विख्यात मोरी सहीय रे॥

जयपुर के भट्टारकों को राज्य की ओर से वही सम्मान प्राप्त था जो किसी एक स्वतन्त्र शासक को प्राप्त थे। उनके पदार्पण के समय राज्य सरकार की ओर से भेंट दी जाती थी। पालकी में बैठकर चँवर करते हुए उन्हें ले जाया जाता था और साथ में ध्वज दण्ड, ध्वजा आदि सभी चलते थे। यह सब उनके आध्यात्मिक तेज पर आधारित था। जब वे किसी के आहार के लिए जाते तो उनको श्रावक गण भेंट करते तथा बड़े उत्साह एवं उमंग के साथ उनका आहार होता। आहार करने की क्रिया को भँवर कहा जाता था।

इस प्रकार ६५० वर्ष का यह काल भारतीय इतिहास में सांस्कृतिक एवं साहित्यिक जागरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा। इसका विस्तृत परिचय पुस्तक के आगे के पृष्ठों में दिया जायेगा किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन साधुओं ने मुसलिम शासन काल में भी श्रमण संस्कृति को जीवित रखा और देश में अहिंसा एवं शाकाहार का अधिक से अधिक प्रचार किया।

●

---

१. भट्टारक पट्टावली, पत्र संख्या २३-५७।
(महावीर भवन, जयपुर में संग्रहीत)

भट्टारक प्रभाचन्द्र

[संवत् १३१४ से १४०८ तक]

भट्टारक प्रभाचन्द्र उन भट्टारकों में से हैं जिन्होंने भगवान् महावीर के शासन की महती प्रभावना की थी तथा सारे देश में जैन साधु के पद की गरिमा को बढ़ाया था। यद्यपि वे मुसलिम शासन के उस प्रारम्भिक काल में हुए थे जब कि देहली के शासक तलवार के जोर से धर्म परिवर्तन में विश्वास करते थे तथा भारतीयों को मौत के घाट उतारना उनके लिए अत्यधिक सरल था लेकिन भगवान् महावीर के अनुयायियों के जीवन में अहिंसा एवं सर्वधर्मसमभाव-जैसे सिद्धान्तों के आत्मसात् होने के कारण उन्होंने अपने विरोधियों का भी अहिंसा से स्वागत किया और अपने जीवन से धार्मिक सहिष्णुता को कभी दूर नहीं होने दिया। प्रभाचन्द्र तुगलक वंश के शासन काल में हुए थे। उन्होंने देहली पर गयासुद्दीन तुगलक (१३२१–२५ ई.) मुहम्मदबिन तुगलक (१३२५–५१) एवं फिरोजशाह तुगलक का (१३५१–८८ ई.), प्रारम्भिक शासन देखा था। वे मुनिराज थे। तिलतुष मात्र भी परिग्रह उनके पास नहीं था। वे जैन संघ के आचार्य थे तथा भट्टारक पद को सुशोभित करते थे। अजमेर उनकी गादी का प्रमुख केन्द्र था।[1] राजस्थान, देहली, उत्तर प्रदेश उनका कार्यक्षेत्र था। बागड प्रदेश में उनके प्रधान शिष्य पद्मनन्दि का प्रभाव स्थापित था। प्रतिष्ठाऍं सम्पन्न कराना, स्थान-स्थान पर विहार करके अहिंसा एवं धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार करना प्रमुख कार्य था। जैन धर्म एवं समाज पर विपत्ति आने पर उसे दूर करने में उनका पूर्ण सहयोग मिलता था। लेकिन उसमें साधु के पद की मर्यादा का प्रश्न सदैव उनके सामने रहता था।

प्रभाचन्द्र भट्टारक धर्मचन्द्र के प्रशिष्य एवं भट्टारक रत्नकीर्ति के शिष्य थे। धर्मचन्द्र एवं रत्नकीर्ति दोनों ही अपने समय के बड़े प्रभावशाली भट्टारक थे। भट्टारक धर्मचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठापित कितनी ही मूर्तियाँ राजस्थान के मन्दिरों में विराजमान हैं। इनमें संवत् १२७२ (१२१५ ई.) में रणथम्भौर के प्रसिद्ध गढ़ में प्रतिष्ठापित मूर्ति भरतपुर, जयपुर आदि नगरों में मिलती हैं।[2]

राजस्थान के इस प्रसिद्ध दुर्ग पर उन दिनों महाराजा हम्मीर का शासन था। ऐसे प्रभावक भट्टारक एवं आचार्य धर्मचन्द्र के प्रभाचन्द्र सुयोग्य प्रशिष्य थे। जिनकी

---

१. Jainism in Rajasthan by Dr. K. C. Jain page, 74.

२. संवत् १२७२ वर्षे माघ सुदी ६ श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छे भट्टारक श्री धर्मचन्द्रजी साह पल्लीसल चंवरड संजबलात शहर रणथंभपुर राज हमीरदे।

यशोगाथा ने इन दिनों सारे जैन समाज को प्रभावित कर लिया था। प्रभाचन्द्र साधु तो थे ही किन्तु अपनी तपःसाधना से कितने ही चमत्कारिक कार्य भी सम्पन्न किये थे। वे अपने चमत्कारिक कार्यों से भी सारे देश में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

देहली में फिरोजशाह तुगलक का शासन था। चाँदागूजर पापड़ीवाल उनके प्रमुख मन्त्री थे। सम्भवतः देश का सारा भार उन्हीं पर था। एक बार चाँदागूजर ने देहली में प्रतिष्ठा समारोह करने का निश्चय किया और अजमेर जाकर भट्टारक प्रभाचन्द्र से प्रतिष्ठाकार्य को सम्पन्न कराने की प्रार्थना की। भट्टारक प्रभाचन्द्र ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। प्रतिष्ठा का मुहूर्त निकाल दिया गया लेकिन फिर चलने की कोई तिथि निश्चित नहीं की। एक-एक दिन बीतने लगा और उन्होंने प्रभाचन्द्र से निवेदन किया कि यदि वे नहीं जा सकें तो उन्हें तो जाने की आज्ञा प्रदान करें। प्रभाचन्द्र सारी स्थिति को समझ गये और उनसे कहा कि प्रातःकाल देखना वे कहाँ होते हैं। रात्रि को सब प्रतिदिन की भाँति सो गये लेकिन जब वे प्रभात में उठे तो उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे देहली के द्वार पर खड़े हैं।[1]

देहली-प्रवेश पर उनका शानदार स्वागत किया गया। स्वयं बादशाह तुगलक उन्हें लिवाने आये। बादशाह को अगवानी को आया हुआ देख सारा देहली शहर ही उनके स्वागत में उमड़ पड़ा। श्राविकाओं ने मंगल-गीतों के साथ उनका हार्दिक अभिनन्दन दिया। चारों ओर कलश स्थापित किये गये। ऐसे अभूतपूर्व स्वागत को देखकर बादशाह के दो पण्डित राघो-चेतन का हृदय ईर्ष्या से भर गया। वे पण्डित तो थे ही मन्त्रसिद्धि भी उनके पास थी। इसलिए जब प्रभाचन्द्र पालकी में विराजमान हुए तो राघो-चेतन ने अपनी मन्त्रशक्ति से उस पालकी को ही कील दिया। प्रभाचन्द्र को सारी स्थिति समझने में देर नहीं लगी और उन्होंने भी अपनी साधना के बल पर पालकी ही आकाश में उठा ली और वह बिना कहारों के ही चलने लगी। इस चमत्कार से चारों ओर प्रभाचन्द्र की जय-जयकार होने लगी। लोग खुशी से नाच उठे और भगवान् महावीर के शासन का प्रभाव सबके हृदयों पर छा गया।

लेकिन अभी राघो-चेतन ने हार नहीं मानी थी। उसने प्रभाचन्द्र से शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की। भट्टारक प्रभाचन्द्र तो पीछे हटनेवाले नहीं थे क्योंकि उनका शास्त्रों का ज्ञान अगाध था। संस्कृत एवं प्राकृत भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। न्याय शास्त्र के वे पारगामी विद्वान् थे। आखिर दोनों विद्वानों में शास्त्रार्थ छिड़ा। प्रश्नों की बौछार होने लगी। शंकाएँ उठने लगीं। राघो-चेतन जब प्रश्न करते तो उपस्थित जनसमूह आशंका की दृष्टि से देखने लगता कि देखें अब इसका आचार्यश्री क्या जवाब देते हैं। लेकिन भट्टारक प्रभाचन्द्र उसका सहज भाव से उत्तर देते और उत्तर भी ऐसा होता जिसको सुनकर सारी सभा वाह-वाह कह उठती। इस प्रकार के

---

१. बुद्धिविलास—बखतराम साह, पृ. सं. ७४-७५।

एक प्रश्न के पश्चात् दूसरे प्रश्न का उत्तर देने लगे और अन्त में शास्त्रार्थ में भी दोनों ही राघो-चेतन को पराजित होना पड़ा।[1]

एक दिन राघो-चेतन ने भट्टारक प्रभाचन्द्र से पुछवाया कि आज कौन-सी तिथि है। उस दिन वास्तव में अमावस्या थी लेकिन प्रभाचन्द्र के मुख से पूर्णिमा का नाम निकल गया। फिर क्या था। दोनों पण्डितों ने इस मामूली-सी बात का बतंगड़ बना दिया और इस बात को बादशाह तक पहुँचा दी। बादशाह ने भी इस तथ्य की प्रभाचन्द्र से जानकारी चाही कि वास्तव में जो कुछ उन्होंने सुना क्या वह सही है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने उन्होंने जो कुछ कहा था उसे सही बताया। यह बात बिजली की तरह सारे शहर में फैल गयी। अब क्या था। अमावस्या की पूर्णिमा होना असम्भव था इसलिए देहली के नागरिकों का हृदय बैठने लगा। मुख उदास हो गये और वे भविष्य के भय से आशंकित हो उठे। श्रावकगण के मुखों पर एक अजीब भय छा गया। प्रभाचन्द्र के नर-नारी दर्शन करते और उन्हें निर्भय पाकर आश्चर्य चकित हो उठते। दिन ढलने लगा और रात्रि का जोरों से इन्तजार होने लगा। सबकी आँखें आकाश की ओर थीं क्योंकि उन्होंने कल ही तो अमावस्या की पूर्व रात्रि देखी थी भला क्या वह सब झूठ था और सच था तो फिर महान् जैन सन्त प्रभाचन्द्र का कल क्या होगा। इसको सोच-सोचकर तरह-तरह की आशंकाएँ करने लगे।

प्रभाचन्द्र ने अपनी दैनिक क्रियाएँ यथावत् कीं। दोपहर में सामायिक क्रिया सम्पन्न की। अपराह्न में सहस्रों नर-नारियों को प्रवचन भी दिया। लेकिन भय अथवा आशंका का जरा भी नाम नहीं। प्रवचन के पश्चात् वे ध्यानस्थ हो गये और पद्मावती देवी का भक्तिपूर्वक एवं अपने सम्पूर्ण मनोयोग से स्तवन करने लगे और उससे सन्ध्या समय आकाश में पूर्ण चन्द्रमा दिखलाने की प्रार्थना करने लगे। देवी पद्मावती को अपने भक्त प्रभाचन्द्र की प्रार्थना स्वीकार करनी पड़ी। यद्यपि यह सब उनके पद के विरुद्ध था लेकिन जैन शासन की प्रभावना का भी प्रश्न उनके सामने था। एक ओर रात्रि हो रही थी तो दूसरी ओर आकाश में चन्द्रमा उग रहा था। देहली के नागरिक आश्चर्यचकित थे। सभी लोग दाँतों तले अँगुली दबा रहे थे। लोग हैरान थे आकाश में चन्द्रमा देखकर। ऐसा लग रहा था मानो उन्होंने चन्द्रमा को पहली बार देखा हो। लेकिन प्रभाचन्द्र के भक्तों एवं प्रशंसकों की खुशी का पारावार नहीं था। वे नाच रहे थे। कूद-कूदकर अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहे थे। भगवान् महावीर की जय, आचार्य प्रभाचन्द्र की जय के नारे लग रहे थे। स्वयं बादशाह भी हैरान थे। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि वास्तव में उस दिन पूर्णिमा थी अथवा अमावस्या क्योंकि कल तो काली चतुर्दशी थी। यह उन्होंने स्वयं देखा था तो फिर आज पूर्णिमा कैसे

---

१. इन आदि वाद कीन्हें अनेक, मुनि जीति सर्व राखी सु टेक। ६०३॥ (बुद्धिविलास) बखतराम कमण्डल सु वाद कीयै प्रचंड, राघव चेतन कीय खंड खंड भट्टारक पट्टावलि-महावीर भवन, जयपुर।

सम्भव ही सकती थी। बादशाह के सामने राघो-चेतन स्वयं उपस्थित हुए। उनकी दशा देखने लायक़ थी। चेहरा उतरा हुआ था। मुख से शब्द नहीं निकल रहे थे। वे हाथ जोड़े बादशाह के सामने खड़े थे। बड़ी कठिनता से उन्होंने बादशाह से अर्ज किया कि जहाँपनाह, यह तो अवश्य आचार्यश्री का करिश्मा है। मन्त्र-साधना है अथवा हमारी आँखें ही अपने आपको धोखा दे रही हैं। बादशाह सलामत, आप स्वयं पंचांग देख लीजिए। सारी जनता से पूछ लीजिए कि आज कौन-सी तिथि है। इसलिए हमारा तो हुज़ूर से इतना ही निवेदन है कि नगर के १२ कोश तक घोड़े दौड़ाये जायें और यदि वहाँ भी चन्द्रमा दिखता है तो मैं अपनी हार मान जाऊँगा नहीं तो यह सब करिश्मा है, एक धोखा है। और धोखा भी मुझे नहीं स्वयं बादशाह सलामत को है।

बादशाह ने तत्काल पं. राघो-चेतन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। चारों ओर घुड़सवार दौड़ा दिये गये। उनको सख्त आदेश दिये गये कि वे १२ कोश तक जाकर देखें कि आज उन्हें चन्द्रमा दिखता है अथवा नहीं। घोड़े दौड़े, राघो-चेतन के शिष्य भी भागे लेकिन सभी के हाथ असफलता लगी तथा उन्होंने बादशाह से आकर यही निवेदन किया कि जैसा उन्होंने देहली में देखा है वैसा ही अन्यत्र देखा है। वास्तव में सभी स्थानों पर चन्द्रमा अपनी पूर्णावस्था में दिखाई दे रहा था। यह राघो-चेतन की तीसरी हार थी।[1]

राघो-चेतन ने अभी तक अपनी हार नहीं मानी। उसने एक दावँ और फेंका तथा अपनी मन्त्र शक्ति से भट्टारक प्रभाचन्द्र के कमण्डलु के जल को मदिरा में परिवर्तित कर दिया तथा बादशाह से निवेदन किया कि आचार्यश्री के कमण्डलु में जल के स्थान पर मदिरा भरी हुई है। इससे स्पष्ट है कि ये जैन साधु जनता को धोखा देते हैं और स्वयं मदिरा पान करते हैं। यह प्रभाचन्द्र के चमत्कार की अन्तिम परीक्षा थी। फिरोजशाह ने राघव-चेतन की बात मानकर पुनः प्रभाचन्द्र से इसका समाधान चाहा। आचार्य प्रभाचन्द्र ने राघव-चेतन की चाल को शीघ्र समझ लिया और उनकी साधना के बल पर कमण्डलु में जल के स्थान पर पुष्प होने में देर नहीं लगी। तत्काल प्रभाचन्द्र ने अपने कमण्डलु को उलटा कर दिया और उसमें से पुष्प निकलते ही फिरोजशाह की

---

१. मावस दिन मुनि तिह ठाम देखि, सिष्यनु तैं बूझी तिथि बिसेखि।
सिष्यनु मिलि पुरन्नया कहीस, यह अरज दिलीपति पै दईस ॥६०४॥
है आजु अमावस अहो साहि, गुरु पुन्यौ झूठी कही काहि।
पतिसाहि खिनाई बूझि तिथ, मुनि भाषी पुन्यौं आजि सत्ति ॥६०५॥
देवी पदमावति कौं अराधि, बिनती काई संध्या समै साधि।
दीन्हीं उगाय तब माँझि चंद, नगर्यौ पुर मैं जल अति अमन्द ॥६०६॥
बा बिनु मिलि भाषी अहो साहि, द्वादस कोसनि परकास नाहि।
तब साँड दौडाये अनेक, सुनि मुनि दिय माँधि सुजाल एक ॥६०७॥
वे दौड़े कोस बहोत रात्ति, बारह होमैं उग्यो ममाखि।
या बिधि लखि साहि मुनिंद पासि, आये नमि कीन्ही अरज दासि ॥६०८॥

प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा।[1]

इस प्रकार सभी परीक्षाओं में प्रभाचन्द्र की विजय हुई। बादशाह फिरोजशाह तुग़लक ने भी अपनी अत्यधिक प्रसन्नता जाहिर की और आचार्यश्री की जय-जयकार की। सारे नगर में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। लोग आचार्य श्री के दर्शनों को उमड़ पड़े। अपार जनसमूह था और कहते हैं देहलीवासियों ने ऐसा भाव-भीना दृश्य पहले कभी नहीं देखा था। प्रभाचन्द्र के चमत्कार की कहानी बादशाह के महलों तक में पहुँच गयी। इसलिए बेगमें भी उनके दर्शनों को आतुर हो उठीं। प्रभाचन्द्र तो नग्न थे इसलिए महलों में जा भी कैसे सकते थे। लेकिन उनकी प्रशंसा की कहानी इतनी अधिक बढ़ गयी थी कि बेगमों से मुनिश्री के दर्शनों बिना नहीं रह गया और अन्त में उन्हें बादशाह से यह कहना पड़ा कि वे जबतक मुनिश्री के दर्शन नहीं करेंगी आहार-पानी का त्याग रखेंगी। बादशाह ने अपने प्रधान चाँद गूजर को बुलवाया और कहा कि आचार्यश्री का बेगमें भी दर्शन करना चाहती हैं इसलिए इसका शीघ्र प्रबन्ध किया जाये। मुसलिम बादशाहों के महलों में किसी जैन मुनि के प्रवेश की यह प्रथम घटना थी। इसलिए श्रावकों ने मिलकर मुनिश्री प्रभाचन्द्र से निवेदन किया कि यदि वे लँगोट लगाकर महलों में जा सकें तो धर्म की रक्षा हो सकेगी अन्यथा समस्त समाज को बादशाह के क्रोध का सामना करना पड़ेगा। प्रभाचन्द्र ने सर्वप्रथम लँगोट लगाने के लिए पूर्णत: अस्वीकार कर दिया और अपनी पूर्व परम्परा का उल्लेख किया। आचार्यश्री का उत्तर सुनकर सभी के चेहरे उदास हो गये और भावी आशंका की कल्पना करने लगे। समाज ने उनसे फिर प्रार्थना की। नगर-निवासियों ने भी आचार्यश्री से महलों में जाकर बादशाह की बेगमों को अहिंसा एवं त्याग का उपदेश देने की प्रार्थना की। आखिर प्रभाचन्द्र को देशकाल-भाव को देखते हुए समाज की प्रार्थना स्वीकार करनी पड़ी और उन्होंने रणवास में जाकर बादशाह की बेगमों को दर्शन दिया तथा उन्हें अहिंसा एवं सर्व धर्म समभाव-जैसे सिद्धान्तों को जीवन में उतारने पर विशेष ज़ोर दिया।[2] इसके पश्चात् प्रभाचन्द्र की यशोगाथा सारे देश में फैल गयी और समस्त जैन समाज ने उनका खूब सम्मान किया। उन्होंने देहली में भट्टारक गादी की स्थापना की और सारे देश में भट्टारकों के पद का गौरव बढ़ाया।

---

१. यह कारन आव कहिये मुनीस, मुनि कही बाद जानहु महीस।
तातु समये बादोनु आय, मंत्रनि ते कमंडल मद भराय ॥६०९॥
दे कही अहो पातिसाहि ऐहु, कमंडल मद भरयौ बिना संदेहु।
मुनि लखि वामैं किय पुष्प आनि, दीन्हौं उघाड़ि कमंडल महानि ॥६१०॥

२. दरसन बिनि भोजन हम करैं न, या विधि भाषै बेगमनु बैन।
तब साहि बुलायै वै प्रधान, भाषी जे आहु मुनी महान ॥६१२॥
दरसन बेगमा जब करै आय, तब ही सुनको मिटिहै अताप।
मिलि भाषी मुनि तै सबनि साह, तुम दरस बेगमनि सु चाह ॥६१३॥
तातैं हमरी विनती सु एहु, करि कै लंगोट दरसन सु देहु।
मुनि कही सुनो तुम सकल साह, चलिये यह जग मौकि राह ॥६१४॥

प्रभाचन्द्र मूलसंघ एवं नन्द्याम्नाय के भट्टारक थे। उनके सम्बन्ध में बुद्धिविलास[1] के अतिरिक्त एक भट्टारक पदावली में भी इसी तरह का वर्णन मिलता है। इस पट्टावली में संवत् १७२२ तक होनेवाले भट्टारकों का वर्णन किया गया है। अन्तिम भट्टारक जगत्कीर्ति हैं जिनका पट्टाभिषेक आमेर में संवत् १७३३ में हुआ था। प्रभाचन्द्र की प्रशंसा में एक पदावली[2] में निम्न प्रशस्ति लिखी हुई है—

"महावाद वादीश्वर वादिपितामह प्रमेयकमलमार्तण्डाद्यनेकग्रन्थविधायक श्रीमहापुराणस्वयम्भूसप्तभक्ति परमात्मप्रकाश समयसारादि सूत्र व्याख्यान सर्जन संज्ञान कोविदसभाकीर्तिनराणां श्रमितप्रभाचन्द्रभट्टारकाणां"

उक्त प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्र शास्त्रार्थों में अत्यधिक प्रवीण थे। प्रमेयकमलमार्तण्ड, महापुराण, परमात्मप्रकाश, समयसार, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों के व्याख्याता थे तथा पण्डितों की सभा के भूषण थे। सकलकीर्ति रास में प्रभाचन्द्र को मूल संघ का संस्थापक कहा है।[3] इसी तरह आराधना पंजिका की संवत् १४१६ की एक प्रशस्ति में प्रभाचन्द्र को देहली के बादशाह फिरोजशाह तुगलक के शासन में होने का उल्लेख किया है।[4]

समय—एक पट्टावलि के अनुसार भट्टारक प्रभाचन्द्र का जन्म संवत् १२९० पौष सुदी १५ को हुआ। वे १२ वर्ष तक गृहस्थ रहे तथा १२ वर्ष तक साधु की अवस्था में दीक्षित रहे तथा ७४ वर्ष ११ मास १५ दिन तक भट्टारक पद पर बने रहे। इस पट्टावलि के अनुसार प्रभाचन्द्र संवत् १४०८ तक भट्टारक पद पर आसीन रहे।

विहार—प्रभाचन्द्र एक दीर्घकाल तक भट्टारक पद पर आसीन रहे इसलिए उन्होंने देश के विभिन्न भागों में एक बार नहीं किन्तु कितनी ही बार विहार किया। उनके मुख्य कार्य-क्षेत्र अजमेर, देहली एवं बागड़ प्रदेश रहे। उन्होंने अपने ही एक शिष्य को बागड़ प्रदेश की गादी पर बिठला दिया।

प्रतिष्ठा कार्य—प्रभाचन्द्र ने देश के विभिन्न भागों में प्रतिष्ठा-विधि का कुशलता पूर्वक संचालन किया। जयपुर, आवाँ, बयाना आदि स्थानों में उनके अथवा उनके शिष्य पद्मनन्दि द्वारा प्रतिष्ठाएँ सम्पन्न हुईं। जयपुर के काला छावड़ा के मन्दिर में पार्श्वनाथ की एक धातु की मूर्ति है जिसकी प्रतिष्ठा संवत् १४१३ वैशाख सुदी ६ के दिन हुई थी और जिसमें भट्टारक प्रभाचन्द्र का उल्लेख हुआ है। इसी तरह आवाँ एवं बयाना में संवत् १४०० तथा संवत् १४०४ की मूर्तियाँ हैं जिनमें भट्टारक प्रभाचन्द्र एवं उनके

---

१. बुद्धिविलास, बखतराम साह, पृष्ठ संख्या ७७, पद्य संख्या ६१८-६१९
२. भट्टारक पट्टावली—दिगम्बर जैन मन्दिर ठोलिया, जयपुर
महावीर भवन। जयपुर में संग्रहीत, रजिस्टर संख्या २, पृ. संख्या ११
३. मूलसंघ संस्थापक महाप्रभाचन्द्र वंदीतु ॥२६॥
४. भट्टारक सम्प्रदाय—पं. वी. पी. जोहरापुरकर, पृष्ठ संख्या ९१।

शिष्य पद्मनन्दि दोनों का स्मरण किया गया है ।[1]

उक्त प्रभाचन्द्र मूलसंघ एवं बलात्कारगण के भट्टारक थे । इनके पूर्व सेनगण के भट्टारक बालचन्द के शिष्य दूसरे प्रभाचन्द्र थे जिनके सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी नहीं मिलती । तीसरे प्रभाचन्द्र देहली शाखा के ही भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्य थे जिनका परिचय हम अगले पृष्ठों में देंगे । चौथे प्रभाचन्द्र सूरत शाखा के भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य थे ।

इस प्रकार भ. प्रभाचन्द्र ने दीर्घकाल तक देश में धार्मिक एवं सामाजिक जागृति का संचालन किया और भगवान् महावीर के शासन की महती प्रभावना की ।

---

१. मूर्तिलेख संग्रह, भाग १, पृष्ठ संख्या १६८ एवं भाग २, पृष्ठ संख्या १०६ (महावीर भवन में संग्रहीत)।

भट्टारक पद्मनन्दि

[संवत् १३८५ से १४५० तक]

"तिण पाटि दियै श्रीय पद्मनंदि" उक्त पंक्ति से एक पट्टावली में भट्टारक पदमनन्दि का परिचय दिया गया है। पदमनन्दि का मुख्य स्थान गुजरात था। वे आचार्य कहलाते थे और भट्टारक प्रभाचन्द्र की ओर से गुजरात में धार्मिक विधान बनाते थे एवं प्रवचन आदि के द्वारा जैन शासन की प्रभावना बढ़ाते थे। एक बार गुजरात में वहाँ के श्रावकों ने प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन किया। प्रतिष्ठा विधि सम्पन्न कराने के लिए भट्टारक प्रभाचन्द्र से प्रार्थना की गयी लेकिन उत्तरी भारत में ही अत्यधिक व्यस्तता के कारण वे वहाँ नहीं जा सके। उस समय आचार्य पद्मनन्दि को ही सूरि मन्त्र देकर भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित कर दिया और गुजरात प्रदेश का वह भाग उनके अधीन कर दिया। उक्त घटना का कविवर बखतराम साह ने अपने बुद्धिविलास में विस्तृत वर्णन किया है।[1]

संवत् तेरह सौ पिचिहतरथौ जानिवै,
भये भट्टारक प्रभाचन्द्र गुनखानि वै।
तिनको आचारिज इक हो गुजरात मैं
तहाँ सबै पंचनि मिलि ठानी बात मैं ॥६१८॥
कीजै एक प्रतिष्ठा तो सुभ काज ह्वे,
करन लगे विधिवत सब ताकौ साज वे।
भट्टारक बुलवाये सो पहुँचे नहीं,
तबै सबै पंचनि मिलि यह ठानी सही ॥६१९॥
सूरि मन्त्र वाहि आचारिज कौ दियो,
पदमनंदि भट्टारक नाम सुं यह कियो ॥

इसी तरह का वर्णन एक अन्य दिगम्बर मुनि पट्टावलि में मिलता है जो संवत् ४ से संवत् १८७९ तक की है। इस पट्टावलि में पद्मनन्दि के बारे में निम्न प्रकार उल्लेख किया है।

"संवत् १३८५ पौष सुदि ७ पद्मनन्दि जी गृहस्थ वर्ष १० मास ७ दीक्षा वर्ष

---

१. महावीर भवन, जयपुर के संग्रह में ६७ संख्या पर देखिए।

२३ मास ५ भट्टारक वर्ष ६५ मास ५ दिन १८ अन्तर दिन १० सर्व वर्ष ९९ मास ५ दिन २८"

इस प्रकार पद्मनन्दि के जीवन के बारे में कुछ सामान्य परिचय मिलता है। एक भट्टारक पट्टावलि के अनुसार वे जाति से ब्राह्मण थे लेकिन उनके माता-पिता के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती। वे केवल १० वर्ष एवं ७ महीने तक गृहस्थ रहे। इसका अर्थ यह है कि ११ वर्ष की आयु में ही घर-बार छोड़कर उन्होंने वैराग्य धारण कर लिया और भट्टारक प्रभाचन्द्र का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। अपनी विलक्षण प्रतिभा के कारण उन्होंने शीघ्र ही सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त कर लिया। युवावस्था में ही वे आचार्य बन गये तथा गुजरात में जाकर स्वतन्त्र रूप से धर्म प्रचार करने लगे। इसके पश्चात् संवत् १३८५ पौष सुदी सप्तमी की शुभ वेला में भट्टारक पद पर सुशोभित कर दिये गये। पद्मनन्दि ने भट्टारक बनने के पश्चात् सारे देश में विहार किया तथा गुजरात एवं राजस्थान को अपने विहार का प्रमुख केन्द्र बनाया।

भट्टारक बनने के समय पद्मनन्दि की आयु केवल ३४ वर्ष की थी। वे पूर्ण युवा थे। तपस्वी जीवन की प्रतिभा उनके मुख से बरसती थी। विलक्षण प्रतिभा के धनी होने के कारण वे सहज ही जन साधारण को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। एक प्रशस्तिकार ने इनका निम्न प्रकार गुणानुवाद किया है—

पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥१॥
उर्ज्जयन्तगिरौ तेन गच्छः सारस्वतो भवेत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने ॥

उक्त पद्यों से ज्ञात होता है कि पद्मनन्दि पर सरस्वती की असीम कृपा थी और एक बार उन्होंने पाषाण की सरस्वती को मुख से बुला दी थी।[1] लोगों को बोलती हुई सरस्वती देखकर अत्यधिक आश्चर्य हुआ और इससे उनकी कीर्ति एवं प्रभावना में अत्यधिक वृद्धि हुई। एक अन्य पट्टावलि में उनकी निम्न प्रकार स्तुति की गयी है—

श्रीमत्प्रभाचन्द्रमुनीन्द्रपट्टे शश्वत् प्रतिष्ठः प्रतिभागरिष्ठः।
विशुद्धसिद्धान्तरहस्यरत्न, रत्नाकरो नन्दतु पद्मनन्दी ॥[2]

गुजरात प्रदेश के पश्चात् आचार्य पद्मनन्दि ने राजस्थान को अपना कार्यक्षेत्र चुना तथा चित्तौड़, उदयपुर, बूंदी, नैणवा, टोंक, झालावाड़-जैसे स्थानों को अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाया। वे नैणवा (चित्तौड़)-जैसे सांस्कृतिक नगर में १० वर्ष से अधिक रहे। भट्टारक सकलकीर्ति ने इसी नगर में उनसे शिक्षा प्राप्त की थी और यहीं

---

१. एकै श्रावक प्रतिष्ठाने प्रभाचन्द्रजी ने बुलाया सो वे नाया तदि आचार्य ने सूरिमन्त्र दे भट्टारक करि प्रतिष्ठा कराई तदि भट्टारक पद्मनन्दि जी हुआ। पाषाण की सरस्वती मुखै बुलाई। जाति ब्राह्मण पट्ट अजमेर।

२. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग-१, किरण ४, पृष्ठ ६३।

पर उनसे दीक्षा धारण की।[१]

आचार्य पद्मनन्दि अपने समय के बड़े विद्वान्, साधु एवं भट्टारक थे। इनके संघ में अनेक साधु एवं साध्वियाँ थीं। इनमें चार शिष्य प्रधान थे जिन्होंने अलग-अलग प्रदेशों में गादियाँ स्थापित कीं।[२] डॉ. जोहरापुरकर ने भट्टारक सम्प्रदाय में तीन भट्टारक गादियाँ स्थापित करने के लिए लिखा है।[3] इनमें शुभचन्द्र देहली, जयपुर शाखा के (नागरचाल), सकलकीर्ति (ईडर शाखा), देवेन्द्रकीर्ति (सूरत शाखा) के नाम तो मिलते हैं लेकिन जिस शिष्य को दक्षिण में भेजा गया था उसके नाम का उल्लेख नहीं मिलता।

एक अन्य प्रशस्ति में मदनकीर्ति का नाम अवश्य मिलता है, हो सकता है उसे ही दक्षिण की ओर भेजा गया हो। बखतराम साह ने अपने बुद्धिविलास में केवल सकलकीर्ति का ही उल्लेख किया है तथा कहा है सकलकीर्ति ने सम्पूर्ण गुजरात देश को सम्बोधित किया था।[४]

आचार्य पद्मनन्दि संस्कृत के बड़े भारी पण्डित थे। राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों में इनकी कितनी ही रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं, इनमें कुछ रचनाओं के नाम निम्न प्रकार हैं—

१. पद्मनन्दि श्रावकाचार
२. अनन्त व्रत कथा
३. द्वादश व्रतोद्यापन पूजा
४. पार्श्वनाथ स्तोत्र
५. नन्दीश्वर पंक्ति पूजा
६. लक्ष्मी स्तोत्र
७. वीतराग स्तोत्र
८. श्रावकाचार टीका
९. देवशास्त्र गुरुपूजा
१०. रत्नत्रय पूजा
११. भावना चौंतीसी
१२. परमात्मराज स्तोत्र
१३. सरस्वती पूजा
१४. सिद्ध पूजा
१५. शान्तिनाथ स्तवन

ये सभी रचनाएँ संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं। श्रावकाचार एवं उसकी टीका को छोड़कर बाकी सभी रचनाएँ पूजा स्तोत्र एवं कथापरक हैं जिसमें मुनिश्री की रचना शैली का संकेत मिलता है। वे पूजा एवं स्तोत्रों तथा कथापरक कृतियों के माध्यम से धर्म प्रचार किया करते थे।

---

१. चौथो चेलो आचार्य श्री सकलकीर्ति वर्ष छब्बीसमी साठ पर्दथं पाटणमाहता तीणी दीक्षा लीधी तीणी गाँव श्री नैणवा मध्ये।

२. भट्टारक श्री पद्मनन्दी तेहना चेला ४ हुआ। १ चेला पोताना पट थाप्यो। बीजो चेलो दक्षिण मोकाल्यो। त्रीजो चेलो नागरचाले मोकल्यो। चौथो चेलो आचार्य श्री सकलकीर्ति।
— भट्टारक पट्टावलि, महावीर भवन, जयपुर

३. भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ संख्या ९६।

४. ताकें पाहि सकलकीर्ति मुनिवर भये
तिन समाधि गुजरात देस अपने किये ।६८०।

साहित्य रचना के अतिरिक्त वे प्रतिष्ठा विधि भी सम्पन्न कराते थे। सर्वप्रथम प्रतिष्ठा समारोह में सम्मिलित होने के कारण इन्हें भट्टारक का पद दिया गया था और वे इसके पश्चात् भी बराबर प्रतिष्ठाओं का संचालन किया करते थे। राजस्थान में इनके द्वारा प्रतिष्ठित सैकड़ों मूर्तियाँ मन्दिरों में विराजमान हैं। आपने संवत् १४५० वैशाख सुदी १२ को आदिनाथ की प्रतिष्ठा विधि सम्पन्न की थी।[1] सांगानेर के संघीजी मन्दिर में शान्तिनाथ स्वामी की प्रतिमा है जिसकी प्रतिष्ठा इन्हीं के द्वारा संवत् १४६४ को फागुन सुदी १३ को अजमेर में सम्पन्न हुई थी।[2] इसी संवत् की प्रतिष्ठित मूर्ति पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर टोंक में भी है। इसी तरह भरतपुर के पंचायती मन्दिर में मल्लिनाथ स्वामी की एक मूर्ति विराजमान है जो संवत् १४०४ माघ सुदी १३ के दिन की प्रतिष्ठापित है तथा इसके प्रतिष्ठाचार्य भट्टारक पद्मनन्दि थे।[3]

इस प्रकार पद्मनन्दि का एक लम्बी अवधि तक साहित्य एवं संस्कृति की सेवा करते हुए संवत् १४६५ के आसपास स्वर्गवास हो गया।

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ संख्या ९२।

२. मूर्तियन्त्र संग्रह—महावीर भवन, जयपुर, पृष्ठ संख्या २६४।

३. मूर्तियन्त्र संग्रह—महावीर भवन, जयपुर, पृष्ठ संख्या २६४।

भट्टारक सकलकीर्ति

[संवत् १४५६ से १४९९ तक]

महावीर शासन की १५वीं शताब्दी में जबरदस्त प्रभावना करनेवाले आचार्यों में भट्टारक सकलकीर्ति का नाम सर्वोपरि है। देश में जैन साहित्य एवं संस्कृत का जो जबरदस्त प्रचार एवं प्रसार हो सका था उसमें इनका प्रमुख योगदान था। सकलकीर्ति ने संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य को नष्ट होने से बचाया और लोगों में उसके प्रति अद्भुत आकर्षण पैदा किया। जनता में धर्म के प्रति गहरी आस्था उत्पन्न करके उन्होंने धार्मिक शान्ति का बिगुल बजाया एवं अपने अद्भुत व्यक्तित्व से तत्कालीन समाज का पथ प्रदर्शन किया। उन्होंने अपना ऐसा शिष्य परिवार तैयार किया जिसने उनके स्वर्गवास के पश्चात् भी उनकी परम्परा को जीवित रखा एवं भगवान् महावीर के शासन के प्रभाव में उत्तरोत्तर वृद्धि करने में अपना सौभाग्य समझा।

जीवन परिचय

सन्त सकलकीर्ति का जन्म संवत् १४४३ (सन् १३८६) में हुआ था। डा. प्रेमसागर जैन ने 'हिन्दी जैन भक्ति-काव्य और कवि' में सकलकीर्ति का संवत् १४४४ में ईडर गद्दी पर बैठने का जो उल्लेख किया है वह सकलकीर्ति रास के अनुसार सही प्रतीत नहीं होता। इनके पिता का नाम करमसिंह एवं माता का नाम शोभा था। ये अणहिलपुर पट्टण के रहनेवाले थे। इनकी जाति हूबण्ड थी।[1] 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' कहावत के अनुसार गर्भधारण करने के पश्चात् इनकी माता ने एक सुन्दर स्वप्न देखा और उसका फल पूछने पर करमसिंह ने इस प्रकार कहा—[2]

"तजि वयण सुणिसार, सार कुमर तुम्ह होइसिइए।
निर्मल गंगानीर, चंदन नंदन तुम्ह तणुए ॥१॥

---

१. हरषी सुणीय सुवाणि पालइ अन्य ऊअरि सुपर।
चौऊदत्रिताल प्रमाणि पूरइ दिन पुत्र जनमीउ।
२. न्याति माँहि मुहुतवंत हूंबड हरषि बखाणिइए।
करमसिंह वितपन्न उदयवंत इम जाणीइए ॥३॥
शोभित तरस अरधांगि, मूली सरोस्य सुन्दरीय।
सील स्यंगारित अङ्गि पेखु प्रत्यक्षे पुरंदरीय ॥४॥
—सकलकीर्तिरास

जलनिधि गहिर गंभीर खीरोपम सोहा मणुए।
ते जिहि तरण प्रकाश जग उद्योतन जस किरणि ॥१०॥

बालक का नाम पूनसिंह अथवा पूर्णसिंह रखा गया। एक पट्टावलि में इनका नाम पदर्थ भी दिया हुआ है। द्वितीया के चन्द्रमा के समान वह बालक दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा। उसका वर्ण राजहंस के समान शुभ्र था तथा शरीर बत्तीस लक्षणों से युक्त था। पाँच वर्ष के होने पर पूर्णसिंह को पढ़ने बैठा दिया गया। बालक कुशाग्र बुद्धि का था इसलिए शीघ्र ही उसने सभी ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया। विद्यार्थी अवस्था में भी इनका अर्हद् भक्ति की ओर अधिक ध्यान रहता था तथा क्षमा, सत्य, शौच एवं ब्रह्मचर्य आदि धर्मों को जीवन में उतारने का प्रयास करते रहते थे। गार्हस्थ्य जीवन के प्रति विरक्ति देखकर माता-पिता ने उनका १४ वर्ष की अवस्था में ही विवाह कर दिया लेकिन विवाह बन्धन के पश्चात् भी उनका मन संसार में नहीं लगा और वे उदासीन रहने लगे। पुत्र की गति-विधियाँ देखकर माता-पिता ने उन्हें बहुत समझाया और कहा कि उनके पास जो अपार सम्पत्ति है, महल-मकान है, नौकर-चाकर है, उसके वैराग्य धारण करने के पश्चात् वह किस काम आवेगा? यौवनावस्था सांसारिक सुखों के भोग के लिए होती है। संयम का तो पीछे भी पालन किया जा सकता है। पुत्र एवं माता-पिता के मध्य बहुत दिनों तक वाद-विवाद चलता रहा[1]। वे उन्हें साधु जीवन की कठिनाइयों की ओर संकेत करते तथा कभी-कभी अपनी वृद्धावस्था का भी रोना रोते लेकिन पूर्णसिंह के कुछ समझ में नहीं आता और वे बार-बार साधु जीवन धारण करने की उनसे स्वीकृति माँगते रहते[2]।

अन्त में पुत्र की विजय हुई और पूर्णसिंह ने २६वें वर्ष में अपार सम्पत्ति को तिलांजलि देकर साधु जीवन अपना लिया। वे आत्म कल्याण के साथ-साथ जगत्कल्याण की ओर चल पड़े। भट्टारक सकलकीतिनु रास के अनुसार उनकी इस समय केवल १८ वर्ष की आयु थी। उस समय भट्टारक पद्मनन्दि का मुख्य केन्द्र नैणवां (राजस्थान) था और वे आगम ग्रन्थों के पारगामी विद्वान् माने जाते थे इसलिए ये भी नैणवां चले गये और उनके शिष्य बनकर अध्ययन करने लगे। यह उनके साधु जीवन की प्रथम पद यात्रा थी। वहाँ वे आठ वर्ष रहे और प्राकृत एवं संस्कृत के ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन

---

१. देखवि चंचल चित मात पिता कहि वछ सुणि।
अह्म मंदिर बहु वित्त आविसिइ कारण कवण ॥२०॥
लहुआ लीलावंत सुख भोगवि संसार तणाए।
पछइ दिवस बहुत अछिइ संयम तप तणाए ॥२१॥
—सकलकीतिनु रास

२. वयणि तंजि सुणेवि, पून पिता प्रति इम कहिए।
निज मन सुविस करेवि, धीरपे तरण तप गहए ॥२९॥
ज्योबन गिइ गमार, पछइ पालइ सीयल घणा।
ते कहु कवण विचार विण अवसर जे वरसीयिए ॥२३॥
—सकलकीतिनु रास

किया, उनके मर्म को समझा और भविष्य में सत्साहित्य का प्रचार-प्रसार ही अपना एक उद्देश्य बना लिया। ३४ वर्ष में उन्होंने आचार्य पदवी ग्रहण की और अपना नाम सकलकीर्ति रख लिया।

नैणवां से पुनः वागड प्रदेश में आने के पश्चात् ये सर्वप्रथम धार्मिक चेतना जाग्रत् करने के निमित्त स्थान-स्थान पर बिहार करने लगे। एक बार वे खोड़ण नगर आये और नगर के बाहर उद्यान में ध्यान लगाकर बैठ गये। इधर नगर से आयी हुई एक श्राविका ने जब नग्न साधु को ध्यानस्थ बैठे देखा तो घर आकर उसने अपनी सास से जिन शब्दों में निवेदन किया उसका एक पट्टावलि में बहुत सुन्दर वर्णन दिया हुआ है[1]।

बिहार

सकलकीर्ति का वास्तविक साधु जीवन संवत् १४७७ से प्रारम्भ होकर संवत् १४९९ तक रहा। इन २२ वर्षों में इन्होंने मुख्य रूप से राजस्थान के उदयपुर, बाँसवाड़ा, प्रतापगढ़ आदि राज्यों एवं गुजरात प्रान्त के राजस्थान के समीपस्थ प्रदेशों में खूब बिहार किया। उस समय जन-साधारण के जीवन में धर्म के प्रति काफी शिथिलता आ गयी थी। साधु-सन्तों के बिहार का अभाव था। जन-साधारण की न तो स्वाध्याय के प्रति रुचि रही थी और न उन्हें सरल भाषा में साहित्य ही उपलब्ध होता था। इसलिए सर्वप्रथम सकलकीर्ति ने उन प्रदेशों में बिहार किया और सारे समाज को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। इसी उद्देश्य से उन्होंने कितनी ही यात्रा-संघों का नेतृत्व किया। सर्व प्रथम संघपति सिंह के साथ गिरिनार यात्रा आरम्भ की। फिर वे चम्पानेर की ओर यात्रा करने निकले। वहाँ से आने के पश्चात् हूंबण्ड जातीय रतना के साथ माँगीतुंगी की यात्रा को प्रस्थान किया। इसके पश्चात् उन्होंने अन्य तीर्थों की वन्दना की जिससे देश में धार्मिक चेतना फिर से जाग्रत् होने लगी।

प्रतिष्ठाओं का आयोजन

तीर्थ यात्राओं के समाप्त होने के पश्चात् सकलकीर्ति ने नव-मन्दिर निर्माण एवं प्रतिष्ठाएँ करवाने का कार्य हाथ में लिया। उन्होंने अपने जीवन में १४ बिम्ब प्रतिष्ठाओं का संचालन किया। इस कार्य में योग देनेवालों में संघपति नरपाल एवं उनकी पत्नी बहूरानी का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। गलियाकोट में संघपति मूलराज ने इन्हीं के उपदेश से चतुर्विंशति जिनबिम्ब की स्थापना की थी। नागद्रह जाति के श्रावक संघपति ठाकुरसिंह ने भी कितनी ही बिम्ब प्रतिष्ठाओं में योग दिया। आबू नगर में उन्होंने एक प्रतिष्ठा महोत्सव का संचालन किया था जिसमें तीन चौबीसी की एक विशाल प्रतिभा परिकर सहित स्थापित की गयी।[2]

---

१. भट्टारक पट्टावलि महावीर भवन, जयपुर के संग्रह में।

२. पवर प्रासाद आब्बू तस परिकरि जिनवर त्रिणि चउवीस।
   तस कीधो प्रतिष्ठा तेह तणीय, गुरि मेल्हवि चउविध संघ्य सरीस।

सन्त सकलकीर्ति द्वारा संवत् १४९०, १४९२, १४९७ आदि संवतों में प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ उदयपुर, डूंगरपुर एवं सागवाड़ा आदि स्थानों के जैन मन्दिर में मिलती हैं। प्रतिष्ठा महोत्सवों के इन आयोजनों से तत्कालीन समाज में जन जाग्रति की जो भावना उत्पन्न हुई थी, उसने देश में जैन धर्म एवं संस्कृति को जीवित रखने में अपना पूरा योग दिया।

व्यक्तित्व एवं पाण्डित्य

भट्टारक सकलकीर्ति असाधारण व्यक्तित्ववाले सन्त थे। इन्होंने जिन-जिन परम्पराओं की नींव रखी, उनका बाद में खूब विकास हुआ। अध्ययन गम्भीर था इस लिए कोई भी विद्वान् इनके सामने नहीं टिक सकता था। प्राकृत एवं संस्कृत भाषाओं पर इनका समान अधिकार था। ब्रह्म जिनदास एवं भ. भुवनकीर्ति जैसे विद्वानों का इनका शिष्य होना ही इनके प्रबल पाण्डित्य का सूचक है। इनकी वाणी में जादू था इसलिए जहाँ भी इनका बिहार हो जाता था वहीं इनके सैकड़ों भक्त बन जाते थे। ये स्वयं तो योग्यतम विद्वान् थे ही, किन्तु इन्होंने अपने शिष्यों को भी अपने ही समान विद्वान् बनाया। इन्हें महाकवि, निर्ग्रन्थ राजा एवं शुद्ध चरित्रधारी[1] तथा हरिवंश पुराण में तपोनिधि एवं निर्ग्रन्थ श्रेष्ठ[2] आदि उपाधियों से सम्बोधित किया है।

भट्टारक सकलभूषण ने अपने उपदेशरत्नमाला की प्रशस्ति में कहा है कि सकलकीर्ति जन-जन का चित्त स्वतः ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। ये पुण्यमूर्ति स्वरूप थे तथा पुराण ग्रन्थों के रचयिता थे।[3]

इसी तरह भट्टारक शुभचन्द्र ने सकलकीर्ति को पुराण एवं काव्यों का प्रसिद्ध नेता कहा है। इनके अतिरिक्त इनके बाद होनेवाले प्रायः सभी भट्टारक सन्तों ने सकलकीर्ति के व्यक्तित्व एवं विद्वत्ता की भारी प्रशंसा की है। ये भट्टारक थे किन्तु मुनि नाम से भी अपने आपको सम्बोधित करते थे। धन्यकुमार चरित्र ग्रन्थ की पुष्पिका में इन्होंने अपने आपका मुनि सकलकीर्ति नाम से परिचय दिया है।

ये स्वयं भी नग्न अवस्था में रहते थे और इसीलिए ये निर्ग्रन्थकार अथवा निर्ग्रन्थराज के नाम से भी अपने शिष्यों द्वारा सम्बोधित किये गये हैं। इन्होंने बागड

---

१. ततोऽभवत्तस्य जगत्प्रसिद्धेः पट्टे मनोज्ञे सकलादिकीर्तिः।
महाकविः शुद्धचरित्रधारी निर्ग्रन्थराजा जगति प्रतापी॥
—जम्बूस्वामी चरित्र

२. तत्पट्टपंकेजविकासभास्वान् बभूव निर्ग्रन्थवरः प्रतापी।
महाकवित्वादिकलाप्रवीणः तपोनिधिः श्रीसकलादिकीर्तिः॥
—हरिवंश पुराण

३. तत्पट्टधारी जनचित्तहारी पुराणमुख्योत्तमशास्त्रकारी।
भट्टारक-श्रीसकलादिकीर्तिः प्रसिद्धनामा जनि पुण्यमूर्तिः॥२१६॥
—उपदेशरत्नमाला (सकलभूषण)

प्रदेश में जहाँ भट्टारकों का कोई प्रभाव नहीं था संवत् १४९२ में गलियाकोट में एक भट्टारक गादी की स्थापना की ओर अपने आपको सरस्वती गच्छ एवं बलात्कारगण की परम्परा में भट्टारक घोषित किया। ये उत्कृष्ट तपस्वी थे तथा अपने जीवन में इन्होंने कितने ही व्रतों का पालन किया था।

सकलकीर्ति ने जनता को जो कुछ चारित्र सम्बन्धी उपदेश दिया था, पहले उसे अपने जीवन में उतारा। २२ वर्ष के एक छोटे से समय में ३५ से अधिक ग्रन्थों की रचना, विविध ग्रामों एवं नगरों में विहार, भारत के राजस्थान, उत्तर प्रदेश, गुजरात, मध्य प्रदेश आदि प्रदेशों के तीर्थों की पद-यात्रा एवं विविध व्रतों का पालन केवल सकलकीर्ति जैसे महा विद्वान् एवं प्रभावशाली व्यक्तित्ववाले साधु से ही सम्पन्न हो सकते थे। इस प्रकार ये श्रद्धा, ज्ञान एवं चरित्र से विभूषित उत्कृष्ट एवं आकर्षक व्यक्तित्ववाले साधु थे।

शिष्य-परम्परा

भट्टारक सकलकीर्ति के कुल कितने शिष्य थे इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता लेकिन एक पट्टावलि के अनुसार इनके स्वर्गवास के पश्चात् इनके शिष्य धर्मकीर्ति ने नौतनयपुर में भट्टारक गद्दी स्थापित की। फिर विमलेन्द्रकीर्ति भट्टारक हुए और १२ वर्ष तक इस पद पर रहे। इनके पश्चात् आन्तरी गाँव में सब श्रावकों ने मिलकर संघवी सोमदास श्रावक को भट्टारक दीक्षा दी तथा उनका नाम भुवनकीर्ति रखा गया। लेकिन अन्य पट्टावलियों में एवं इस परम्परा में होनेवाले सन्तों के ग्रन्थों की प्रशस्तियों में भुवनकीर्ति के अतिरिक्त और किसी भट्टारक का उल्लेख नहीं मिलता। स्वयं भ. भुवनकीर्ति, ब्रह्म जिनदास, ज्ञानभूषण, शुभचन्द्र आदि सभी सन्तों ने भुवनकीर्ति को ही इनका प्रमुख शिष्य होना माना है। यह हो सकता है कि भुवनकीर्ति ने अपने आपको सकलकीर्ति से सीधा सम्बन्ध बतलाने के लिए उक्त दोनों सन्तों के नामों के उल्लेख करने की परम्परा को नहीं डालना चाहा हो। भुवनकीर्ति के अतिरिक्त सकलकीर्ति के प्रमुख शिष्यों में ब्रह्म जिनदास का नाम उल्लेखनीय है। जो संघ के सभी महाव्रती एवं ब्रह्मचारियों के प्रमुख थे। ये भी अपने गुरु के समान ही संस्कृत एवं राजस्थानी के प्रचण्ड विद्वान् थे और साहित्य में विशेष रुचि रखते थे। सकलकीर्तिनु रास में भुवनकीर्ति एवं ब्रह्म जिनदास के अतिरिक्त ललितकीर्ति के नाम का और उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उनके संघ में आर्यिका एवं क्षुल्लिकाएँ थीं ऐसा भी लिखा है।[1]

---

१. आदि शिष्य आचारिजहि गुरि दीखीया भुवनि भुवनकीर्ति।
जयवन्त श्री जगतगुरु गुरि दीखीया ललितकीर्ति॥
महाव्रती ब्रह्मचारी घणा जिणदास गोलागार प्रमुख अपार
अर्जिका क्षुल्लिका सयलसंघ गुरु सोभित सहित सकल परिवार॥

मृत्यु

एक पट्टावलि के अनुसार भट्टारक सकलकीर्ति ५६ वर्ष तक जीवित रहे। संवत् १४९९ में महसाना नगर में उनका स्वर्गवास हुआ। पं. परमानन्दजी शास्त्री ने भी प्रशस्ति संग्रह में इनकी मृत्यु संवत् १४९९ में महसाना (गुजरात) में होना लिखा है। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन एवं डॉ. प्रेमसागर भी इसी संवत् को सही मानते हैं। लेकिन डॉ. ज्योतिप्रसाद इनका पूरा जीवन ८१ वर्ष स्वीकार करते हैं जो अब लेखक को प्राप्त विभिन्न पट्टावलियों के अनुसार वह सही नहीं जान पड़ता। सकलकीर्ति रास में उनकी विस्तृत जीवन गाथा है। उसमें स्पष्ट रूप से संवत् १४४३ माना गया है।

संवत् १४७१ से प्रारम्भ एक पट्टावलि में भट्टारक सकलकीर्ति को भट्टारक पद्मनन्दि का चतुर्थ शिष्य माना गया है और उनके जीवन के सम्बन्ध में निम्न प्रकाश डाला गया है—

१. ४ चोथो चेलो आचार्य श्री सकलकीर्ति वर्ष २६ छबीसमी ताहा श्री पदर्थ पारणनाहता तीणी दीक्षा लीधी गाँव श्री नीणवा मध्ये। पछे गुरु कने वर्ष ३४ चौंतीस थया।

२. पछे वर्ष ५६ छपनीसाँणें स्वर्गे पोतासाही ने वारे पुठी स्वामी सकलकीर्ति ने पाटे धर्मकीर्ति स्वामी नोतनपुर संघे थाप्या।

३. एहवा धर्म करणी करावता बागडराय ने देस कुंभल-गढ़ नव सहस्र मध्य संघली देसी प्रदेसी व्याहार कर्म करता धर्मपदेस देता नवा ग्रन्थ सुध करता वर्ष २२ व्याहार कर्म करिने धर्म संघली प्रवर्त्यां।

उक्त तथ्यों के आधार पर यह निर्णय सही है कि भट्टारक सकलकीर्ति का जन्म संवत् १४४३ में हुआ था।

श्री विद्याधर जोहरापुरकर ने भट्टारक सम्प्रदाय में सकलकीर्ति का समय संवत् १४५० से संवत् १५१० तक का दिया है। उन्होंने यह समय किस आधार पर दिया है इसका कोई उल्लेख नहीं किया। इसलिए सकलकीर्ति का समय संवत् १४४३ से १४९९ तक का ही सही जान पड़ता है।

तत्कालीन सामाजिक अवस्था

भट्टारक सकलकीर्ति के समय देश की सामाजिक स्थिति अच्छी नहीं थी। समाज में सामाजिक एवं धार्मिक चेतना का अभाव था। शिक्षा की बहुत कमी थी। साधुओं का अभाव था। भट्टारकों के नग्न रहने की प्रथा थी। स्वयं भट्टारक सकलकीर्ति भी नग्न रहते थे। लोगों में धार्मिक श्रद्धा बहुत थी। तीर्थयात्रा बड़े-बड़े संघों में होती थी। उनका नेतृत्व करनेवाले साधु होते थे। तीर्थयात्राएं बहुत लम्बी होती थीं तथा वहाँ से

सकुशल लौटने पर बड़े-बड़े उत्सव एवं समारोह किये जाते थे। भट्टारकों ने पंच-कल्याणक प्रतिष्ठाएँ एवं अन्य धार्मिक समारोह करने की अच्छी प्रथा डाल दी थी। इनके संघ में मुनि, आर्यिका, श्रावक आदि सभी होते थे। साधुओं में ज्ञान-प्राप्ति की काफी अभिलाषा होती थी तथा संघ के सभी साधुओं को पढ़ाया जाता था। ग्रन्थ रचना करने का भी खूब प्रचार हो गया था। भट्टारक गण भी खूब ग्रन्थ रचना करते थे। वे प्रायः अपने ग्रन्थ श्रावकों के आग्रह से निबद्ध करते रहते थे। व्रत-उपवास की समाप्ति पर श्रावकों द्वारा इन ग्रन्थों की प्रतियाँ विभिन्न ग्रन्थ भण्डारों को भेंटस्वरूप दे दी जाती थीं। भट्टारकों के साथ हस्तलिखित ग्रन्थों के बस्ते के बस्ते होते थे। समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी और न उनके पढ़ने-लिखने का साधन था। व्रतोद्यापन पर उनके आग्रह से ग्रन्थों की स्वाध्यायार्थ प्रतिलिपि करायी जाती थी और उन्हें साधु-सन्तों को पढ़ने के लिए दे दिया जाता था।

साहित्य-सेवा

साहित्य-सेवा में सकलकीर्ति का जबरदस्त योग रहा। कभी-कभी तो ऐसा मालूम होने लगता है जैसे उन्होंने अपने साधु जीवन के प्रत्येक क्षण का उपयोग किया हो। संस्कृत, प्राकृत एवं राजस्थानी भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। वे सहज रूप में ही काव्य रचना करते थे इसलिए उनके मुख से जो भी वाक्य निकलता था वही काव्य-रूप में परिवर्तित हो जाता था। साहित्य रचना की परम्परा सकलकीर्ति ने ऐसी डाली कि राजस्थान के बागड एवं गुजरात प्रदेश में होनेवाले अनेक साधु-सन्तों ने साहित्य की खूब सेवा की तथा स्वाध्याय के प्रति जन-साधारण की भावना को जाग्रत् किया। इन्होंने अपने अन्तिम २२ वर्ष के जीवन में २७ से अधिक संस्कृत रचनाएँ एवं ८ राजस्थानी रचनाएँ निबद्ध की थीं। सकलकीर्तिनु रास में इनकी मुख्य रचनाओं के जो नाम गिनाये हैं वे निम्न प्रकार हैं।

चारि नियोग रचना करीय, गुरु कवित तणु हवि सुणहु बिचार।
१ यती-आचार, २ श्रावकाचार, ३ पुराण, ४ आगम सार कवित अपार॥
५ आदिपुराण ६ उत्तरपुराण ७ शान्ति ८ पास ९ वर्द्धमान १० मल्लिचरित्र।
आदि ११ यशोधर १२ धन्यकुमार १३ सुकुमाल १४ सुदर्शन चरित्र पवित्र॥
१५ पंचपरमेष्ठी गन्ध कुटीय १६ अष्टाह्निका १७ गणधर भेय।
१८ सोलहकारण पूजा विधि गुरिए सवि प्रगट प्रकासिया तेय॥
१९ सूक्ति मुक्तावलि २० क्रमविपाक गुरि रचीय डाईण परि विविध प्ररिग्रन्थ।
भरह संगीत पिंगल निपुण गुरु गुरड श्री सकलकीर्ति निर्ग्रन्थ॥

लेकिन राजस्थान में ग्रन्थ भण्डारों की जो अभी खोज हुई है उनमें हमें अभी तक निम्न रचनाएँ उपलब्ध हो सकी हैं।

संस्कृत की रचनाएं

१. मूलाचार प्रदीप
२. प्रश्नोत्तरोपासकाचार
३. आदिपुराण
४. उत्तर पुराण
५. शान्तिनाथ चरित्र
६. वर्द्धमान चरित्र
७. मल्लिनाथ चरित्र
८. यशोधर चरित्र
९. धन्यकुमार चरित्र
१०. सुकुमाल चरित्र
११. सुदर्शन चरित्र
१२. सद्भाषितावलि
१३. पार्श्वनाथ चरित्र
१४. व्रतकथा कोष
१५. नेमिजिन चरित्र
१६. कर्मविपाक
१७. तत्त्वार्थसार दीपक
१८. सिद्धान्तसार दीपक
१९. आगमसार
२०. परमात्मराज स्तोत्र
२१. सारचतुर्विंशतिका
२२. श्रीपाल चरित्र
२३. जम्बूस्वामी चरित्र
२४. द्वादशानुप्रेक्षा

पूजा ग्रन्थ

२५. अष्टाह्निका पूजा
२६. सोलहकारण पूजा
२७. गणधरवलय पूजा

राजस्थानी कृतियाँ

१. आराधना प्रतिबोधसार
२. नेमीश्वर गीत
३. मुक्तावलि गीत
४. णमोकार फल गीत
५. सोलहकारण रास
६. सारसीखामणि रास
७. शान्तिनाथ फागु

उक्त कृतियों के अतिरिक्त अभी और भी रचनाएँ हो सकती हैं जिनकी अभी खोज होना बाकी है। भट्टारक सकलकीर्ति की संस्कृत भाषा के समान राजस्थानी भाषा में भी कोई बड़ी रचना मिलनी चाहिए, क्योंकि इनके प्रमुख शिष्य ब्र. जिनदास ने इन्हीं की प्रेरणा एवं उपदेश से राजस्थानी भाषा में ५० से भी अधिक रचनाएँ निबद्ध की हैं। अकेले इन्हीं के साहित्य पर एक शोध प्रबन्ध लिखा जा सकता है। अब यहाँ कुछ ग्रन्थों का परिचय दिया जा रहा है।

१. आदिपुराण—इस पुराण में भगवान् आदिनाथ, भरत, बाहुबलि, सुलोचना, जयकीर्ति आदि महापुरुषों के जीवन का विस्तृत वर्णन किया गया है। पुराण सर्गों में विभक्त है और इसमें २० सर्ग हैं। पुराण की श्लोक संख्या ४६२८ श्लोक प्रमाण है। वर्णन शैली सुन्दर एवं सरस है। रचना का दूसरा नाम वृषभनाथ चरित्र भी है।

२. उत्तर पुराण—इसमें २३ तीर्थंकरों के जीवन का वर्णन है एवं साथ में

चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण आदि शलाका-महापुरुषों के जीवन का भी वर्णन है। इसमें १५ अधिकार है।

३. कर्मविपाक—यह कृति संस्कृत गद्य में है। इसमें आठ कर्मों के तथा उनके १४८ भेदों का वर्णन है। प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध एवं अनुभाग बन्ध की अपेक्षा से कर्मों के बन्ध का वर्णन सुन्दर एवं बोधगम्य है। यह ग्रन्थ ५४७ श्लोक संख्या प्रमाण है। रचना अभी तक अप्रकाशित है।

४. तत्त्वार्थसार दीपक—सकलकीर्ति ने अपनी इस कृति को अध्यात्म महाग्रन्थ कहा है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध संवर, निर्जरा तथा मोक्ष इन सात तत्त्वों का वर्णन १२ अध्यायों में निम्न प्रकार विभक्त है।

प्रथम सात अध्याय तक जीव एवं उसकी विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है। शेष ८ से १२वें अध्याय में अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष का क्रमशः वर्णन है। ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है।

५. धन्यकुमार चरित्र—यह एक छोटा-सा ग्रन्थ है जिसमें सेठ धन्यकुमार के पावन जीवन का यशोगान किया गया है। पूरी कथा सात अधिकारों में समाप्त होती है। धन्यकुमार का जीवन अनेक कुतूहलों एवं विशेषताओं से ओत-प्रोत है। एक बार कथा आरम्भ करने के बाद पूरी पढ़े बिना उसे छोड़ने को मन नहीं करता। भाषा सरल एवं सुन्दर है।

६. नेमिजिन चरित्र—नेमिजिन चरित्र का दूसरा नाम हरिवंशपुराण भी है। नेमिनाथ २२वें तीर्थंकर थे जिन्होंने कृष्ण युग में अवतार लिया था। वे कृष्ण के चचेरे भाई थे। अहिंसा में दृढ़ विश्वास होने के कारण तोरण द्वार पर पहुँचकर एक स्थान पर एकत्रित जीवों को वध के लिए लाया हुआ जानकर विवाह के स्थान पर दीक्षा ग्रहण कर ली थी तथा राजुल-जैसी अनुपम सुन्दर राजकुमारी को त्यागने में ज़रा भी विचार नहीं किया। इस प्रकार इसमें भगवान् नेमिनाथ एवं श्रीकृष्ण के जीवन एवं उनके पूर्व भवों का वर्णन है। कृति की भाषा काव्यमय एवं प्रवाहयुक्त है। इसकी संवत् १५७१ में लिखित एक प्रति आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर में संग्रहीत है।

७. मल्लिनाथ चरित्र—२०वें तीर्थंकर मल्लिनाथ के जीवन पर यह एक छोटा सा प्रबन्ध काव्य है जिसमें ७ सर्ग है।

८. पार्श्वनाथ चरित्र—इसमें २३वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन का वर्णन है। यह एक २३ सर्गवाला सुन्दर काव्य है। मंगलाचरण के पश्चात् कुन्दकुन्द, अकलंक, समन्तभद्र, जिनसेन आदि आचार्यों को स्मरण किया गया है।

वायुभूति एवं मरुभूति ये दोनों सगे भाई थे लेकिन शुभ एवं अशुभ कर्मों के चक्कर से प्रत्येक भव में एक का किस तरह उत्थान होता रहता है और दूसरे का घोर पतन—इस कथा को इस काव्य में अति सुन्दर रीति से वर्णन किया गया है। वायुभूति

अन्त में पार्श्वनाथ बनकर निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं तथा जगत्पूज्य बन जाते हैं। भाषा सीधी, सरल एवं अलंकारमयी है।

९. सुदर्शन चरित्र—इस प्रबन्ध काव्य में सेठ सुदर्शन के जीवन का वर्णन किया गया है जो आठ परिच्छेदों में पूर्ण होता है। काव्य की भाषा सुन्दर एवं प्रभावयुक्त है।

१०. सुकुमाल चरित्र—यह एक छोटा-सा प्रबन्ध काव्य है जिसमें मुनि सुकुमाल के जीवन का पूर्व भव सहित वर्णन किया गया है। पूर्व में हुआ वैर-भाव किस प्रकार अगले जीवन में भी चलता रहता है इसका वर्णन इस काव्य में सुन्दर रीति से हुआ है। इसमें सुकुमाल के वैभवपूर्ण जीवन एवं मुनि अवस्था की घोर तपस्या का अति सुन्दर एवं रोमांचकारी वर्णन मिलता है। पूरे काव्य में ९ सर्ग हैं।

११. मूलाचार प्रदीप—यह आचार शास्त्र का ग्रन्थ है जिसमें जैन साधु के जीवन में कौन-कौन-सी क्रियाओं की साधना आवश्यक है—इन क्रियाओं का स्वरूप एवं उनके भेद-प्रभेदों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इसमें १२ अधिकार हैं जिनमें २८ मुलगुण,[1] पंचाचार,[2] दशलक्षण धर्म,[3] बारह अनुप्रेक्षा[4] एवं बारह तप[5] आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है।

१२. सिद्धान्तसार दीपक—यह करणानुयोग का ग्रन्थ है। इसमें ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, पाताल लोक एवं उनमें रहनेवाले देवों, मनुष्यों, तिर्यंचों और नारकियों का विस्तृत वर्णन है। इसमें जैन सिद्धान्तानुसार सारे विश्व का भूगोलिक एवं खगोलिक वर्णन आ जाता है। इसका रचना काल सं. १४८१ है, रचना स्थान है—बगली नगर। प्रेरक थे इसके ब्र० जिनदास।

जैन सिद्धान्त की जानकारी के लिए यह बड़ा उपयोगी है। ग्रन्थ १६ सर्गों में है।

१३. वर्द्धमान चरित्र—इस काव्य में अन्तिम तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान के पावन जीवन का वर्णन किया गया है। प्रथम ६ सर्गों में महावीर के पूर्व भवों का एवं शेष १३ अधिकारों में गर्भ कल्याणक से लेकर निर्वाण प्राप्ति तक विभिन्न लोकोत्तर घटनाओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। भाषा सरल किन्तु काव्यमय है। वर्णन शैली

---

१. २८ मूलगुण—पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति, पंचेन्द्रिय निरोध, षडावश्यक, केशलोंच, अचेलक, अस्नान, दन्त अधोवन।
२. पंचाचार—दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप एवं वीर्य।
३. दशलक्षण धर्म—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य एवं ब्रह्मचर्य।
४. बारह अनुप्रेक्षा—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोध दुर्लभ एवं धर्म।
५. बारह तप—अनशन, अवमौदर्य, व्रतपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान।

अच्छी है। कवि जिस किसी वर्णन को जब प्रारम्भ करता है तो वह फिर उसी में मस्त हो जाता है। रचना सम्भवतः अभी तक अप्रकाशित है।

१४. यशोधर चरित्र—राजा यशोधर का जीवन जैन समाज में बहुत प्रिय रहा है। इसलिए इस पर विभिन्न भाषाओं में कितनी ही कृतियाँ मिलती हैं। सकलकीर्ति की यह कृति संस्कृत भाषा की सुन्दर रचना है। इसमें आठ सर्ग हैं। इसे हम एक प्रबन्ध काव्य कह सकते हैं।

१५. सद्भाषितावलि—यह एक छोटा-सा सुभाषित ग्रन्थ है जिसमें धर्म, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, इन्द्रियजय, स्त्री सहवास, काम सेवन, निर्ग्रन्थ सेवा, तप, त्याग, राग, द्वेष, लोभ आदि विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। भाषा सरल एवं मधुर है।

१६. श्रीपाल चरित्र—यह सकलकीर्ति का एक काव्य ग्रन्थ है जिसमें ७ परिच्छेद हैं। कोटिभट श्रीपाल का जीवन अनेक विशेषताओं से भरा पड़ा है। राजा से कुष्ठी होना, समुद्र में गिरना, सूली पर चढ़ना आदि कितनी ही घटनाएँ उसके जीवन में एक के बाद दूसरी आती हैं जिनसे उसका सारा जीवन नाटकीय बन जाता है। सकलकीर्ति ने इसे बड़ी सुन्दर रीति से प्रतिपादित किया है। इस चरित्र की रचना कर्मफल सिद्धान्त को पुरुषार्थ से अधिक विश्वसनीय सिद्ध करने के लिए की गयी है। मानव ही क्या विश्व के सभी जीवधारियों का सारा व्यवहार उसके द्वारा उपार्जित पाप-पुण्य पर आधारित है। उसके सामने पुरुषार्थ कुछ भी नहीं कर सकता। काव्य पठनीय है।

१७. शान्तिनाथ चरित्र—शान्तिनाथ १६वें तीर्थंकर थे। तीर्थंकर के साथ-साथ वे कामदेव एवं चक्रवर्ती भी थे। उनके जीवन की विशेषताएँ बतलाने के लिए इस काव्य की रचना की गयी है। काव्य में १६ अधिकार हैं तथा ३४७५ श्लोक संख्या प्रमाण है। इस काव्य को महाकाव्य की संज्ञा मिल सकती है। भाषा आलंकारिक एवं वर्णन प्रभावमय है। प्रारम्भ में कवि ने श्रृंगार-रस से ओत-प्रोत काव्य की रचना क्यों करनी चाहिए—इस पर अच्छा प्रकाश डाला है। काव्य सुन्दर एवं पठनीय है।

१८. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार—इस कृति में श्रावकों के आचार-धर्म का वर्णन है। श्रावकाचार २४ परिच्छेदों में विभक्त है, जिसमें आचार शास्त्र पर विस्तृत विवेचन किया गया है। भट्टारक सकलकीर्ति स्वयं मुनि भी थे इसलिए उनसे श्रद्धालु भक्त आचार-धर्म के विषय में विभिन्न प्रश्न प्रस्तुत करते होंगे—इसलिए उन सबके समाधान के लिए कवि ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया। भाषा एवं शैली की दृष्टि से रचना सुन्दर एवं सुरक्षित है। कृति में रचनाकाल एवं रचना स्थान नहीं दिया गया है।

१९. पुराणसार संग्रह—प्रस्तुत पुराण संग्रह में ६ तीर्थंकरों के चरित्रों का संग्रह है और ये तीर्थंकर हैं—आदिनाथ, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं

महावीर वर्द्धमान। भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से पुराणसार संग्रह प्रकाशित हो चुका है। प्रत्येक तीर्थंकर का चरित अलग-अलग सर्गों में विभक्त है जो निम्न प्रकार है—

आदिनाथ चरित	५ सर्ग
चन्द्रप्रभ चरित	१ सर्ग
शान्तिनाथ चरित	६ सर्ग
नेमिनाथ चरित	५ सर्ग
पार्श्वनाथ चरित	५ सर्ग
महावीर चरित	५ सर्ग

२०. व्रतकथा कोष—व्रतकथा कोष की एक हस्तलिखित प्रति जयपुर के पाटोदी के मन्दिर भण्डार में संग्रहीत है। इनमें विभिन्न व्रतों पर आधारित कथाओं का संग्रह है। ग्रन्थ की पूरी प्रति उपलब्ध नहीं होने से अभी तक यह निश्चित नहीं हो सका कि भट्टारक सकलकीर्ति ने कितनी व्रत कथाएँ लिखी थीं।

२१. परमात्मराज स्तोत्र—यह एक लघु स्तोत्र है, जिसमें १६ पद्य हैं। स्तोत्र सुन्दर एवं भावपूर्ण है। इसकी १ प्रति जयपुर के दिगम्बर जैन मन्दिर पाटोदी के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है।

उक्त संस्कृत कृतियों के अतिरिक्त पंचपरमेष्ठी पूजा, अष्टाह्निका पूजा, सोलहकारण पूजा, गणधरवलय पूजा, द्वादशानुप्रेक्षा एवं सारचतुर्विंशतिका आदि और कृतियाँ हैं जो राजस्थान के शास्त्र-भण्डारों में उपलब्ध होती हैं। ये सभी कृतियाँ जैन समाज में लोकप्रिय रही हैं तथा उनका पठन-पाठन भी खूब रहा है।

भट्टारक सकलकीर्ति की उक्त संस्कृत रचनाओं में कवि का पाण्डित्य स्पष्ट रूप से झलकता है। उनके काव्यों में उसी तरह की शैली, अलंकार, रस एवं छन्दों की परियोजना उपलब्ध होती है जो अन्य भारतीय संस्कृत काव्यों में मिलती है। उनके चरित काव्यों के पढ़ने से अच्छा रसास्वादन मिलता है। चरित काव्यों के नायक त्रैसठशलाका के लोकोत्तर महापुरुष हैं जो अतिशय पुण्यवान् हैं, जिनका सम्पूर्ण जीवन अत्यधिक पावन है। सभी काव्य शान्तरसपर्यवसानी हैं।

काव्य ज्ञान के समान भट्टारक सकलकीर्ति जैन सिद्धान्त के महान् वेत्ता थे। उनका मूलाचार प्रदीप, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, सिद्धान्तसार दीपक एवं तत्त्वार्थसार दीपक तथा कर्मविपाक-जैसी रचनाएँ उनके अगाध ज्ञान के परिचायक हैं। इसमें जैन सिद्धान्त, आचार-शास्त्र एवं तत्त्वचर्चा के उन गूढ़ रहस्यों का निचोड़ है जो एक महान् विद्वान् अपनी रचनाओं में भर सकता है।

इसी तरह सद्भाषितावलि उनके सर्वांग ज्ञान का प्रतीक है—जिसमें सकलकीर्ति ने जगत् के प्राणियों को सुन्दर शिक्षाएँ भी प्रदान की हैं, जिससे वे अपना आत्मकल्याण भी करने की ओर अग्रसर हो सकें। वास्तव में वे सभी विषयों के पारगामी विद्वान् थे—ऐसे सन्त विद्वान् को पाकर कौन देश गौरवान्वित नहीं होगा।

राजस्थानी रचनाएँ

सकलकीर्ति ने हिन्दी में बहुत ही कम रचना निबद्ध की है। इसका प्रमुख कारण सम्भवतः इनका संस्कृत भाषा की ओर अत्यधिक प्रेम था। इसके अतिरिक्त जो भी इनकी हिन्दी रचनाएँ मिली हैं वे सभी लघु रचनाएँ हैं जो केवल भाषा अध्ययन की दृष्टि से ही उल्लेखनीय कही जा सकती हैं। सकलकीर्ति का अधिकांश जीवन राजस्थान में व्यतीत हुआ था इसलिए इनकी रचनाओं में राजस्थानी भाषा की स्पष्ट छाप दिखलाई देती है।

१. णमोकार फल गीत—यह इनकी प्रथम हिन्दी रचना है। इसमें णमोकार मन्त्र का माहात्म्य एवं उसके फल का वर्णन है। रचना कोई विशेष बड़ी नहीं है। केवल १५ पद्यों में ही वर्णित विषय पूरा हो जाता है। कवि ने उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि णमोकार मन्त्र का स्मरण करने से अनेक विघ्नों को टाला जा सकता है। जिन पुरुषों के इस मन्त्र का स्मरण करने से विघ्न दूर हुए हैं उनके नाम भी गिनाये हैं। तथा उनमें धरणेन्द्र, पद्मावती, अंजन चोर, सेठ सुदर्शन एवं चारुदत्त उल्लेखनीय हैं। कवि कहता है—

सर्व जुगल तापसि हव्यो पार्श्वनाथ जिनेन्द्र।
णमोकार फल लहीहुउ पंथियडारे पद्मावती धरणेन्द्र।
चोर अंजन सूली धर्‌यो, श्रेष्ठि दियो णमोकार।
देवलोक जाइ करी, पंथियडारे सुख भोगवे आपार।
चारुदत्त श्रेष्ठि दियो घाला ने णमोकार।
देव भवनि देवज हुहो, सुखन विलासई पार॥
ग्रह डाकिनी शाकिणी फणी, व्याधिवह्नि जलराशि।
सकल बन्धन तूटए पंथियडारे विघ्न सबे जावे नाशि॥

कवि अन्त में इस रचना को इस प्रकार समाप्त करता है—

चउबीसी अमंत्र हुई, महापंथ अनादि
सकलकीरति गुरु इम कहे,
पंथियडारे कोइ न जाणई
आदि जीवड लारे भव सागरि एह नाव।

२. आराधना प्रतिबोधसार—यह इनकी दूसरी हिन्दी रचना है। प्राकृत भाषा में निबद्ध आराधनासार का कवि ने भाव मात्र लिखने का प्रयत्न किया है। इसमें सब मिलाकर ५५ पद्य हैं। प्रारम्भ में कवि ने णमोकार मन्त्र की प्रशंसा की है तत्पश्चात् संयम को जीवन में उतारने के लिए आग्रह किया है। संसार को क्षणभंगुर बताते हुए सम्राट् भरत, बाहुबलि, पाण्डव, रामचन्द्र, सुग्रीव; सुकुमाल, श्रीपाल आदि महापुरुषों के जीवन से शिक्षा लेने का उपदेश दिया है। इस प्रकार आगे तीर्थ क्षेत्रों का उल्लेख करते

हुए मनुष्य को अणुव्रत आदि पालने के लिए कहा गया है। इन सबका संक्षिप्त वर्णन है। रचना सुन्दर एवं सुपाठ्य है। रचना के सुन्दर पद्यों का रसास्वादन करने के लिए यहां दिया जाता है—

तप प्रायश्चित व्रत करि शोष, मन, वचन काया निरोधि।
तुं क्रोध माया मद छौड़ि, आपणंपु सयलइ मौड़ि॥
गया जिणवर जगि चउबीस, नहि रहि आवार चकीस।
गया बलिभद्र, न वर वीर, नव नारायण गया धीर॥
गया भरतेस देइ दानं, जिन शासन थापिय मानं।
गयो बाहुबलि जगमाल, जिणे हुइ न राख्युं साल॥
गया रामचन्द्र राणीं रंगि, जिण सांचु जस अभंग।
गयो कुम्भकरण जगिसार, जिणों लियो तु महाव्रत भार॥

जे जात्रा करि जग मोहि, संभारै ते मन मांहि।
गिरनारी गयुं तुं धीर, संभारिहि बडावीर॥
पांवा गिरि पुन्य भंडार, संभारै हुवड़ा सार।
तारण तीरथ होइ, संभारै हुवड़ा बड़ा जोइ॥
हुवेइ पाचमो व्रत प्रतिपालि, तू परिग्रह दूरिय टालि।
हो धन कंचन मांहि मोल्हि, संतोषीइं मांहि समेल्हि॥
हुवई चहुँगति फेरो टालि, मन जाति चहुं दिशि बार।
हो नरगि दुख न विसार, तेह केता कहुँ अविचार॥

अन्त में कवि ने रचना को इस प्रकार समाप्त किया है—

जे भणई सुणई नर नारि, ते जाइं भवनेइ पारि।
श्री सकलकीर्ति कहनुं विचार, आराधना प्रतिबोधसार॥

२. सारसीखामणिरास—सारसीखामणिरास राजस्थानी भाषा की लघु किन्तु सुन्दर कृति है। इसमें प्राणी मात्र के लिए शिक्षाप्रद सन्देश दिये गये हैं। रास में चार ढालें तथा तीन वस्तुबन्ध छन्द हैं। इनकी एक प्रति नैणवां (राजस्थान) के दिगम्बर मन्दिर बघेरवालों के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत एक गुटके में लिपिबद्ध है। गुटका की प्रतिलिपि संवत् १६४४ वैशाख सुदी १५ को समाप्त हुई थी। इसी गुटके में सोमकीर्ति, ब्रह्म यशोधर आदि कितने ही प्राचीन सन्तों के पाठों का संग्रह है। लिपिस्थान रणथम्भौर है जो उस समय भारत के प्रसिद्ध दुर्गों में से एक माना जाता था। रास पाँच पत्रों में पूर्ण होता है। सर्वप्रथम कवि ने कहा कि यह सुन्दर देह बिना बुद्धि के बेकार है इसलिए सदैव सत् साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। जीवन को संयमित बनाना चाहिए तथा अन्धविश्वासों में कभी नहीं पड़ना चाहिए। जीव दया की महत्ता को कवि ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

जीव दया द्रढ़ पालीइए, मन कोमल कीजि ।
आप सरीखा जीव सर्वं, मन माँहि धरीजइ ॥

असत्य वचन कभी नहीं बोलना चाहिए और न कर्कश तथा मर्मभेदी शब्द जिनसे दूसरों के हृदय में ठेस पहुँचे । किसी को पुण्य कार्य करते हुए नहीं रोकना चाहिए तथा दूसरों के अवगुणों को ढककर गुणों को प्रकट करना चाहिए ।

झूठा वचन न बोलीइए, ए करकस परिहए ।
मरम में बोलु किहि तथा, ए चाडी मन करू ॥
धर्म करता न वारीइए, नवि पर नन्दीजि ।
परगुण ढाँकी आप तणा, गुण नवि बोलीजइ ॥

सदैव त्याग को जीवन में अपनाना चाहिए । आहारदान, औषधदान, साहित्यदान एवं अभयदान आदि के रूप में कुछ न कुछ देते रहना चाहिए । जीवन इसी से निखरता है एवं उसमें परोपकार करते रहने की भावना उत्पन्न होती है ।

४. मुक्तावलि गीत—यह एक लघु गीत है जिसमें मुक्तावलि व्रत की कथा एवं उसके माहात्म्य का वर्णन है । रचना की भाषा राजस्थानी है जिसमें गुजराती भाषा के शब्दों का प्रयोग भी हुआ है । रचना साधारण है तथा वह केवल १५ पद्यों में पूर्ण होती है ।

५. सोलहकारण रास—यह कवि की एक कथात्मक कृति है जिसमें सोलहकारण व्रत के माहात्म्य पर प्रकाश डाला गया है । भाषा की दृष्टि से यह रास अच्छी रचना है । कृति के अन्त में सकलकीर्ति ने अपने आपको मुनि विशेषण से सम्बोधित किया है । इससे ज्ञात होता है कि यह उनकी प्रारम्भिक कृति होगी । रास का अन्तिम भाग निम्न प्रकार है—

एक चिति जे व्रत करइ, नर अहवा नारी ।
तीर्थंकर पद सो लहइ, जो समकित धारी ॥
सकलकीर्ति मुनि रासु कियउए सोलहकारण ।
पढ़हि गुणहि जो साँभलहि तिन्ह सिव सुह कारण ॥

६. शान्तिनाथ फागु—इस कृति को खोज निकालने का श्रेय श्री कुन्दनलाल जैन को है । इस फागु काव्य में शान्तिनाथ तीर्थंकर का संक्षिप्त जीवन वर्णित है । हिन्दी के साथ कहीं-कहीं प्राकृत गाथा एवं संस्कृत श्लोक भी प्रयुक्त हुए हैं । फागु की भाषा सरल एवं मनोहारी है ।

भट्टारक शुभचन्द्र
[संवत् १४५० से १५१६ तक]

शुभचन्द्र के नाम से कितने ही आचार्य, भट्टारक, मुनि हुए हैं जिन्होंने साहित्य एवं संस्कृति की अपार सेवा की है। इनमें ११वीं, १२वीं शताब्दी में होनेवाले आचार्य शुभचन्द्र का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने ज्ञानार्णव-जैसे लोकप्रिय ग्रन्थ की रचना की थी। दूसरे शुभचन्द्र भट्टारक थे जो भ. पद्मनन्दि के शिष्य थे और जिनके सम्बन्ध में यहाँ परिचय दिया जा रहा है। तीसरे शुभचन्द्र भी भट्टारक थे जो सकलकीर्ति की परम्परा में होनेवाले भ. विजयकीर्ति के शिष्य थे। चौथे शुभचन्द्र मुनि थे जो आमेर गादी के भट्टारक जगत्कीर्ति के शिष्य थे। और जिनकी हिन्दी भाषा में निबद्ध होली कथा की एक पाण्डुलिपि दिगम्बर जैन मन्दिर राजमहल (टोंक) के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है। इस कृति का रचनाकाल संवत् १७५५ चैत्र वदी सप्तमी है। पाँचवें शुभचन्द्र (संवत् १५३०) भट्टारक कमलकीर्ति के शिष्य थे जो काष्ठासंघ माथुर गच्छ के भट्टारक थे। छठे शुभचन्द्र भट्टारक हर्षचन्द्र के शिष्य थे जिनका महाराष्ट्र प्रदेश से सम्बन्ध था।

प्रस्तुत भट्टारक शुभचन्द्र भ. प्रभाचन्द्र (प्रथम) के प्रशिष्य एवं भट्टारक पद्मनन्दि के शिष्य थे। ये मूलसंघ-बलात्कार गण-सरस्वतीगच्छ के भट्टारक थे। भट्टारक शुभचन्द्र का यह समारोह भट्टारक पद्मनन्दि के स्वर्गवास के तत्काल बाद देहली में ही सम्पन्न हुआ था। एक भट्टारक पट्टावलि के अनुसार उस दिन संवत् १४५० माघ सुदी ५ का शुभ दिन था। ये जाति से ब्राह्मण थे। १९ वर्ष की अवस्था में इन्होंने घर-बार छोड़ दिया और २४ वर्ष के लम्बे समय तक इन्हें पद्मनन्दि के चरणकमलों में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पट्टाभिषेक के समय उनकी ४३ वर्ष की अवस्था थी। सुन्दरता एवं लावण्य शरीर से फूट पड़ता था। गौरवर्ण एवं आकर्षक व्यक्तित्व के कारण ये सहज ही में जनता को अपनी ओर लुभा लेते थे।

शुभचन्द्र का भट्टारक बनने के पूर्व का नाम क्या था तथा इनके परिवार में कौन-कौन सदस्य थे इसके बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता। इनके एक भाई का नाम मदनदेव था जिनके पढ़ने के लिए सन् १४४० (संवत् १४९७) में मकचन्द्रकार ग्रन्थ की प्रतिलिपि की गयी थी।

व्यक्तित्व—शुभचन्द्र अनोखे व्यक्तित्व के धनी थे। उनके पश्चात् होनेवाले विभिन्न विद्वानों ने उनकी विद्वत्ता, वक्तृत्वकला, दार्शनिकता के सम्बन्ध में काफ़ी अच्छा

लिखा है। शुभचन्द्र के शिष्य एवं भ. जिनचन्द्र के शिष्य मुनि रत्नकीर्ति ने प्रवचनसार-प्राभृत की संस्कृत में टीका लिखी थी। इन्होंने भट्टारक शुभचन्द्र को यहाँ भोजमार्तण्ड लिखा है। पं. मोधावी भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्य थे। उन्होंने संवत् १५४१ में धर्म संग्रह् श्रावकाचार की रचना की थी। इस ग्रन्थ की प्रशंसा में उन्होंने भट्टारक शुभचन्द्र की अत्यधिक प्रशंसा की है। उनके अनुसार शुभचन्द्र प्रतिष्ठा विधान कराने में तथा धर्म की कथा कहने में अत्यधिक निपुण थे। इन्होंने जैनदर्शन एवं धर्म का उसी तरह् प्रकाश किया था जिस प्रकार रात्रि को चन्द्रमा की किरणें आकाश में प्रकाश फैला देती हैं। शुभचन्द्र वक्तृत्वकला में निपुण थे तथा जैन दर्शन के निष्णात पण्डित थे। उनसे तत्कालीन विद्वान् अष्टसहस्री पढ़ा करते थे। वे चारित्र के धनी थे तथा तर्कशक्ति में न्याय वादियों के प्रमुख बन गये थे। बिजोलिया के शिलालेख में इन्हें विद्वानों का सेवक लिखा है।

चित्तौड़ में गादी का स्थानान्तरण

२२ वर्ष तक भट्टारक रहने के पश्चात् देहली इन्हें अपने लिए उपयुक्त नगर नहीं लगा। मुसलिम शासकों के आये दिन के झगड़ों एवं उनकी धर्मान्धता के कारण इन्हें अपनी गादी का वहाँ से चित्तौड़ में स्थानान्तरण करना पड़ा तथा सन् १४१५ में इन्होंने वहाँ मूलसंघ की भट्टारक गादी की विधिवत् स्थापना कर दी। तथा वहीं से जैन धर्म, साहित्य एवं संस्कृति के विकास में योग देने लगे।

चित्तौड़ उस समय राजस्थान का ही नहीं समस्त उत्तरी भारत का प्रसिद्ध नगर था। वहाँ के शासकों की वीरता एवं पराक्रम के कारण मुसलिम शासक सहज ही में उस पर आक्रमण करने में डरते थे। इसलिए दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के साधुओं ने उसे अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाया।

उस समय सबसे अधिक आकर्षण मन्दिर निर्माण, प्रतिष्ठा विधान एवं धार्मिक समारोहों के आयोजन में ही था तथा भट्टारक शुभचन्द्र ने भी इस ओर ध्यान दिया और संवत् १४८०, १४८३ आदि संवतों में कितनी प्रतिष्ठा समारोहों का संचालन किया।

शुभचन्द्र का राजस्थान में जबरदस्त प्रभाव था। राजस्थान की प्रत्येक धार्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों में उनका निर्देशन प्राप्त होता था। आवाँ की एक पहाड़ी पर उनकी एक निषेधिका बनी हुई है तथा टोडारामसिंह में भी इनकी निषेधिका इस बात की ओर संकेत देती है कि उनकी कीर्ति एवं यशोगाथा सारे राजस्थान में व्याप्त थी। एक पट्टावलि में उनका 'शुभ्रैर्जनैः वन्दिता' इस विशेषण से स्तवन किया गया है। इन्होंने लम्बे समय तक सारे देश में सांस्कृतिक जागृति बनाये रखने और अपने आकर्षक व्यक्तित्व के प्रभाव से सारे राजस्थान पर छाये रहे। संवत् १५०७ तक ये भट्टारक पद पर आसीन रहे और इस प्रकार ५७ वर्ष तक भट्टारक पद पर रहते हुए देश एवं समाज की जो महान् सेवाएँ कीं उससे सारा समाज उनका चिरस्मरणीय रहेगा।

भट्टारक जिनचन्द्र

[संवत् १५०७ से १५७१ तक]

भट्टारक जिनचन्द्र १६वीं शताब्दी के प्रसिद्ध भट्टारक एवं जैन सन्त थे। भारत की राजधानी देहली में भट्टारकों की प्रतिष्ठा बढ़ाने में इनका प्रमुख हाथ रहा था। यद्यपि देहली में ही इनकी भट्टारक गादी थी लेकिन वहाँ से ही ये सारे राजस्थान का भ्रमण करते और साहित्य एवं संस्कृति का प्रचार करते। इनके गुरु का नाम शुभचन्द्र था और उन्हीं के स्वर्गवास के पश्चात् संवत् १५०७ की जेष्ठ कृष्णा ५ को इनका बड़ी धूम-धाम से पट्टाभिषेक हुआ। एक भट्टारक पट्टावली के अनुसार इन्होंने १२ वर्ष की आयु से ही घर-बार छोड़ दिया और भट्टारक शुभचन्द्र के शिष्य बन गये। १५ वर्ष तक इन्होंने शास्त्रों का खूब अध्ययन किया। भाषण देने एवं वाद-विवाद करने की कला सीखी तथा २७वें वर्ष में इन्हें भट्टारक पद पर अभिषिक्त कर दिया गया। जिनचन्द्र ६४ वर्ष तक इस महत्त्वपूर्ण पद पर आसीन रहे। इतने लम्बे समय तक भट्टारक पद पर रहना बहुत कम सन्तों को मिल सका है। वे जाति से बघेरवाल जाति के श्रावक थे।

जिनचन्द्र राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पंजाब एवं देहली प्रदेश में खूब विहार करते। जनता को वास्तविक धर्म का उपदेश देते। प्राचीन ग्रन्थों की नयी-नयी प्रतियाँ लिखवाकर मन्दिरों में विराजमान करवाते, नये-नये ग्रन्थों का स्वयं निर्माण करते तथा दूसरों को इस ओर प्रोत्साहित करते। पुराने मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाते तथा स्थान-स्थान पर नयी-नयी प्रतिष्ठाएँ करवाकर जैन धर्म एवं संस्कृति का प्रचार करते। आज राजस्थान के प्रत्येक दिगम्बर जैन मन्दिर में इनके द्वारा प्रतिष्ठित एक-दो मूर्तियाँ अवश्य मिलेंगी। संवत् १५४८ में जीवराज पापड़ीवाल ने जो बड़ी भारी प्रतिष्ठा करवायी थी वह सब इनके द्वारा ही सम्पन्न हुई थी। उस प्रतिष्ठा में सैकड़ों ही नहीं हजारों मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित करवाकर राजस्थान के अधिकांश मन्दिरों में विराजमान की गयी थीं। आवाँ (टोंक, राजस्थान) में एक मील पश्चिम की ओर एक छोटी-सी पहाड़ी पर नसियाँ हैं जिसमें भट्टारक शुभचन्द्र, जिनचन्द्र एवं प्रभाचन्द्र की निषेधिकाएँ स्थापित की हुई हैं। ये तीनों निषेधिकाएँ संवत् १५९३ ज्येष्ठ सुदी ३ सोमवार के दिन भट्टारक प्रभाचन्द्र के शिष्य मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र ने साह काल एवं इसके चार पुत्र एवं पौत्रों के द्वारा स्थापित करायी थीं। भट्टारक जिनचन्द्र की निषेधिका की ऊँचाई एवं चौड़ाई १४½ फ़ीट × ९ इंच है।

इसी समय आवाँ में एक बड़ी भारी प्रतिष्ठा भी हुई थी जिसका ऐतिहासिक लेख वहीं के एक शान्तिनाथ के मन्दिर में लगा हुआ है। लेख संस्कृत में है और उसमें भट्टारक जिनचन्द्र का निम्न शब्दों में यशोगान किया गया है—

तत्पट्टस्थपरो धीमान् जिनचन्द्रः सुतत्त्ववित्।
अभूदऽस्मिन् च विख्यातो ध्यानार्थी दग्धकर्मकः ॥

साहित्य सेवा

जिनचन्द्र का प्राचीन ग्रन्थों के नवीनीकरण की ओर विशेष ध्यान था। इसलिए इनके द्वारा लिखवायी गयी कितनी ही हस्तलिखित प्रतियाँ राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों में उपलब्ध होती हैं। संवत् १५१२ की आषाढ़ कृष्ण १२ को नेमिनाथ चरित की एक प्रति लिखी गयी थी जिसे इन्हें घोघा बन्दरगाह में नयनन्दि मुनि ने समर्पित की थी।[1] संवत् १५१५ में नैणवा नगर में इनके शिष्य अनन्तकीर्ति द्वारा नरसेन-देव की सिद्धचक्र कथा (अपभ्रंश) की प्रतिलिपि श्रावक नाराइण के पठनार्थ करवायी। इसी तरह संवत् १५२१ में ग्वालियर में पउमचरिउ की प्रतिलिपि करवाकर नेत्रनन्दि मुनि को अर्पण की गयी।[2] संवत् १५५८ की श्रावण शुक्ल १२ को इनकी आम्नाय में ग्वालियर के महाराजा मानसिंह के शासन काल में नागकुमार चरित की प्रति लिखवायी गयी।

मूलाचार की एक लेखक प्रशस्ति में भट्टारक जिनचन्द्र की निम्न शब्दों में प्रशंसा की गयी है—

तदीयपट्टाम्बरभानुमाली क्षमादिनानागुणरत्नशाली।
भट्टारकश्रीजिनचन्द्रनामा सैद्धान्तिकानां भुवि योऽस्ति सीमा ॥

इसकी प्रति को संवत् १५१६ में झुंझनु (राजस्थान) में साहू पार्श्व के पुत्रों ने श्रुतपंचमी उद्यापन पर लिखवायी थी। संवत् १५१७ में झुंझुणु में ही तिलोयपण्णत्ति की प्रति लिखवायी गयी थी। पं. मेधावी इनका एक प्रमुख शिष्य था जो साहित्य रचना में विशेष रुचि रखता था। इन्होंने नागौर में धर्मसंग्रहश्रावकाचार की संवत् १५४१ में रचना समाप्त की थी। इसकी प्रशस्ति में विद्वान् लेखक ने जिनचन्द्र की निम्न शब्दों में स्तुति की है—

तस्मान्नीरनिधेरिवेन्दुरभवच्छ्रीमज्जिनेन्द्राग्रणी
स्याद्वादाम्बरमण्डले कृतगतिर्दिग्वाससां मण्डनः।
यो व्याख्यानमरीचिभिः कुवलये प्रह्लादनं चक्रिवान्
सद्वृत्तः सकलकलंकविकलः षट्तर्कनिष्णातधीः ॥१२॥

---

१. देखिए भट्टारक पट्टावली, पृष्ठ संख्या १०८।
२. वही।

स्वयं भट्टारक जिनचन्द्र की अभी तक कोई महत्त्वपूर्ण रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है लेकिन देहली, हिसार, आगरा आदि के शास्त्र भण्डारों की खोज के पश्चात् सम्भवतः कोई इनकी बड़ी रचना भी उपलब्ध हो सके। अबतक इनकी जो दो रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं उनके नाम हैं सिद्धान्तसार और जिनचतुर्विंशति स्तोत्र। सिद्धान्तसार एक प्राकृत भाषा का ग्रन्थ है और उसमें जिनचन्द्र के नाम से निम्न प्रकार उल्लेख हुआ है[1]—

जिनचतुर्विंशति स्तोत्र की एक प्रति जयपुर के विजयराम पाण्ड्या के शास्त्र भण्डार के एक गुटके में संग्रहीत है। रचना संस्कृत में है और उसमें चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है।

प्रतिष्ठा समारोह

सर्वप्रथम इन्होंने संवत् १५०२ में वैशाख सुदी ३ के शुभ दिन पार्श्वनाथ प्रतिमा की प्रतिष्ठा सम्पन्न करवायी थी।[2] इसके अगले वर्ष संवत् १५०३ में मार्गशिर सुदी पंचमी को इनके द्वारा प्रतिष्ठापित चौबीसी की एक प्रतिमा जयपुर के एक मन्दिर में विराजमान है।[3] संवत् १५०४ में भट्टारक जिनचन्द्र नगर (राजस्थान) पधारे और वहाँ बघेरवाल समाज के प्रमुख बीसल एवं उनके परिवार द्वारा आयोजित प्रतिष्ठा में सम्मिलित हुए। यहाँ इन्होंने भगवान् अजितनाथ की एक प्रतिमा की प्रतिष्ठा सम्पन्न करवायी।[4] संवत् १५०९ में इन्होंने घोपे ग्राम में शान्तिनाथ प्रतिमा की स्थापना की।[5] इसी वर्ष इनके शिष्य आचार्य विद्यानन्दि ने चौबीस प्रतिमा की विधिपूर्वक प्रतिष्ठा करवायी।[6]

भट्टारक जिनचन्द्र खण्डेलवाल एवं बघेरवाल जाति के श्रावकों द्वारा अधिक सम्मानित थे। इसलिए उक्त जाति के श्रावकों द्वारा आयोजित अधिकांश प्रतिष्ठा समारोहों में वे ससम्मान सम्मिलित होते थे। संवत् १५२३ एवं १५२७ में बघेरवाल श्रावकों द्वारा जो समारोह आयोजित हुए थे उनमें भट्टारक जिनचन्द्र अपने संघ के साथ पधारे थे और समारोहों में विशेष आकर्षण पैदा किया था। संवत् १५४८ में वैशाख सुदी ३ के शुभदिन मुडासा शहर में सबसे बड़ी प्रतिष्ठाविधि सम्पन्न हुई। भट्टारक जिनचन्द्र ने इस प्रतिष्ठा में विशेष रुचि ली और हजारों मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाकर

---

१. पवयणपमाणलक्खण छंदालंकार रहियहियएण।
जिणइंदेण पउत्तं इणमागमभत्तिजुत्तेण ।७८।
(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई)

२. मूर्तिलेख संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ संख्या १६३।
३. ,, ,, पृष्ठ संख्या १८।
४. ,, ,, पृष्ठ संख्या १७६।
५. राजस्थान के जैन सन्त पृष्ठ संख्या १८२।
६. मूर्तिलेख संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ संख्या १७५।

राजस्थान के ही नहीं किन्तु देश के विभिन्न मन्दिरों में विराजमान की। इस प्रतिष्ठा के आयोजक थे जीवराज पापड़ीवाल जो खण्डेलवाल जाति के सूर्य थे। वास्तव में जिनचन्द्र के जीवन में इतनी भारी प्रतिष्ठा इसके पूर्व कभी नहीं हुई थी। इस प्रतिष्ठा समारोह के सफल संचालन के कारण उनकी कीर्ति चारों ओर फैल गयी और जिनचन्द्र भट्टारक शिरोमणि बन गये।

शिष्य परिवार

भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्यों में रत्नकीर्ति, सिंहकीर्ति, प्रभाचन्द्र, जगत्कीर्ति, चारुकीर्ति, जयकीर्ति, भीमसेन, मेधावी आदि के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। रत्नकीर्ति ने संवत् १५७२ में नागौर (राजस्थान) में तथा सिंहकीर्ति ने अटेर में स्वतन्त्र भट्टारक गादी की स्थापना की। जिससे सारे राजस्थान में भट्टारकों का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस प्रकार जिनचन्द्र अपने समय के समर्थ भट्टारक रहे।

भट्टारक प्रभाचन्द्र द्वितीय

[संवत् १५७१ से १५९२ तक]

प्रभाचन्द्र के नाम से चार प्रसिद्ध भट्टारक हुए हैं। प्रथम भट्टारक प्रभाचन्द्र बालचन्द्र के शिष्य थे जो सेनगण के भट्टारक थे तथा जो १२वीं शताब्दी में हुए थे। दूसरे प्रभाचन्द्र भट्टारक रत्नकीर्ति के शिष्य थे जो बलात्कारगण-उत्तर शाखा के भट्टारक बने थे। ये चमत्कारिक भट्टारक थे जिनका परिचय पहले दिया जा चुका है। तीसरे प्रभाचन्द्र भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्य थे और चौथे प्रभाचन्द्र भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य थे। यहाँ भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्य भट्टारक प्रभाचन्द्र के जीवन पर प्रकाश डाला जा रहा है।

एक भट्टारक पट्टावली के अनुसार प्रभाचन्द्र खण्डेलवाल जाति के श्रावक थे और वैद इनका गोत्र था। ये १५ वर्ष तक गृहस्थ रहे। एक बार भट्टारक जिनचन्द्र विहार कर रहे थे कि उनकी दृष्टि प्रभाचन्द्र पर पड़ी। इनकी अपूर्व सूझ-बूझ एवं गम्भीर ज्ञान को देखकर जिनचन्द्र ने इन्हें अपना शिष्य बना लिया। यह कोई संवत् १५५१ की घटना होगी। २० वर्ष तक इन्हें अपने पास रखकर खूब विद्याध्ययन कराया और अपने से भी अधिक शास्त्रों का ज्ञाता तथा वाद-विवाद में पटु बना दिया। संवत् १५७१ की फाल्गुन कृष्णा २ को इनका देहली में धूमधाम से पट्टाभिषेक हुआ। उस समय ये पूर्ण युवा थे और अपनी अलौकिक वाक् शक्ति एवं साधु स्वभाव से बरबस सबके हृदय को स्वत: ही आकृष्ट कर लेते थे। एक भट्टारक पट्टावलि के अनुसार ये २५ वर्ष तक भट्टारक रहे। श्री. वी. पी. जोहरापुरकर ने इन्हें केवल ९ वर्ष तक भट्टारक पद पर रहना लिखा है।[1] इन्होंने अपने समय में ही मण्डलाचार्यों की नियुक्ति की। इनमें धर्मचन्द्र को प्रथम मण्डलाचार्य बनने का सौभाग्य मिला। संवत् १५९३ में मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित कितनी ही मूर्तियाँ मिलती हैं। इन्होंने आंवा नगर में अपने तीन गुरुओं की निषेधिकाएँ स्थापित कीं जिससे यह भी ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्र का इसके पूर्व ही स्वर्गवास हो गया था।

प्रभाचन्द्र अपने समय के प्रसिद्ध एवं समर्थ भट्टारक थे। एक लेख प्रशस्ति में इनके नाम के पूर्व पूर्वाचलदिनमणि, षड्तर्कतार्किकचूड़ामणि आदि विशेषण लगाये हैं जिससे इनकी विद्वत्ता एवं तर्कशक्ति का परिज्ञान होता है।

साहित्य सेवा

प्रभाचन्द्र ने सारे राजस्थान में विहार किया। शास्त्रभण्डारों का अवलोकन किया और उनमें नयी-नयी प्रतियाँ लिखवाकर प्रतिष्ठापित कीं। राजस्थान के शास्त्र-भण्डारों में इनके समय में लिखी हुई सैकड़ों प्रतियाँ संग्रहीत हैं और इनका यशोगान गाती हैं। संवत् १५७५ की मार्गशीर्ष शुक्ला ४ को बाई पार्वती ने पुष्पदन्त कृत जसहर-चरिउ की प्रति लिखवायी और भट्टारक प्रभाचन्द्र को भेंट स्वरूप दी।[1]

संवत् १५७९ के मंगसिर मास में इनका टोंक नगर में विहार हुआ। चारों ओर आनन्द एवं उत्साह का वातावरण छा गया। इसी विहार की स्मृति में पण्डित नरसेन कृत 'सिद्धचक्रकथा' की प्रतिलिपि खण्डेलवाल जाति में उत्पन्न टोंग्या गोत्रवाले साह घरमसी एवं उनकी भार्या खातू ने करवायी और उसे बाई पदमसिरी को स्वाध्याय के लिए भेंट दी।

संवत् १५८० में सिकन्दराबाद नगर में इन्हीं के एक शिष्य ब्र. बीडा को खण्डेलवाल जाति में उत्पन्न साह दोदू ने पुष्पदन्त कृत जसहरचरिउ की प्रतिलिपि लिखवाकर भेंट की। उस समय भारत पर बादशाह इब्राहीम लोदी का शासन था। उसके दो वर्ष पश्चात् संवत् १५८२ में घटियालीपुर में इन्हीं के आम्नाय के एक मुनि हेमकीर्ति को श्रीचन्दकृत रत्नकरण्ड की प्रति भेंट की गयी। भेंट करनेवाली थी बाई मोली। इसी वर्ष जब इनका चम्पावती (चाटसूँ) नगर में विहार हुआ तो वहाँ के साह-गोत्रीय श्रावकों द्वारा सम्यक्त्व-कौमुदी की एक प्रति ब्रह्म बूचा (बूचराज) को भेंट दी गयी। ब्रह्म बूचराज भट्टारक प्रभाचन्द्र के शिष्य थे और हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् थे। संवत् १५८३ की आषाढ़ शुक्ला तृतीया के दिन इन्हीं के प्रमुख शिष्य मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र के उपदेश से महाकवि श्री यशःकीर्ति विरचित 'चन्दप्पहचरित' की प्रतिलिपि की गयी जो जयपुर के आमेर शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है।

जब भट्टारक प्रभाचन्द्र चित्तौड़ पधारे तो उनका वहाँ भी जोरदार स्वागत किया गया तथा उनके उपदेश से 'मेघमालाव्रत काव्य' की पार्श्वनाथ मन्दिर में रचना की गयी।

संवत् १५८४ में महाकवि धनपाल कृत बाहुबलि चरित की बघेरवाल जाति में उत्पन्न साह माघो द्वारा प्रतिलिपि करवायी गयी और प्रभाचन्द्र के शिष्य ब्र. रत्नकीर्ति को स्वाध्याय के लिए भेंट दी गयी। इस प्रकार भट्टारक प्रभाचन्द्र ने राजस्थान में स्थान-स्थान में विहार करके अनेक जीर्ण ग्रन्थों का उद्धार किया और उनकी प्रतियाँ करवाकर शास्त्र भण्डारों में संग्रहीत कीं। वास्तव में यह उनकी सच्ची साहित्य सेवा थी जिसके कारण सैकड़ों ग्रन्थों की प्रतियाँ सुरक्षित रह सकीं अन्यथा न जाने कब ही काल के गाल में समा जातीं।

---

१. देखिए, लेखक द्वारा सम्पादित प्रशस्ति संग्रह, पृष्ठ संख्या १८३।

प्रतिष्ठा कार्य

भट्टारक प्रभाचन्द ने प्रतिष्ठा कार्यों में भी पूरी दिलचस्पी ली। भट्टारक गादी पर बैठने के पश्चात् कितनी ही प्रतिष्ठाओं का नेतृत्व किया एवं जनता को मन्दिर निर्माण की ओर आकृष्ट किया। संवत् १५७१ की ज्येष्ठ शुक्ला २ को षोडशकारण यन्त्र एवं दशलक्षण यन्त्र की स्थापना की। इसके दो वर्ष पश्चात् संवत् १५७३ की फाल्गुन कृष्णा ३ को एक दशलक्षण यन्त्र स्थापित किया। संवत् १५७८ की फाल्गुन सुदी ९ के दिन तीन चौबीसी की मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी और इसी तरह संवत् १५८३ में भी चौबीसी की प्रतिमा की प्रतिष्ठा इनके द्वारा ही सम्पन्न हुई। राजस्थान के कितने ही मन्दिरों में इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ मिलती हैं।

संवत् १५९३ में मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र ने आँवा नगर में होने वाले प्रतिष्ठा महोत्सव का नेतृत्व किया था उसमें शान्तिनाथ स्वामी की एक विशाल एवं मनोज्ञ मूर्ति की प्रतिष्ठा की गयी थी। चार फ़ीट ऊँची एवं साढ़े तीन फ़ीट चौड़ी श्वेत पाषाण की इतनी मनोज्ञ मूर्ति इने-गिने स्थानों में ही मिलती है। इसी समय के एक लेख में धर्मचन्द्र ने प्रभाचन्द्र का निम्न शब्दों में स्मरण किया है—

तत्पट्टस्थ-श्रुताधारी प्रभाचन्द्रः श्रियांनिधिः।
दीक्षितो यो लसत्कीर्तिः प्रचण्डः पण्डिताग्रणी ॥

प्रभाचन्द्र ने राजस्थान में साहित्य तथा पुरातत्त्व के प्रति जो जन-साधारण में आकर्षण पैदा किया था वह इतिहास में सदा चिरस्मरणीय रहेगा। ऐसे सन्त को शतशः प्रणाम।

आचार्य सोमकीर्ति

[संवत् १५२६ से १५४० तक]

आचार्य सोमकीर्ति १६वीं शताब्दी के उद्भट विद्वान्, प्रमुख साहित्य-सेवी, प्रतिष्ठाचार्य एवं उत्कृष्ट जैन सन्त थे। वे योगी थे। आत्मसाधना में तत्पर रहते और अपने शिष्यों, साथियों तथा अनुयायियों को उसपर चलने का उपदेश देते। वे स्वाध्याय करते, साहित्य सृजन करते एवं लोगों को उसकी महत्ता बतलाते। यद्यपि अभी तक उनका अधिक साहित्य नहीं मिल सका है लेकिन जितना भी उपलब्ध हुआ है उसपर उनकी विद्वत्ता की गहरी छाप है। वे संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, राजस्थानी एवं गुजराती आदि कितनी ही भाषाओं के ज्ञाता थे। पहले उन्होंने जन साधारण के लिए हिन्दी राजस्थानी में लिखा और अपनी विद्वत्ता की अमिट छाप छोड़ने के लिए कुछ रचनाएँ संस्कृत में भी निबद्ध कीं। उनका प्रमुख क्षेत्र राजस्थान एवं गुजरात रहा और इन प्रदेशों में जीवन-भर विहार करके जन-साधारण के जीवन को ज्ञान एवं आत्म-साधना की दृष्टि से ऊँचा उठाने का प्रयास करते रहे। उन्होंने कितने ही मन्दिरों की प्रतिष्ठाएँ करवायीं, सांस्कृतिक समारोहों का आयोजन करवाया और इन सबके द्वारा सभी को सत्य मार्ग का अनुसरण करने के लिए प्रेरित किया। वास्तव में वे अपने समय के भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं शिक्षा के महान् प्रचारक थे।

आचार्य सोमकीर्ति काष्ठा संघ के नन्दीतट शाखा के सन्त थे तथा १०वीं शताब्दी के प्रसिद्ध भट्टारक रामसेन की परम्परा में होनेवाले भट्टारक थे। उनके दादा गुरु लक्ष्मीसेन एवं गुरु भीमसेन थे। संवत् १५१८ (सन् १४६१) में रचित एक ऐतिहासिक पट्टावली में अपने आपको काष्ठा संघ का ८७वाँ भट्टारक लिखा है। इनके गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध में हमें अबतक कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है। वे कहाँ के थे, कौन उनके माता-पिता थे, वे कब तक गृहस्थ रहे और कितने समय पश्चात् इन्होंने साधु जीवन को अपनाया इसकी जानकारी अभी खोज का विषय है। लेकिन इतना अवश्य है कि ये संवत् १५१८ में भट्टारक बन चुके थे और इसी वर्ष इन्होंने अपने पूर्वजों का नाम लिपिबद्ध किया था[१]। श्री विद्याधर जोहरापुरकर ने

---

१. श्री भीमसेन पट्टाधरण गछ सरोमणि कुल तिलौ।
गर्भति सुजाणहु जाण नर श्री सोमकीर्ति मुनिवर भलौ।
पनरहसि अठार मास आषाढ़ह जाणु।
अक्कवार पचमी बहुल पस्यह बखाणु॥

अपने भट्टारक सम्प्रदाय में इनका समय संवत् १५२६ से १५४० तक का भट्टारक काल दिया है। वह इस पट्टावली से मेल नहीं खाता। सम्भवतः उन्होंने यह समय इनकी संस्कृत रचना सप्तव्यसनकथा के आधार पर दे दिया मालूम देता है क्योंकि कवि ने इस रचना को संवत् १५२६ में समाप्त किया था। इनकी तीन संस्कृत रचनाओं में से यह प्रथम रचना है।

सोमकीर्ति यद्यपि भट्टारक थे लेकिन अपने नाम के पूर्व आचार्य लिखना अधिक पसन्द करते थे। ये प्रतिष्ठाचार्य का कार्य भी करते थे और उनके द्वारा सम्पन्न प्रतिष्ठाओं का उल्लेख निम्न प्रकार मिलता है—

१. संवत् १५२७ वैशाख सुदी ५ को इन्होंने वीरसेन के साथ नरसिंह एवं उसकी भार्या सापडिया के द्वारा आदिनाथ स्वामी की मूर्ति की स्थापना करवायी थी।[१]

२. संवत् १५३२ में वीरसेन सूरि के साथ शीतलनाथ की मूर्ति स्थापित की गयी थी।[२]

३. संवत् १५३६ में अपने शिष्य वीरसेन सूरि के साथ हूँबड जातीय श्रावक भूपा भार्या राज के अनुरोध से चौबीसी की मूर्ति की प्रतिष्ठा करवायी।[३]

४. संवत् १५४० में भी इन्होंने एक मूर्ति की प्रतिष्ठा करवायी।[४]

ये मन्त्र शास्त्र के भी ज्ञाता एवं अच्छे साधक थे। कहा जाता है कि एक बार इन्होंने सुल्तान फिरोजशाह के राज्यकाल में पावागढ़ में पद्मावती की कृपा से आकाश-गमन का चमत्कार दिखलाया।[५] अपने समय के मुगल सम्राट् से भी इनका अच्छा सम्बन्ध था। ब्र. श्री कृष्णदास ने अपने मुनिसुव्रत पुराण (र. का. सं. १६८१) में सोमकीर्ति के स्तवन में इनके आगे 'यवनपतिकराम्भोजसंपूजितांह्रि' विशेषण जोड़ा है।[६]

पुव्वा भदद्द नक्षत्र श्री सोमकोत्ति पुरवरि।
सन्यासी वर पाठ तणु प्रबन्ध जिणी परि॥
जिनवर सुपास भविन कीउ, श्री सोमकीर्ति बहु भाव धरि।
जिनवंत उरवि तलि विस्तरु' श्री शान्तिनाथ सुपसाऊ करि॥

१. संवद् १५२७ वर्षे वैशाख वदी ५ गुरौ श्री काष्ठासंघे नंदतट गच्छे विद्यागणे भट्टारक श्री सोमकीर्ति आचार्य श्री वीरसेन युगवे प्रतिष्ठापिता। नरसिंह राज्ञा भार्या सांपडिया गौत्रे…लाखा भार्या नाकू देल्हा भार्या माद् पुत्र बना सा. कान्हा देल्हा केन श्री आदिनाथ बिम्ब कारापिता।
—सिरमोरियों का मन्दिर, जयपुर

२. भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ संख्या २६३।

३. संवद् १५३६ वर्षे वैशाख सुदी १० बुधे श्री काष्ठासंघे बागडगच्छे नन्दी तट गच्छे विद्यागणे भट्टारक श्री भीमसेन तद् पट्टे भट्टारक श्री सोमकीर्ति शिष्य आचार्य श्री वीरसेनयुक्तै प्रतिष्ठितं हुंबड जातीय बध गोत्रे गांधी भूपा भार्या राज सुत गांधी मना भार्या काऊ रुडा भार्या लाडिकी संघवी मना केन श्री आदिनाथ चतुर्विंशतिका प्रतिष्ठापिता।
—मन्दिर लूणकरणजी पाण्ड्या, जयपुर

४. भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ संख्या २६३।

५. भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ संख्या २६३।

६. प्रशस्ति संग्रह, पृष्ठ संख्या ४७।

शिष्यगण

सोमकीर्ति के वैसे तो कितने ही शिष्य थे जो इनके संघ में रहकर धर्म साधन किया करते थे। लेकिन इन शिष्यों में यशःकीर्ति, वीरसेन, यशोधर आदि का नाम मुख्यतः गिनाया जा सकता है। इनकी मृत्यु के पश्चात् यशःकीर्ति ही भट्टारक बने। ये स्वयं भी विद्वान् थे। इसी तरह आचार्य सोमकीर्ति के दूसरे शिष्य यशोधर की भी हिन्दी की कितनी ही रचनाएं मिलती हैं। इनकी वाणी में जादू था इसलिए ये जहाँ भी जाते वहीं प्रशंसकों की पंक्ति खड़ी हो जाती थी। संघ में मुनि, आर्यिका, ब्रह्मचारी एवं पण्डितगण थे जिन्हें धर्म-प्रचार एवं आत्म-साधना की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

विहार

इन्होंने अपने विहार से किन-किन नगरों, गाँवों एवं देशों को पवित्र किया इसके कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलते हैं लेकिन इनकी कुछ रचनाओं में जो रचना-स्थान दिया हुआ है उसी के आधार पर इनके विहार का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। संवत् १५१८ में सोजत नगर में थे और वहाँ इन्होंने सम्भवतः अपनी प्रथम ऐतिहासिक रचना 'गुर्वावलि' को समाप्त किया था। संवत् १५३६ में गोढिलीनगर में विराज रहे थे यहीं इन्होंने यशोधर चरित्र (संस्कृत) को समाप्त किया था तथा फिर यशोधर चरित (हिन्दी) को भी इसी नगर में निबद्ध किया था।

साहित्य सेवा

सोमकीर्ति अपने समय के प्रमुख साहित्यसेवी थे। संस्कृत एवं हिन्दी दोनों में ही इनकी रचनाएं उपलब्ध होती हैं। राजस्थान के विभिन्न शास्त्र भण्डारों में इनकी अबतक निम्न रचनाएं प्राप्त हो चुकी हैं— १. सप्तव्यसन कथा, २. प्रद्युम्न चरित्र, ३. यशोधर चरित्र ।

राजस्थानी रचनाएँ

१. गुर्वावली, २. यशोधर रास, ३. ऋषभनाथ की धूलि, ४. मल्लिगीत, ५. आदिनाथ विनती, ६. त्रेपनक्रिया गीत

सप्तव्यसन कथा

यह कथा साहित्य का अच्छा ग्रन्थ है जिसमें सात व्यसनों[1] के आधार पर सात कथाएँ दी हुई हैं। ग्रन्थ के भी सात ही सर्ग हैं। आचार्य सोमकीर्ति ने इसे संवत् १५२६

---

१. जैनाचार्यों ने जुआ खेलना, चोरी करना, शिकार खेलना, वेश्या सेवन, परस्त्री सेवन तथा मद्य एवं मांस सेवन करने को सप्त व्यसनों में गिनाया है।

में माघ सुदी प्रतिपदा को समाप्त किया।[1]

(२) प्रद्युम्नचरित्र

यह इनका दूसरा प्रबन्ध काव्य है जिसमें श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का जीवन चरित्र अंकित है। प्रद्युम्न का जीवन जैनाचार्यों को अत्यधिक आकर्षित करता रहा है। अबतक विभिन्न भाषाओं में लिखी हुई प्रद्युम्न के जीवन पर २५ से भी अधिक रचनाएँ मिलती हैं। प्रद्युम्न चरित सुन्दर काव्य है जो १६ सर्गों में विभक्त है। इसका रचना काल सं. १५३१ पौष सुदी १३ बुधवार है।[2]

(३) यशोधर चरित्र

कवि 'यशोधर' के जीवन से सम्भवतः बहुत प्रभावित थे इसलिए इन्होंने संस्कृत एवं हिन्दी दोनों में ही यशोधर चरित गाया है। यशोधर चरित्र आठ सर्गों का काव्य है। कवि ने इसे संवत् १५३६ में गोढिली (मारवाड़) नगर में निबद्ध किया था।[3]

राजस्थानी रचनाएँ

(१) गुर्वावलि

यह एक ऐतिहासिक रचना है जिसमें कवि ने अपने संघ के पूर्वाचार्यों का संक्षिप्त वर्णन दिया है। यह गुर्वावलि संस्कृत एवं हिन्दी दोनों भाषाओं में लिखी हुई है। हिन्दी में गद्य-पद्य दोनों का ही उपयोग किया गया है। भाषा वैचित्र्य की दृष्टि से रचना का अत्यधिक महत्त्व है। सोमकीर्ति ने इसे संवत् १५१८ में समाप्त किया था इसलिए उस समय की प्रचलित हिन्दी गद्य की इस रचना से स्पष्ट झलक मिलती है। यह कृति हिन्दी गद्य साहित्य के इतिहास की विलुप्त कड़ी को जोड़नेवाली है।

इस पट्टावली में काष्ठासंघ का अच्छा इतिहास है। कृति का प्रारम्भ काष्ठासंघ के ४ गच्छों से होता है जो नन्दीतटगच्छ, माथुरगच्छ, बागडगच्छ एवं लाडबागड गच्छ

---

१. रस नयन-समेते बाणयुक्तेन चन्द्रे (१५२६)
गतवति सति नूनं विक्रमस्यैव काले।
प्रतिपदि धवलायां माघमासस्य सोमे
हरिभदिनमनोज्ञे निर्मितो ग्रन्थ एषः ॥७१॥

२. संवत्सरे सत्तिथिसंज्ञके वै वर्षेऽत्र त्रिंशैकयुते (१५३१) पवित्रे।
विनिर्मितं पौषसुदेश्च तस्यां त्रयोदशीये बुधवारयुक्ताः ॥१६८॥

३. नन्दीतटाख्यगच्छे वंशश्रीरामसेनदेवस्य।
जातो गुणार्णवैकश्च श्रीमान् श्रीभीमसेनेनति ॥६०॥
निर्मितं तस्य शिष्येण श्री यशोधरसंज्ञकं।
श्रीसोमकीर्तिमुनिना विशोधयाधीयतां बुधाः ॥६१॥
वर्षे षट्त्रिंशसंख्ये तिथिपरगणना युक्तसंवत्सरे (१५३६) वै।
पञ्चम्यां पौषकृष्णे दिनकरदिवसे चोत्तरास्थे हि चंद्रे।
गौढिल्याः मेदपाटे जिनवरभवने शीतलेन्द्ररम्ये।
सोमादिकीर्तिनेदं नृपवनचरितं निर्मितं शुद्धभक्त्या॥

के नाम से प्रसिद्ध थे। पट्टावली में आचार्य अर्हद्बलि को नन्दीतट गच्छ का प्रथम आचार्य लिखा है। इसके पश्चात् अन्य आचार्यों का संक्षिप्त इतिहास देते हुए ८७ आचार्यों का नामोल्लेख किया है। ८७वें भट्टारक आचार्य सोमकीर्ति थे। इस गच्छ के आचार्य रामसेन ने नरसिंहपुरा जाति की तथा नेमिसेन ने भट्टपुरा जाति की स्थापना की थी। नेमिसेन पर पद्मावती एवं सरस्वती दोनों की कृपा थी और उन्हें आकाश-गामिनी विद्या सिद्ध थी।

(२) यशोधर रास

यह कवि की दूसरी बड़ी रचना है जो इस प्रकार से प्रबन्ध काव्य है। इस रचना के सम्बन्ध में अभी तक किसी विद्वान् ने उल्लेख नहीं किया है। इसलिए यशोधर रास कवि की अलभ्य कृतियों में से दूसरी रचना है। सोमकीर्ति ने संस्कृत में भी यशोधर चरित्र की रचना की थी जिसे उन्होंने संवत् १५३६ में पूर्ण किया था। 'यशोधर रास' सम्भवतः इसके बाद की रचना है जो इन्होंने अपने हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती भाषा-भाषी पाठकों के लिए निबद्ध की थी।

'आचार्य सोमकीर्ति' ने 'यशोधर रास' को गुढलीनगर के शीतलनाथ स्वामी के मन्दिर में कार्तिक सुदी प्रतिपदा को समाप्त किया था।[1]

'यशोधर रास' एक प्रबन्ध काव्य है, जिसमें राजा यशोधर के जीवन का मुख्यतः वर्णन है। सारा काव्य दश ढालों में विभक्त है। ये ढालें एक प्रकार से सर्ग का काम देती हैं। कवि ने यशोधर की जीवनकथा सीधी प्रारम्भ न करके साधु युगल से कहलायी है, जिसे सुनकर राजा मारिदत्त स्वयं भी हिंसक जीवन को छोड़कर जैन साधु की दीक्षा धारण कर लेता है एवं चण्डमारि देवी का प्रमुख उपासक भी हिंसावृत्ति को छोड़कर अहिंसक जीवन व्यतीत करता है। 'रास' की समूची कथा अहिंसा को प्रतिपादित करने के लिए कही गयी है, किन्तु इसके अतिरिक्त रास में अन्य वर्णन भी अच्छे मिलते हैं।

(३) आदिनाथ विनती

यह एक लघु स्तवन है जिसमें 'आदिनाथ' का यशोधर गान गाया गया है। यह स्तवन नैणवा के शास्त्र भण्डार के एक गुटके में संग्रहीत है।

(४) त्रैपनक्रियागीत

श्रावकों के पालने योग्य त्रैपन क्रियाओं की इस गीत में विशेषता वर्णित की गयी है।

---

१. सोचीम एहज रास करीम साधुवली थापिसुए।
कातीए ऊजलि पाखि पडिवा बुधवारि कीजए।
सीतल ए नाथि प्रासादि गुढली नयर सोहामणुए।
रिधि वृद्धि ए श्रीपास पासाउ हो जो नौति श्रीसंघह घरिय
श्री गुरुए चरण पसाउ श्री सोमकीरति सुरी भण्यए।

(५) ऋषभनाथ की धूलि

इसमें ४ ढाल हैं, जिनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के संक्षिप्त जीवनकथा पर प्रकाश डाला गया है। भाषा पूरे रूप में जनभाषा है।

'सोमकीर्ति' ने संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य के माध्यम से जगत् को अहिंसा का सन्देश दिया। यही कारण है कि इन्होंने यशोधर के जीवन को दोनों भाषाओं में निबद्ध किया। भक्तिकाव्य के लेखन में इनकी विशेष रुचि थी। इसीलिए इन्होंने 'ऋषभनाथ की धूलि' एवं 'आदिनाथ विनती' की रचना की थी। इनके अभी और भी पद मिलने चाहिए। सोमकीर्ति की इतिहास कृतियों में भी रुचि थी। गुर्वावलि इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यह रचना जैनाचार्यों एवं भट्टारकों की विलुप्त कड़ी को जोड़नेवाली है।

कवि ने अपनी कृतियों में 'राजस्थानी भाषा' का प्रयोग किया है। ब्रह्म जिनदास के समान उसकी रचनाओं में गुजराती भाषा के शब्दों का इतना अधिक प्रयोग नहीं हो सका है। यही नहीं, इनकी भाषा में सरसता एवं लचकीलापन है। छन्दों की दृष्टि से भी वह राजस्थानी से अधिक निकट है।

कवि की दृष्टि से वही राज्य एवं उसके ग्राम, नगर श्रेष्ठ माने जाने चाहिए, जिनमें जीववध नहीं होता है, सत्याचरण किया जाता हो तथा नारी समाज का जहाँ अत्यधिक सम्मान हो। यही नहीं, जहाँ के लोग अपने परिग्रह संचय की सीमा भी प्रतिदिन निर्धारित करते हों। और जहाँ रात्रि को भोजन करना भी वर्जित हो।

वास्तव में इन सभी सिद्धान्तों को कवि ने अपने जीवन में उतारकर फिर उनका व्यवहार जनता द्वारा सम्पादित कराया जाना चाहिए था।

'सोमकीर्ति' ने अपने दोनों काव्यों में 'जैनदर्शन' के प्रमुख सिद्धान्त 'अहिंसा' एवं 'अनेकान्तवाद' का भी अच्छा प्रतिपादन किया है।

भट्टारक ज्ञानभूषण

[संवत् १५३० से १५५७ तक]

भट्टारक ज्ञानभूषण अपने समय के सर्वाधिक लोकप्रिय भट्टारक थे। उत्तरी भारत में और विशेषतः राजस्थान एवं गुजरात में उनका जबरदस्त प्रभाव था। मुस्लिम शासन होने पर भी वे बराबर पदयात्राएं करते तथा बड़े-बड़े समारोहों का आयोजन करके जैनधर्म एवं संस्कृति का प्रचार किया करते थे।[1] विद्वत्ता में उनकी बराबरी करनेवाले उस समय बहुत कम साधु थे। विद्वत्ता के अतिरिक्त उनकी भाषण शैली अत्यधिक पटु थी जो लोगों को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थी। २५-३० वर्ष तक देश में भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का जिस धुआँधार रीति से प्रचार किया उससे समस्त जैन समाज गौरवान्वित हुआ था। उनके प्रशिष्य भट्टारक वीरचन्द्र ने उनके द्वारा देश-विदेश में जैनधर्म का प्रचार करना लिखा है। धर्म साहित्य एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार में इन्होंने जो योगदान दिया वह इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में अंकित रहेगा।

ज्ञानभूषण नाम के भी चार भट्टारक हुए हैं। इसमें सर्वप्रथम भट्टारक सकलकीर्ति की परम्परा में भट्टारक भुवनकीर्ति के शिष्य थे। दूसरे ज्ञानभूषण भट्टारक वीरचन्द्र के शिष्य थे जिनका सम्बन्ध सूरत शाखा के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की परम्परा में था। ये संवत् १६०० से १६१६ तक भट्टारक रहे। तीसरे ज्ञानभूषण का सम्बन्ध अटेर शाखा से रहा था और इनका समय १७वीं शताब्दी का माना जाता है और चौथे ज्ञानभूषण नागौर गादी के भट्टारक रत्नकीर्ति के शिष्य थे। इनका समय १८वीं शताब्दी का अन्तिम चरण था।

प्रस्तुत भट्टारक ज्ञानभूषण पहले भट्टारक विमलेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे और बाद में इन्होंने भट्टारक भुवनकीर्ति को भी अपना गुरु स्वीकार कर लिया। ज्ञानभूषण एवं ज्ञानकीर्ति ये दोनों ही सगे भाई एवं गुरु भाई थे और वे पूर्वी गोलालारे जाति के श्रावक थे। लेकिन संवत् १५३५ में सागवाड़ा एवं नोगाम में एक साथ दो प्रतिष्ठाएँ प्रारम्भ हुई। सागवाड़ा में होनेवाली प्रतिष्ठा के संचालक भट्टारक ज्ञानभूषण और नोगाम की प्रतिष्ठा महोत्सव का संचालन ज्ञानकीर्ति ने किया। यहीं से भट्टारक ज्ञानभूषण बृहद्

---

१ तस परि जिती उपमा को ज्ञानभूषण मुनिराय।
देश-विदेशि विहार करि भव्य लगाया पार॥

—नेमिकुमार रास-भट्टारक वीरचन्द्र

शाखा के भट्टारक माने जाने लगे और भट्टारक ज्ञानकीर्ति लघु शाखा के गुरु कहलाने लगे।[1]

एक नन्दिसंघ की पट्टावली से ज्ञात होता है कि ये गुजरात के रहनेवाले थे। गुजरात में ही उन्होंने सागार धर्म धारण किया, अहीर (आभीर) देश में ग्यारह प्रतिमाएँ धारण कीं और बार-बार या बागड़ देश में दुर्धर महाव्रत ग्रहण किये। तलव देश के यतियों में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। तैलव देश के उत्तम पुरुषों ने उनके चरणों की वन्दना की, द्रविड़ देश के विद्वानों ने उनका स्तवन किया, महाराष्ट्र में उन्हें बहुत यश मिला, सौराष्ट्र के धनी श्रावकों ने उनके लिए महामहोत्सव किया। रायदेश (ईडर के आसपास का प्रान्त) के निवासियों ने उनके वचनों को अतिशय प्रमाण माना, मेरुपाट (मेवाड़) के मूर्ख लोगों को उन्होंने प्रतिबोधित किया, मालवा के भव्य जनों के हृदय-कमल को विकसित किया, मेवात में उनके अध्यात्म रहस्यपूर्ण व्याख्यान से विविध विद्वान् श्रावक प्रसन्न हुए। कुरुजांगल के लोगों का अज्ञान रोग दूर किया, बैराठ (जयपुर के आसपास) के लोगों को उभय मार्ग (सागार अनगार) दिखलाये, नमियाड़ (नीमाड) में जैन धर्म की प्रभावना की। भैरव राजा ने उनकी भक्ति की, इन्द्रराज ने चरण पूजे, राजाधिराज देवराज ने चरणों की आराधना की। जिन धर्म के आराधक मुदलियार, रामनाथराय, बोम्मरसराय, कलपराय, पाण्डुराय आदि राजाओं ने पूजा की और उन्होंने अनेक तीर्थों की यात्रा की। व्याकरण-छन्द-अलंकार-साहित्य-तर्क-आगम-अध्यात्म आदि शास्त्ररूपी कमलों पर विहार करने के लिए वे राजहंस थे और शुद्ध ध्यानामृत-पान की उन्हें लालसा थी।[2] उक्त विवरण कुछ अतिशयोक्ति-पूर्ण भी हो सकता है लेकिन इतना तो अवश्य है कि ज्ञानभूषण अपने समय के प्रसिद्ध सन्त थे और उन्होंने अपने त्याग एवं विद्वत्ता से सभी को मुग्ध कर रखा था।

ज्ञानभूषण भट्टारक भुवनकीर्ति के पश्चात् सागवाड़ा में भट्टारक गादी पर बैठे। अबतक सबसे प्राचीन उल्लेख [संवत् १५३१ वैशाख सुदी २ का मिलता है जब कि इन्होंने डूंगरपुर में आयोजित प्रतिष्ठा महोत्सव का संचालन किया था। उस समय डूंगरपुर पर रावल सोमदास एवं रानी गुराई का शासन था।[3] श्री जोहरापुरकर ने ज्ञानभूषण का भट्टारक काल संवत् १५३४ से माना है।[4] लेकिन यह काल किस आधार पर निर्धारित किया है इसका कोई उल्लेख नहीं किया। श्री नाथूराम प्रेमी ने भी 'जैन साहित्य और इतिहास में' इनके काल के सम्बन्ध से कोई निश्चित मत नहीं लिखा। केवल इतना ही लिखकर छोड़ दिया कि विक्रम संवत् १५३४-३५ और १५३६ के

१. देखिए, भट्टारक पट्टावलि—शास्त्र भण्डार, भ, यशःकीर्ति, दि, जैन सरस्वती भवन, ऋषभदेव (राज)।
२. देखिए, नाथूरामजी प्रेमी कृत जैन साहित्य और इतिहास, पृ. सं. ३८१-८२।
३. संवत् १५३१ वर्षे वैशाख वदि ५ बुधे श्री मूलसंघे भ, श्री सकलकीर्तिस्तत्पट्टे भ, भुवनकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ, श्री ज्ञानभूषणदेवस्तदुपदेशात् मेघा भार्या टीगू प्रणमंति श्री गिरिपुरे रावल श्री सोमदास राजी गुराई सुराज्ये।
४. देखिए, भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ संख्या १५८।

तीन प्रतिमा लेख और भी हैं जिनसे मालूम होता है कि उक्त संवतों में ज्ञानभूषण भट्टारक पद पर थे। डॉ. प्रेमसागर ने अपनी 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि'[1] में इनका भट्टारक काल संवत् १५३२-५७ तक समय स्वीकार किया है। लेकिन डूंगरपुरवाले लेख से यह स्पष्ट है कि ज्ञानभूषण संवत् १५३१ अथवा इससे पहले भट्टारक गादी पर बैठ गये थे। इस पद पर वे संवत् १५५७-५८ तक रहे। संवत् १५६० में उन्होंने तत्त्वज्ञान तरंगिणी की रचना समाप्त की थी। इसकी पुष्पिका में इन्होंने अपने नाम के पूर्व 'मुमुक्षु' शब्द जोड़ा है जो अन्य रचनाओं में नहीं मिलता। इससे ज्ञात होता है कि इसी वर्ष अथवा इससे पूर्व ही इन्होंने भट्टारक पद छोड़ दिया था।

संवत् १५५७ तक ये निश्चित रूप से भट्टारक रहे। इसके पश्चात् इन्होंने अपने शिष्य विजयकीर्ति को भट्टारक पद देकर स्वयं साहित्य साधक एवं मुमुक्षु बन गये। वास्तव में यह उनके जीवन का उत्कृष्ट त्याग था क्योंकि उस युग में भट्टारकों की प्रतिष्ठा, मान-सम्मान बड़े ही उच्चस्तर पर थी। भट्टारकों के कितने ही शिष्य एवं शिष्याएँ होती थीं। श्रावक लोग उनके विहार के समय पलक पावड़े बिछाये रहते थे तथा सरकार की ओर से भी उन्हें उचित सम्मान मिलता था। ऐसे उच्च पद को छोड़कर केवल आत्मचिन्तन एवं साहित्य साधना में लग जाना ज्ञानभूषण-जैसे सन्त से ही हो सकता था।

ज्ञानभूषण प्रतिभापूर्ण साधक थे। उन्होंने, आत्मसाधना के अतिरिक्त ज्ञानाराधना, साहित्य साधना, सांस्कृतिक उत्थान एवं नैतिक धर्म के प्रचार में अपना सम्पूर्ण जीवन खपा दिया। पहले उन्होंने स्वयं अध्ययन किया और शास्त्रों के गम्भीर अर्थ को समझा। तत्त्वज्ञान की गहराइयों तक पहुँचने के लिए व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त के बड़े-बड़े ग्रन्थों का स्वाध्याय किया और फिर साहित्य-सृजन प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम उन्होंने स्तवन एवं पूजाष्टक लिखे फिर प्राकृत ग्रन्थों की टीकाएँ लिखीं। रास एवं फागु साहित्य की रचना कर साहित्य को नवीन मोड़ दिया और अन्त में अपने सम्पूर्ण ज्ञान का निचोड़ तत्त्वज्ञान तरंगिणी में डाल दिया।

साहित्य-सृजन के अतिरिक्त सैकड़ों ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करवाकर साहित्य के भण्डारों को भरा तथा अपने शिष्य-प्रशिष्यों को उनके अध्ययन के लिए प्रोत्साहित किया तथा समाज को विजयकीर्ति एवं शुभचन्द्र-जैसे मेधावी विद्वान् दिये। बौद्धिक एवं मानसिक उत्थान के अतिरिक्त इन्होंने सांस्कृतिक पुनर्जागरण में भी पूर्ण योग दिया। आज भी राजस्थान एवं गुजरात प्रदेश के सैकड़ों स्थानों के मन्दिरों में उनके द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ विराजमान हैं। सह-अस्तित्व की नीति को स्वयं में एवं जन-मानस में उतारने में उन्होंने अपूर्व सफलता प्राप्त की थी और सारे भारत को अपने विहार से पवित्र किया। देशवासियों को उन्होंने अपने उपदेशामृत का पान कराया एवं उन्हें बुराइयों से

१. देखिए, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. संख्या ७१।

बचने के लिए प्रेरणा दी। ज्ञानभूषण का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था। श्रावकों एवं जनता को वश में कर लेना उनके लिए अत्यधिक सरल था। जब वे पदयात्रा पर निकलते तो मार्ग के दोनों ओर जनता क़तार बांधे खड़ी रहती और उनके श्रीमुख से एक-दो शब्द सुनने को लालायित रहती। ज्ञानभूषण ने श्रावक धर्म का नैतिक धर्म के नाम से उपदेश दिया। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह के नाम पर एक नया सन्देश दिया। इन्हें जीवन में उतारने के लिए वे गाँव-गाँव जाकर उपदेश देते और इस प्रकार वे उस समय लोगों की श्रद्धा एवं भक्ति के प्रमुख सन्त माने जाने लगे।

प्रतिष्ठाकार्य संचालन

भारतीय एवं विशेषतः जैन संस्कृति एवं धर्म की सुरक्षा के लिए उन्होंने प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार, नवीन मन्दिर निर्माण, पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएँ, सांस्कृतिक समारोह, उत्सव एवं मेलों आदि के आयोजनों को प्रोत्साहित किया। ऐसे आयोजनों में वे स्वयं तो भाग लेते ही थे अपने शिष्यों को भी भेजते एवं अपने भक्तों से भी उनमें भाग लेने के लिए उपदेश देते।

भट्टारक बनते ही इन्होंने सर्वप्रथम संवत् १५३१ में डूंगरपुर में २३"×१८" अवगाहनावाले सहस्रकूट चैत्यालय की प्रतिष्ठा का संचालन किया, इनमें से ६ चैत्यालय तो डूंगरपुर से ऊँडा मन्दिर में ही विराजमान हैं। इस समय डूंगरपुर पर रावल सोमदास का राज्य था। इन्हीं के द्वारा संवत् १५३४ फाल्गुन सुदी १० में आयोजित प्रतिष्ठा महोत्सव के समय की प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ कितने ही स्थानों पर मिलती हैं।[1]

संवत् १५३५ में इन्होंने दो प्रतिष्ठाओं में भाग लिया जिसमें एक लेख जयपुर[2] के छाबड़ों के मन्दिर में तथा दूसरा लेख उदयपुर[3] के मन्दिर में मिलता है। संवत् १५४० में हुंबड जातीय श्रावक लाखा एवं उसके परिवार ने इन्हीं के उपदेश से आदिनाथ स्वामी की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवायी थी।[4] इसके एक वर्ष पश्चात् ही नागदा जाति के श्रावक-श्राविकाओं ने एक नवीन प्रतिष्ठा का आयोजन किया जिसमें भट्टारक

---

१. संवत् १५३४ वर्षे फाल्गुण सुदी १० गुरौ श्री मूलसंघे भ. सकलकीर्ति तत्पट्टे भ. श्री भुवनकीर्तिस्त, भ. ज्ञानभूषणगुरूपदेशात् हूंबड ज्ञातीय साह वाछो भार्या झिमाई सुत सा. हंगा भगिनी वीरदास भगनी प्रनाडी मात्रेय सान्ता एते नित्यं प्रणमंति।

२. संवत् १५३५ वर्षे माघ सुदी ६ गुरौ श्री मूलसंघे भट्टारक श्रीभुवनकीर्ति त. भ. श्री ज्ञानभूषण गुरूपदेशात्......गोत्रे सा. माला भ. बापु पुत्र संघपति सं. गोइन्द भार्या राजलदे भ्रातृ सं. भोजा भ. सोलन सुत जीवा जोगा जिनदास सांका सुरताण एतैः अष्टप्रातिहार्यचतुर्विंशतिका प्रणमंति।

३. संवत् १५३५ श्री मूलसंघे भ. श्री भुवनकीर्ति त. भ. श्री ज्ञानभूषण गुरूपदेशात् श्रेष्ठि हासा भार्या हासले सुत समधरा भार्या पामो सुत नाथा भार्या सारू भ्राता गोइआ भार्या पाँचू भ्राता महिराज भ्रा. जैसा रूपा प्रणमंति।

४. संवत् १५४० वर्षे वैशाख सुदी ११ गुरौ श्री मूलसंघे भ. श्री सकलकीर्ति तत्पट्टे भ. भुवनकीर्ति तत्पट्टे भ. ज्ञानभूषण गुरूपदेशात् हूंबड ज्ञातीय सा. लाखा भार्या माणकदे सुत हीरा भार्या हरषू भ्रा. साला रामति तत् पुत्र द्वौ. धन्ना, बन्ना राजा विरुवा साहा जैसा देणा आणंद वाका राहूया अभय कुमार एते श्री आदिनाथ प्रणमंति।

ज्ञानभूषण प्रमुख अतिथि थे। इस समय की प्रतिष्ठापित चन्द्रप्रभ स्वामी की एक प्रतिमा डूंगरपुर के एक प्राचीन मन्दिर में विराजमान है।[1] इसके पश्चात् तो प्रतिष्ठा महोत्सवों की धूम-सी मच गयी। संवत् १५४३, ४४ एवं संवत् १५४५ में विविध प्रतिष्ठा समारोह सम्पन्न हुए। १५५२ में डूंगरपुर में एक बृहद् आयोजन हुआ जिसमें विविध सांस्कृतिक कार्यक्रम सम्पन्न हुए। इसी समय की प्रतिष्ठापित नेमिनाथ की प्रतिमा डूंगरपुर के ऊंडे मन्दिर में विराजमान है।[2] यह सम्भवतः आपके कर-कमलों से सम्पादित होनेवाला अन्तिम समारोह था। इसके पश्चात् संवत् १५५७ तक इन्होंने कितने आयोजनों में भाग लिया इसका अभी कोई उल्लेख नहीं मिल सका है। संवत् १५६०[3] व १५६१[4] में सम्पन्न प्रतिष्ठाओं के अवश्य उल्लेख मिले हैं। लेकिन वे दोनों ही इनके पट्ट शिष्य भट्टारक विजयकीर्ति द्वारा सम्पन्न हुए थे। उक्त दोनों ही लेख डूंगरपुर के मन्दिर में उपलब्ध होते हैं।

साहित्य साधना

ज्ञानभूषण भट्टारक बनने से पूर्व और इस पद को छोड़ने के पश्चात् भी साहित्य-साधना में लगे रहे। वे जबरदस्त साहित्य-सेवी थे। प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, गुजराती एवं राजस्थानी भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। इन्होंने संस्कृत एवं हिन्दी में मौलिक कृतियाँ निबद्ध कीं और प्राकृत ग्रन्थों की संस्कृत टीकाएँ लिखीं। यद्यपि संख्या की दृष्टि से इनकी कृतियाँ अधिक नहीं हैं फिर भी जो कुछ हैं वे ही इनकी विद्वत्ता एवं पाण्डित्य को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त हैं। श्री नाथूरामजी प्रेमी ने इनके तत्त्वज्ञानतरंगिणी, सिद्धान्तसार भाष्य, परमार्थोपदेश, नेमिनिर्वाण की पंजिका टीका, पंचास्तिकाय, दशलक्षणोद्यापन, आदीश्वर फाग, भक्तामरोद्यापन, सरस्वती पूजा ग्रन्थों का उल्लेख किया है।[5] पण्डित परमानन्द जी ने उक्त रचनाओं के अतिरिक्त सरस्वती स्तवन, आत्म सम्बोधन आदि का और उल्लेख किया है।[6] इधर राजस्थान के जैन ग्रन्थ भण्डारों की

---

१. संवत् १५४१ वर्षे वैसाख सुदी ३ सोमे श्री मूलसंघे भ. ज्ञानभूषण गुरूपदेशात् नागदा ज्ञातीय पंडवाल गोत्रे सा. वाछा भार्या जसमी सुत देपाल भार्या पुरी सुत सिहिसा भार्या चनकू एते चन्द्रप्रभं नित्यं प्रणमंति।

२. संवत् १५५२ वर्षे ज्येष्ठ वदी ७ शुक्रे मूलसंघे सरस्वतीगच्छे ब. त्कारगणे भ. श्री सकलकीर्ति तत्पट्टे भट्टारक श्री भुवनकीर्ति तत्पट्टे भ. श्री ज्ञानभूषण गुरूपदेशात् हूंबड ज्ञातीय डूंगरक भार्या सामी सुत नाना भार्या हीरू सुत सोंगा भार्या पहुती नेमिनाथ एते: नित्यं प्रणमंति।

३. संवत् १५६० वर्षे श्री मूलसंघे भट्टारक श्री ज्ञानभूषण तत्पट्टे भ. श्री विजयकीर्ति गुरूपदेशात् बाई श्री ग्रोर्धन श्री बाई श्री विनय श्री बिमान पंक्तिव्रत उद्यापने श्री चन्द्रप्रभ......।

४. संवत् १५६१ वर्षे चैत्र वदी ८ शुक्रे श्री मूलसंघे सरस्वतीगच्छे भट्टारक श्री सकलकीर्ति तत्पट्टे भट्टारक श्री भुवनकीर्ति तत्पट्टे भट्टारक ज्ञानभूषण तत्पट्टे भ. विजयकीर्ति गुरूपदेशात् हूंबड ज्ञातीय श्रेष्ठि लखमण भार्या मरगदी सुत श्रे. समधर भार्या मचकू सुत श्रे. गंगा भार्या नव्हि सुत हरखा होरा भठा नित्यं श्री आदीश्वर प्रणमंति बाई मचकू पिता दोसी रामा भार्या पूरी पुत्री रंगी एते प्रणमंति।

५. देखिए, पं. नाथूरामजी प्रेमी कृत जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ३८२।

६. देखिए, पं. परमानन्दजी का 'जैन-ग्रन्थ प्रशस्ति-संग्रह'।

जब से लेखक ने खोज एवं छानबीन की है तब से उक्त रचनाओं के अतिरिक्त इनके और भी ग्रन्थों का पता लगा है। अबतक इनकी जितनी रचनाओं का पता लग पाया है उनके नाम निम्न प्रकार हैं—

संस्कृत ग्रन्थ

१. आत्मसम्बोधन काव्य, २. ऋषिमण्डल पूजा[१], ३. तत्त्वज्ञानतरंगिणी, ४. पूजाष्टक टीका, ५. पंचकल्याणकोद्यापन पूजा[२], ६. भक्तामर पूजा[३], ७. श्रुतपूजा[४], ८. सरस्वती पूजा[५], ९. सरस्वती स्तुति[६], १०. शास्त्र मण्डल पूजा[७], ११. दशलक्षण व्रतोद्यापन पूजा[८],

हिन्दी रचनाएँ

१२. आदीश्वर फाग, १३. जलगालण रास, १४. पोसह रास, १५. षट्कर्म रास, १६. नागद्रा रास, १७. पंचकल्याणक[९]।

१. तत्त्वज्ञानतरंगिणी

इसे ज्ञानभूषण की उत्कृष्ट रचना कही जा सकती है। इसमें शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति के उपाय बतलाये गये हैं। रचना अधिक बड़ी नहीं है किन्तु कवि ने उसे १८ अध्यायों में विभाजित किया है। इसकी रचना सं. १५६० में हुई थी जब वे भट्टारक पद छोड़ चुके थे और आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए मुमुक्षु बन चुके थे। रचना काव्यत्वपूर्ण एवं विद्वत्ता को लिये हुए है।

२. पूजाष्टक टीका

इसकी एक हस्तलिखित प्रति सम्भवनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर उदयपुर में संग्रहीत है। इसमें स्वयं ज्ञानभूषण द्वारा विरचित आठ पूजाओं की स्वोपज्ञ टीका है। कृति में १० अधिकार हैं और उसकी अन्तिम पुष्पिका निम्न प्रकार है—

इति भट्टारक श्री भुवनकीर्त्तिशिष्यमुनिज्ञानभूषणविरचितायां स्वकृताष्टकदशकटीकायां विद्वज्जनवल्लभासंज्ञायां नन्दीश्वरद्वीपजिनालयार्चनवर्णनीय नामा दशमोधिकारः ॥

---

१. राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची, भाग चतुर्थ, पृ. सं. ४६३।
२. वही, पृष्ठ ६५०।
३. वही, पृष्ठ ५२३।
४. वही, पृष्ठ ५३७।
५. वही, पृष्ठ ५१६।
६. वही, पृष्ठ ६५७।
७. वही, पृष्ठ ८३०।
८. वही, पृष्ठ ८३०।
९. वही, पृष्ठ ११८७।

यह पत्ता ग्रन्थ ज्ञानभूषण ने जब मुनि थे तब निबद्ध किया गया था। इसका रचना काल संवत् १५२८ एवं रचना स्थान डूंगरपुर का आदिनाथ चैत्यालय है।[1]

३. आदीश्वर फाग

'आदीश्वर फाग' इनकी हिन्दी रचनाओं में प्रसिद्ध रचना है। फागु संज्ञक काव्यों में इस कृति का विशिष्ट स्थान है। जैन कवियों ने काव्य के विभिन्न रूपों में संस्कृत एवं हिन्दी में साहित्य लिखा है। उससे उनके काव्य रसिकता की स्पष्ट झलक मिलती है। जैन कवि पक्के मनोवैज्ञानिक थे। पाठकों की रुचि का वे पूरा ध्यान रखते थे इसलिए कभी फागु, कभी रास, कभी वेलि एवं कभी चरित संज्ञक रचनाओं से पाठकों के ज्ञान की अभिवृद्धि करते रहते थे।

आदीश्वर फाग इनकी उत्कृष्ट रचना है, जो दो भाषा में निबद्ध है। इसमें भगवान् आदिनाथ के जीवन का संक्षिप्त वर्णन है जो पहले संस्कृत एवं फिर हिन्दी में वर्णित है। कृति में दोनों भाषाओं के ५०१ पद्य हैं जिनमें २६२ हिन्दी के तथा शेष २३९ पद्य संस्कृत के हैं। रचना की श्लोक संख्या ५९१ है।

रचनाकाल

यद्यपि 'ज्ञानभूषण' ने इस रचना का कोई समय नहीं दिया है, फिर भी यह संवत् १५६० पूर्व की रचना है—इसमें कोई सन्देह नहीं है। क्योंकि तत्त्वज्ञानतरंगिणी (संवत् १५६०) भट्टारक ज्ञानभूषण की अन्तिम रचना गिनी जाती है।[2]

४. उपलब्धि स्थान

'ज्ञानभूषण' की यह रचना लोकप्रिय रचना है। इसलिए राजस्थान के कितने ही शास्त्र-भण्डारों में इसकी प्रतियाँ मिलती हैं। आमेर शास्त्र भण्डार में इसकी एक प्रति सुरक्षित है।

५. पोषह रास

यह यद्यपि व्रत-विधान के माहात्म्य पर आधारित रास है, लेकिन भाषा एवं शैली की दृष्टि से इसमें रासक काव्य-जैसी सरसता एवं मधुरता आ गयी है। 'पोषह रास' के कर्ता के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। पं. परमानन्द जी एवं डॉ. प्रेमसागरजी

---

१. श्रीमद् विक्रमभूपराज्यसमयातीते वजह्वीन्द्रियश्रेणी-
सम्मितहायके गिरपुरे नाभेयचैत्यालये
अस्ति श्रीभुवनादिकीर्त्तिमुनयस्तस्यासि संसेविना,
स्वोक्ते ज्ञानविभूषणेन मुनिना टीका शुभेयं कृता ॥१॥

२. डॉ. प्रेमसागरजी ने इस कृति का जो संवद् १५५१ रचनाकाल बतलाया है वह सम्भवतः सही नहीं है। जिस पद्य को उन्होंने रचनाकालवाला पद्य माना है, वह तो उसकी श्लोक संख्यावाला पद्य है। हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि, पृ. सं. ७६.

के मतानुसार यह कृति भट्टारक वीरचन्द के शिष्य भट्टारक ज्ञानभूषण की होनी चाहिए, जब कि स्वयं कृति में इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता। कवि ने कृति के अन्त में अपने नाम का निम्न प्रकार उल्लेख किया है :

वारि रमणिय मुगतिज सम अनुप सुख अनुभवइ
भव म कारि पुनरपि न आवइ इह बू फलजस गमइ।
ते नर पोसह कान भावइ एणि परि पोसह धरइज नर नारि सुजाण।
ज्ञानभूषण गुरू इम भणइ, ते नर करइ वरवाण ॥१११॥

वैसे इस रास की 'भाषा' अपभ्रंश प्रभावित भाषा है, किन्तु उसमें लावण्य की भी कमी नहीं है।

संसार तणउ विनासु किम हुसइ राम चिंतवइ।
त्रोडयु मोहनुपास बलीयवती तेह नित चीइ ॥९८॥

इस रास की राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों में कितनी ही प्रतियाँ मिलती हैं।

६. षट्कर्म रास

यह कर्म-सिद्धान्त पर आधारित लघु रासक काव्य है जिसमें इस प्राणी को प्रतिदिन देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम, तप एवं दान—इन षट्कर्मों के पालन करने का सुन्दर उपदेश दिया गया है। इसमें ५३ छन्द हैं और अन्तिम छन्द में कवि ने अपने नाम का किस प्रकार परि-उल्लेख किया है, उसे देखिए—

सुणउ श्रावक सुणउ श्रावक एह षट्कर्म।
घरि रहइतां जे आचरइ, ते नर पर भवि स्वर्ग पामई।
नरपति पद पामी करीय, नर सघला नइ पाइ नामइ।
समकित धरतां जु धरइ, श्रावक ए आचार।
ज्ञानभूषण गुरु इम भणाइ, ते पामइ भवपार ॥

७. जलगालन रास

यह एक लघु रास है, जिसमें जल छानने की विधि का वर्णन किया गया है। इसकी शैली भी षट्कर्म रास एवं पोसह रास-जैसी है। इसमें ३३ पद्य हैं। कवि ने अपने नाम का अन्तिम पद्य में उल्लेख किया है।

गलउ पाणीय गलउ पाणीय ये तन मन रंगि,
हृदय सदय कोमल धरु धरम तणूं एह मूल जाणउ।
कुहू नीलू गन्ध करइ ते पाणी तुमि घरिम आणउ।
पाणीय आणीय यतन करी, जे गणसिइ नर-नारि।
श्री ज्ञानभूषण गुरु इम भणइ, ते तरसिइ संसारि ॥३३॥

'भट्टारक ज्ञानभूषण' की मृत्यु संवत् १५६० के बाद किसी समय हुई होगी। लेकिन निश्चित तिथि की अभी तक खोज नहीं हो सकी है।

ग्रन्थ-लेखन कार्य

उक्त रचनाओं के अतिरिक्त अक्षयनिधि पूजा आदि और भी कृतियाँ हैं।

रचनाएँ निबद्ध करने के अतिरिक्त ज्ञानभूषण ने ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करवाकर शास्त्र भण्डारों में संग्रहीत कराने में भी खूब रस लिया है। आज भी राजस्थान के शास्त्र भण्डारों में इनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा लिखित कितनी ही प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं जिनका कुछ उल्लेख निम्न प्रकार मिलता है—

१. संवत् १५४० आसोज बदी १२ शनिवार को ज्ञानभूषण के उपदेश से धनपाल कृत भविष्यदत्त चरित्र की प्रतिलिपि मुनि श्री रत्नकीर्ति को पठनार्थ भेंट दी गयी।[1]

२. संवत् १५४१ माह बदी ३ सोमवार डूंगरपुर में इनकी गुरु बहन शान्ति गोतम श्री के पठनार्थ आशाधर कृत धर्मामृत पंजिका की प्रतिलिपि की गयी।[2]

३. संवत् १५५३ में गिरिपुर (डूंगरपुर) के आदिनाथ चैत्यालय में सकलकीर्ति कृत प्रश्नोत्तर श्रावकाचार की प्रतिलिपि इनके उपदेश से हूंबड ज्ञातीय श्रेष्ठि ठाकुर ने लिखवाकर माघनन्दि मुनि को भेंट की।[3]

४. संवत् १५४९ आषाढ़ सुदी २ सोमवार को इनके उपदेश से वसुनन्दि पंचविंशति की प्रति ब्र. माणिक के पठनार्थ लिखी गयी।[4]

५. संवत् १५५५ में अपनी गुरु बहन के लिए ब्रह्म जिनदास कृत हरिवंश पुराण की प्रतिलिपि करायी गयी।[5]

६. संवत् १५५५ आषाढ़ बदी १४ कोटस्याल के चन्द्रप्रभ चैत्यालय में ज्ञानभूषण के शिष्य ब्रह्म नरसिंह के पढ़ने के लिए कातन्त्र रूपमाला वृत्ति की प्रतिलिपि करवाकर भेंट की गयी।[6]

७. संवत् १५५७ में इनके उपदेश से महेश्वर कृत शब्दभेदप्रकाश की प्रतिलिपि की गयी।[7]

८. संवत् १५५६ में ज्ञानभूषण के भाई आ. रत्नकीर्ति के शिष्य ब्र. रत्नसागर

---

१. प्रशस्ति संग्रह, पृष्ठ सं. १४६।

२. ग्रन्थ संख्या २६०, शास्त्र भण्डार ऋषभदेव।

३. ग्रन्थ संख्या २०४, सम्भवनाथ मन्दिर, उदयपुर।

४. भट्टारकीय शास्त्र भण्डार, अजमेर, ग्रन्थ संख्या १९२।

५. प्रशस्ति संग्रह, पृष्ठ ७३।

६. सम्भवनाथ मन्दिर शास्त्र भण्डार उदयपुर, ग्रन्थ संख्या २०६।

७. ग्रन्थ संख्या-११२, अग्रवाल मन्दिर, उदयपुर।

ने गन्धार मन्दिर के पार्श्वनाथ चैत्यालय में पुष्पदन्त कृत यशोधरचरित्र की प्रतिलिपि करवायी थी।[1]

९. संवत् १५५७ अषाढ़ वदी १४ के दिन ज्ञानभूषण के उपदेश से हूंबड जातीय श्री श्रेष्ठी जइता भार्यो पाँचू ने महेश्वर कवि द्वारा विरचित शब्दभेदप्रकाश की प्रतिलिपि करवायी।[2]

१०. संवत् १५५८ में ब्र. जिनदास द्वारा रचित हरिवंश पुराण की प्रति इन्हीं के प्रमुख शिष्य विजयकीर्ति को देउल ग्राम में भेंट दी गयी।[3]

ज्ञानभूषण के पश्चात् होनेवाले कितने ही विद्वानों ने इनका आदरपूर्वक स्मरण किया। भट्टारक शुभचन्द्र की दृष्टि में न्यायशास्त्र के पारंगत विद्वान् थे एवं उन्होंने अनेक शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त की थी। सकलभूषण ने इन्हें ज्ञान से विभूषित एवं पाण्डित्यपूर्ण बतलाया है तथा इन्हें सकलकीर्ति की परम्परा में होनेवाले भट्टारकों में सूर्य के समान कहा है।

ज्ञानभूषण की मृत्यु संवत् १५६० के बाद किसी समय हुई होगी ऐसा विद्वानों का अभिमत है।

१. प्रशस्ति संग्रह, पृ. ३८६।
२. ग्रन्थ संख्या २८, अग्रवाल मन्दिर, उदयपुर।
३. ग्रन्थ संख्या २४७, शास्त्र भण्डार, उदयपुर।

भट्टारक विजयकीर्ति

[संवत् १५५७ से १५७३ तक]

१५वीं शताब्दी में भट्टारक सकलकीर्ति ने गुजरात एवं राजस्थान में अपने त्यागमय एवं विद्वत्तापूर्ण जीवन से भट्टारक संस्था के प्रति जनता की गहरी आस्था प्राप्त करने में महान् सफलता प्राप्त की थी। उनके पश्चात् इनके दो सुयोग्य शिष्य एवं प्रशिष्य भट्टारक भुवनकीर्ति एवं भट्टारक ज्ञानभूषण ने उसकी नींव को और भी दृढ़ करने में अपना योग दिया। जनता ने इन साधुओं का हार्दिक स्वागत किया और उन्हें अपने मार्गदर्शन एवं धर्मगुरु के रूप में स्वीकार किया। समाज में होनेवाले प्रत्येक धार्मिक एवं सांस्कृतिक तथा साहित्यिक समारोहों में इनसे परामर्श लिया जाने लगा तथा यात्रा-संघों एवं बिम्ब-प्रतिष्ठाओं में इनका नेतृत्व स्वतः ही अनिवार्य मान लिया गया। इन भट्टारकों के विहार के अवसर पर धार्मिक जनता द्वारा इनका अपूर्व स्वागत किया जाता और उन्हें अधिक से अधिक सहयोग देकर उनके महत्त्व को जन-साधारण के सामने रखा जाता। ये भट्टारक भी जनता के अधिक से अधिक प्रिय बनने का प्रयास करते थे। ये अपने सम्पूर्ण जीवन को समाज एवं संस्कृति की सेवा में लगाते और अध्ययन, अध्यापन एवं प्रवचनों द्वारा देश में एक नया उत्साहप्रद वातावरण पैदा करते।

विजयकीर्ति ऐसे ही भट्टारक थे जिनके बारे में अभी बहुत कम लिखा गया है। ये भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य थे और उनके पश्चात् भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा प्रतिष्ठापित भट्टारक गादी पर बैठे थे। इनके समकालीन एवं बाद में होनेवाले कितने ही विद्वानों ने अपनी ग्रन्थ प्रशस्तियों में इनका आदर-भाव से स्मरण किया है। इनके प्रमुख शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र ने तो इनकी अत्यधिक प्रशंसा की है और इनके सम्बन्ध में कुछ स्वतन्त्र गीत भी लिखे हैं। विजयकीर्ति अपने समय के समर्थ भट्टारक थे। उनकी प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता काफ़ी अच्छी थी। यही बात है कि ज्ञानभूषण ने उन्हें अपना पट्टाधिकारी स्वीकृत किया और अपने ही समक्ष उन्हें भट्टारक पद देकर स्वयं साहित्य सेवा में लग गये।

विजयकीर्ति के प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में अभी कोई निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी है लेकिन भट्टारक शुभचन्द्र के विभिन्न गीतों के आधार पर ये शरीर से कामदेव के समान सुन्दर थे। इनके पिता का नाम साहु गंगा तथा माता का नाम कुंअरि था।

साहा गंगा तनयं करउ विनयं शुद्ध गुरुं
शुभ वंसह् जातं कुअरि मातं परमपरं
साक्षादि सुबुद्ध जो कीइ शुद्धं दलित तमं ।
सुरसेवत पायं मारीत मायं मथित मतं ॥१०॥

—शुभचन्द्र कृत गुरुछन्द गीत

बाल्यकाल में ये अधिक अध्ययन नहीं कर सके थे। लेकिन भट्टारक ज्ञानभूषण के सम्पर्क में आते ही इन्होंने सिद्धान्त ग्रन्थ का गहरा अध्ययन किया। गोमट्टसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार आदि सैद्धान्तिक ग्रन्थों के अतिरिक्त न्याय, काव्य, व्याकरण आदि के ग्रन्थों का भी अच्छा अध्ययन किया और समाज में अपनी विद्वत्ता की अद्भुत छाप जमा दी।

लब्धि सु गुमट्टसार सार त्रैलोक्य मनोहर।
कर्कश तर्क वितर्क काव्य कमलाकर दिणकर।
श्री मूलसंघि विख्यात नर विजयकीर्ति वांछित करण।
जा चाँदसूर ता लगी तपो जयह सूरि शुभचन्द्र सरण।

इन्होंने जब साधु जीवन में प्रवेश किया तो ये अपनी युवावस्था के उत्कर्ष पर थे। सुन्दर तो पहले से ही थे किन्तु यौवन ने उन्हें और भी निखार दिया था। इन्होंने साधु बनते ही अपने जीवन को पूर्णतः संयमित कर लिया और कामनाओं एवं षट्रस व्यंजनों से दूर हटकर ये साधु जीवन की कठोर साधना में लग गये। ये अपनी साधना में इतने तल्लीन हो गये कि देश-भर में इनके चरित्र की प्रशंसा होने लगी।

भट्टारक शुभचन्द्र ने इनकी सुन्दरता एवं संयम का एक रूपक गीत में बहुत ही सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। रूपक गीत का संक्षिप्त निम्न प्रकार है—

जब कामदेव को भट्टारक विजयकीर्ति की सुन्दरता एवं कामनाओं पर विजय का पता चला तो वह ईर्ष्या से जल भुन गया और क्रोधित होकर सन्त के संयम को डिगाने का निश्चय किया।

नाद एह वेरि वग्गि रंगि कोई नावीमो।
मूलसंघि पट्ट बंध विविह भावि भावीयो।
तसह भेरी ढोल नाद वाद तेह उपन्नपे।
भणि मार तेह नारि कवण आज नीपन्नो।

कामदेव ने तत्काल देवांगनाओं को बुलाया और विजयकीर्ति के संयम को भंग करने की आज्ञा दी। लेकिन जब देवांगनाओं ने विजयकीर्ति के बारे में सुना तो उन्हें अत्यधिक दुख हुआ और सन्त के पास जाने में कष्ट अनुभव करने लगीं। इस पर कामदेव ने उन्हें निम्न शब्दों से उत्साहित किया—

वयण सुनि नव कामिणी दुख धरिह महंत।
कही विमासण मन्नहवी नवि वारयो रहि कंत ॥१३॥

रे रे कामणि म करि तु दुखह
इन्द्र नरेन्द्र मगाव्या भिखह।
हरि हर बंभमि कीया रंकह।
लोय सव्व मम बंसाहुँ निसंकह ॥१४॥

इसके पश्चात् क्रोध, मान, मद एवं मिथ्यात्व की सेना खड़ी की गयी। चारों ओर वसन्त ऋतु-जैसा सुहावनी ऋतु कर दी गयी जिसमें कोयल कुहू-कुहू करने लगी और भ्रमर गुंजरने लगे। भेरी बजने लगी। इन सबने सन्त विजयकीर्ति के चारों ओर जो मायाजाल बिछाया उसका वर्णन कवि के शब्दों में पढ़िए—

बाल्लंत खेलंत चालंत धावंत घूणंत
धूजंत हाक्कंत पूरंत मोडंत
तुदंत भजंत खंजंत मुक्कंत मारंत रंगेण।
फाडंत जाणंत थालंत फेडंत खग्गेण।
जाणीय मार गमणं रमणं य तीसो।
वोल्यावइ निज बलं सकलं सुधीसो।
रायं गणंयत गयो बहु युद्धु कंती ॥१८॥

कामदेव की सेना आपस में मिल गयी। बाजे बजने लगे। कितने ही सैनिक नाचने लगे। धनुषबाण चलने लगे और भीषण नाद होने लगा। मिथ्यात्व तो देखते ही डर गया और कहने लगा कि इस सन्त ने तो मिथ्यात्वरूपी महान् विकार को पहले ही पी डाला है। इसके पश्चात् कुमति की बारी आयी लेकिन उसे भी कोई सफलता नहीं मिली। मोह की सेना भी शीघ्र ही भाग गयी। अन्त में स्वयं कामदेव ने कर्मरूपी सेना के साथ उसपर आक्रमण किया।

उधर विजयकीर्ति ध्यान में तल्लीन थे। उन्होंने शम, दम एवं यम के द्वारा कामदेव और उसके साथियों की एक भी नहीं चलने दी। जिससे मदनराज को उसी क्षण वहाँ से भागना पड़ा।

झूंटा झूंट करीय तिहाँ लग्यालमयणराय तिहाँ तत्क्षण भग्गा।
आगलि यो मयणाधिय नासई, ज्ञान खडक मुनि अंतिहि प्रकासइ ॥२७॥

इस प्रकार इस गीत में शुभचन्द्र ने विजयकीर्ति के चरित्र की निर्मलता, ध्यान की गहनता एवं ज्ञान की महत्ता पर अच्छा प्रकाश डाला है। इस गीत में उनके महान् व्यक्तित्व की झलक मिलती है।

विजयकीर्ति के महान् व्यक्तित्व की सभी परवर्ती कवियों एवं भट्टारकों ने प्रशंसा की है। ब्र. कामराज ने उन्हें सुप्रचारक के रूप में स्मरण किया है।[1] भट्टारक

१. विजयकीर्तियो भवन भट्टारकोपदिष्टिनः ।७।
—जयकुमार पुराण

सकलभूषण ने यशस्वी, महामना, मोक्षसुखाभिलाषी आदि विशेषणों से उनकी कीर्ति का बखान किया है।[1] शुभचन्द्र तो उनके प्रधान शिष्य थे ही, उन्होंने अपनी प्रायः सभी कृतियों में उनका उल्लेख किया है। श्रेणिक चरित्र में यतिराज, पुण्यमूर्ति आदि विशेषणों से अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है।

जयति विजयकीर्तिः पुण्यमूर्तिः सुकीर्तिः
जयतु च यतिराजो भूमिपैः स्पृष्टपादः।
नयनलिनहिमांशु ज्ञानभूपस्य पट्टे
विविधपरविवादि क्ष्मधरे वज्रपातः॥

—श्रेणिकचरित्र २

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति एवं लक्ष्मीचन्द्र चादवाडा ने भी अपनी कृतियों में विजयकीर्ति का निम्न शब्दों में उल्लेख किया है—

१. विजयकीर्ति तस पटधारी, प्रगट्या पूरण सुखकार रे।

—प्रद्युम्नप्रबन्ध

२. तिन पट विजयकीर्ति जैवंत, गुरु अन्यमति परवत समान।

—श्रेणिकचरित्र

सांस्कृतिक सेवा

विजयकीर्ति का समाज पर जबरदस्त प्रभाव होने के कारण समाज की गतिविधियों में उनका प्रमुख हाथ रहता था। इनके भट्टारक काल में कितनी ही प्रतिष्ठाएँ हुई। मन्दिरों का निर्माण एवं जीर्णोद्धार किया गया। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक कार्यक्रमों के सम्पादन में भी इनका योगदान उल्लेखनीय रहा। सर्वप्रथम इन्होंने संवत् १५५७-१५६० और उसके पश्चात् संवत् १५६१, १५६४, १५६८, १५७० आदि वर्षों में सम्पन्न होनेवाली प्रतिष्ठाओं में भाग लिया और जनता को मार्गदर्शन दिया। इन संवतों में प्रतिष्ठित मूर्तियाँ डूंगरपुर, उदयपुर आदि नगरों के मन्दिरों में मिलती हैं। संवत् १५६१ में इन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की महत्ता को प्रतिष्ठापित करने के लिए रत्नत्रय की मूर्ति को प्रतिष्ठापित किया।

स्वर्णकाल

विजयकीर्ति के जीवन का स्वर्णकाल संवत् १५५२ से १५७० तक का माना जा सकता है। इन १८ वर्षों में इन्होंने देश को एक नयी सांस्कृतिक चेतना दी तथा अपने त्याग एवं तपस्वी जीवन से देश को आगे बढ़ाया। संवत् १५५७ में इन्हें

---

१. भट्टारकः श्रीविजयादिकीर्तिस्तदीयपट्टे वरलब्धकीर्तिः।
महामना मोक्षसुखाभिलाषी बभूव जैनावनी याञ्चपादः॥
—उपदेशरत्नमाला

२. भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ १४४।

भट्टारक पद अवश्य मिल गया था। उस समय भट्टारक ज्ञानभूषण जीवित थे क्योंकि उन्होंने संवत् १५६० में 'तत्त्वज्ञान तरंगिणी' की रचना समाप्त की थी। विजयकीर्ति ने सम्भवतः स्वयं कोई कृति नहीं लिखी। वे केवल अपने विहार एवं प्रवचन से ही मार्ग-दर्शन देते रहे। प्रचारक की दृष्टि से उनका काफ़ी ऊँचा स्थान बन गया था और वे बहुत-से राजाओं द्वारा भी सम्मानित थे।[1] वे शास्त्रार्थ एवं वाद-विवाद भी करते थे और अपने अकाट्य तर्कों से अपने विरोधियों से अच्छी टक्कर लेते थे। जब वे बहस करते तो श्रोतागण मन्त्रमुग्ध हो जाते और उनकी तर्कों को सुनकर उनके ज्ञान की प्रशंसा किया करते। भट्टारक शुभचन्द्र ने अपने एक गीत में इनके शास्त्रार्थ का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

वादीय वाद विटंब वादि सिंभाल मद गंजन।
वादीय कुंद कुदाल वादि श्रावय मन रंजन।
वादि तिमिर हर सूरि वादि नीर सह सुधाकर
वादि बिम्बन बीर वादि निगाण गुण सागर।
वादीन विवृत्त सरसति गछि मूलसंघि दिगम्बर रहू।
कहिइ ज्ञानभूषण तो पट्टी श्री विजयकीर्ति जागी यतिवरहू ॥५॥

इनके चरित्र, ज्ञान एवं संयम के सम्बन्ध में इनके शिष्य शुभचन्द्र ने कितने ही पद्य लिखे हैं उनमें से कुछ का रसास्वादन कीजिए—

सुरनर खग भर चारुचंद्र चर्चित चरणद्वय।
समयसार का सार हंस भर चिंचित चिन्मय।
दक्ष पक्ष शुभ मुक्ष लक्ष्य लक्षण पतिनायक
ज्ञान दान निगान क्षय चातक जलदायक।
कमनीय मूर्ति सुन्दर सुकर घम्म शर्म कल्याण कर
जय विजयकीर्ति सूरीश कर श्री श्री वर्द्धन सौख्य वर ॥७॥
विशाद विसंवद वादि वरन कुण्ड गरुं भेषज।
दुर्नय वनद समीर वीर वन्दित पद पंकज।
पुन्य पयोधि सुचन्द्र चामीकर सुन्दर।
स्फूर्ति कीर्ति विख्यात सुमूर्ति सोभित सुभ संवर।
संसार संघ बहु दयी हर नागरमनि चारित्र धरा।
श्री विजयकीर्ति सूरीस जयवर श्री वर्द्धन पंकहर ॥८॥

---

१. यः पूज्यो नृपमल्लिभैरवमहादेवेन्द्रमुख्यैर्नृपैः।
षट्तर्कागमशास्त्रकोविदमतिर्जाग्रद्यशश्चन्द्रमा।
भव्याम्भोरुहभास्करः शुभकरः संसारविच्छेदकः।
सोऽव्याच्छ्रीविजयादिकीर्तिमुनिपो भट्टारकाधीश्वरः॥
—भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ सं. १४४।

'भट्टारक विजयकीर्ति' के समय में सागवाडा एवं नोतनपुर की समाज दो जातियों में विभक्त थी। 'विजयकीर्ति' बडसाजनों के गुरु कहलाने लगे थे। जब वे नोतनपुर आये तो विद्वान् श्रावकों ने उनसे शास्त्रार्थ करना चाहा लेकिन उनकी विद्वत्ता के सामने वे नहीं ठहर सके।[1]

शिष्य परम्परा

विजयकीर्ति के कितने ही शिष्य थे। उनमें भट्टारक शुभचन्द्र, बूचराज, ब्र. यशोधर आदि प्रमुख थे। बूचराज ने एक विजयकीर्ति गीत लिखा है, जिसमें विजयकीर्ति के उज्ज्वल चरित्र की अत्यधिक प्रशंसा की गयी है। वे सिद्धान्त के मर्मज्ञ थे तथा चारित्र सम्राट् थे।[2] इनके एक अन्य शिष्य ब्र. यशोधर ने अपने कुछ पदों में विजयकीर्ति का स्मरण किया है तथा एक स्वतन्त्र गीत में उनकी तपस्या, विद्वत्ता एवं प्रसिद्धि के बारे में अच्छा परिचय दिया है। गीत[3] का अन्तिम भाग निम्न प्रकार है—

अनेक राजा चलण सेवि मालवी मेवाड।
गूजर सोरठ सिन्धु सहिजि अनेक भड भूपाल।
दक्षण मरहठ चीण कुंकण पूरवि नाम प्रसिद्ध।
छत्रीस लक्षण कला बहुतरि अनेक विद्यारिधि।
आगू वेद सिद्धान्त व्याकरण भावि भवीयण सार।
नाटक छन्द प्रमाण सूझि निज जपि नवकार ॥
श्री काष्ठा संघि कुल तिलुरे यती सरोमणि सार।
श्री विजयकीरति गिरुउ गणधर श्री संघकरि जयकार ॥४॥

उक्त गीत से ज्ञात होता है कि विजयकीर्ति केवल जैन समाज द्वारा ही सम्मानित नहीं थे किन्तु वे मालवा, मेवाड़, गुजरात, सौराष्ट्र, सिन्ध, महाराष्ट्र एवं कोंकड़ प्रदेश के अनेक शासकों द्वारा भी सम्मानित थे तथा जब कभी वे इन प्रदेशों में विहार करते वहाँ के शासकों एवं समाज द्वारा उनका शानदार स्वागत किया जाता था।

---

१. तिणि दिव बडिसाजनि सागवाडि सांतिनाथनि प्रतिष्ठा श्री विजयकीर्ति कीनी।
   वही...भट्टारक पट्टावलि शास्त्र भण्डार, डूंगरपुर।
२. पूरा पद देखिए—लेखक द्वारा सम्पादित राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची, चतुर्थ भाग, पृ. सं. ६६६-६७।
३. विजयकीर्ति गीत, रजिस्टर नं. ७, पृ. सं. ६०, महावीर भवन, जयपुर।

भट्टारक शुभचन्द्र

[संवत् १५७३ से १६१३ तक]

शुभचन्द्र भट्टारक विजयकीर्ति के शिष्य थे। वे अपने समय के प्रसिद्ध भट्टारक, साहित्य-प्रेमी, धर्म-प्रचारक एवं शास्त्रों के प्रबल विद्वान् थे। जब वे भट्टारक बने उस समय भट्टारक सकलकीर्ति, एवं उनके पट्ट शिष्य भुवनकीर्ति, प्रशिष्य ज्ञानभूषण एवं विजयकीर्ति ने अपनी सेवा, विद्वत्ता एवं सांस्कृतिक अभिरुचि से इतना अच्छा वातावरण बना लिया था कि इन सन्तों के प्रति जैन समाज में ही नहीं किन्तु जैनेतर समाज में भी अगाध श्रद्धा उत्पन्न हो चुकी थी। शुभचन्द्र ने भट्टारक ज्ञानभूषण एवं भट्टारक विजयकीर्ति का शासन काल देखा था। विजयकीर्ति के तो लाड़ले शिष्य ही नहीं थे किन्तु उनके शिष्यों में सबसे अधिक प्रतिभावान् भी थे। इसलिए विजयकीर्ति की मृत्यु के पश्चात् इन्हें ही उस समय के सबसे प्रतिष्ठित एवं सम्मानित पद पर प्रतिष्ठापित किया गया।

इनका जन्म संवत् १५३०–४० के मध्य कभी हुआ होगा। ये जब बालक थे तभी से इनका इन भट्टारकों से सम्पर्क स्थापित हो गया। प्रारम्भ में इन्होंने अपना समय संस्कृत एवं प्राकृत भाषा के ग्रन्थों के पढ़ने में लगाया। व्याकरण एवं छन्दशास्त्र में निपुणता प्राप्त की और फिर भट्टारक ज्ञानभूषण एवं भट्टारक विजयकीर्ति के सान्निध्य में रहने लगे। श्री वी. पी. जोहरापुरकर के मतानुसार ये संवत् १५७३ में भट्टारक बने।[1] और वे इसी पद पर संवत् १६१३ तक रहे। इस तरह शुभचन्द्र ने अपने जीवन का अधिक भाग भट्टारक पद पर रहते हुए ही व्यतीत किया। बलात्कारगण की ईडर शाखा की गद्दी पर इतने समय तक सम्भवतः ये ही भट्टारक रहे। इन्होंने अपनी प्रतिष्ठा एवं पद का खूब अच्छी तरह सदुपयोग किया और इन ४० वर्षों में राजस्थान, पंजाब, गुजरात एवं उत्तरप्रदेश में भगवान् महावीर के शासन का जबरदस्त प्रभाव स्थापित किया।

भट्टारक बनने के पश्चात् इनकी कीर्ति चारों ओर व्याप्त हो गयी। राजस्थान के अतिरिक्त इन्हें गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब एवं उत्तर प्रदेश के अनेक गाँव एवं नगरों से निमन्त्रण मिलने लगे। जनता इनके श्रीमुख से धर्मोपदेश सुनने को अधीर हो उठती इसलिए ये जहाँ भी जाते भक्तजनों के पलक पावड़े बिछ जाते। इनकी वाणी में

---

१. देखिए, भट्टारक सम्प्रदाय, , संख्या १६८।

आकर्षण था इसलिए एक ही बार के सम्पर्क में वे किसी भी अच्छे व्यक्ति को अपना भक्त बनाने में समर्थ हो जाते। ये अपने साथ ग्रन्थों के ढेर के ढेर एवं लेखन सामग्री रखते। नवीन साहित्य के निर्माण में इनकी अधिक रुचि थी। इनकी विद्वत्ता से मुग्ध होकर भक्तजन इनसे ग्रन्थ निर्माण के लिए प्रार्थना करते और ये उनके आग्रह से उसे पूरा करने का प्रयत्न करते। अपने शिष्यों द्वारा ये ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करवाते और फिर उन्हें शास्त्र भण्डारों में विराजमान करने के लिए अपने भक्तों से आग्रह करते। संवत् १५९० में ईडर नगर के हूंबड जातीय श्रावकों ने ब्र. तेजपाल के द्वारा पुण्यास्त्रव कथाकोश की प्रति लिखवाकर इन्हें भेंट की थी। संवत् १५९९ में डूंगरपुर के आदिनाथ चैत्यालय में इन्हीं के उपदेश से अंगप्रज्ञप्ति की प्रतिलिपि करवाकर विराजमान की गयी थी। चन्दना चरित को इन्होंने वाग्वर (बागड) में निबद्ध किया और कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका को संवत् १६१३ में सागवाडा में समाप्त की। इसी तरह संवत् १६१७ में पाण्डव-पुराण को हिसार (पंजाब) में निबद्ध किया गया। इन्होंने देश के सभी भागों में विहार किया और देश एवं समाज में धर्म के प्रति निष्ठा उत्पन्न की।

विद्वत्ता

शुभचन्द्र शास्त्रों के पूर्ण मर्मज्ञ थे। ये षट्भाषा कवि-चक्रवर्ती कहलाते थे। छह भाषाओं में सम्भवतः संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी. गुजराती एवं राजस्थानी भाषाएँ थीं। ये त्रिविध विद्याधर (शब्दागम, युक्त्यागम एवं परम्परागम) के ज्ञाता थे। पट्टावलि के अनुसार ये प्रमाण परीक्षा, पत्र परीक्षा, पुष्प परीक्षा (?) परीक्षा-मुख, प्रमाण-निर्णय, न्यायमकरन्द, न्यायकुमुदचन्द्र, न्यायविनिश्चय, श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, प्रमेय-कमल-मार्त्तण्ड, आप्तमीमांसा, अष्टसहस्री, चिन्तामणिमीमांसा, विवरण वाचस्पति, तत्त्व कौमुदी आदि न्याय ग्रन्थों के, जैनेन्द्र, शाकटायन, ऐन्द्र, पाणिनी, कलाप आदि व्याकरण ग्रन्थों के, त्रैलोक्यसार, गोम्मट्टसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकप्रज्ञप्ति, सुविज्ञप्ति, अध्यात्माष्ट-सहस्री (?) और छन्दोलंकार आदि महाग्रन्थों के पारगामी विद्वान् थे।[1]

शिष्य परम्परा

भट्टारकों के संघ में कितने ही मुनि, ब्रह्मचारी, साध्वियाँ तथा विद्वान्-गण रहा करते थे। इसलिए इनके संघ में भी कितने ही साधु थे जिनमें सकलभूषण, ब्र. तेजपाल, वर्णी क्षेमचन्द्र, सुमतिकीर्ति, श्री भूषण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आचार्य सकलभूषण ने अपने उपदेश रत्नमाला में भट्टारक शुभचन्द्र का नाम बड़े ही आदर के साथ लिया है और अपने आपको उनका शिष्य लिखने में गौरव का अनुभव किया है। यही नहीं करकण्डुचरित्र को तो शुभचन्द्र ने सकलभूषण की सहायता से ही समाप्त किया था। वर्णी श्रीपाल ने इन्हें पाण्डवपुराण की रचना में सहायता की थी जिसका

---

१. देखिए, नाथूरामजी प्रेमी कृत—जैन साहित्य और इतिहास, पृ. सं. ३८३।

उल्लेख शुभचन्द्र ने पांडवपुराण[1] की प्रशस्ति में सुन्दर ढंग से किया है।

भट्टारक वीरचन्द्र ने अपनी कृति नेमिकुमाररास में शुभचन्द्र की विद्वत्ता, वक्तृत्वकला एवं तपस्या की अत्यधिक प्रशंसा की है। जिससे ऐसा लगता है कि शुभचन्द्र अपने समय के भट्टारक शिरोमणि थे।[2]

प्रतिष्ठा समारोहों का संचालन

अन्य भट्टारकों के समान इन्होंने भी कितनी ही प्रतिष्ठा-समारोहों में भाग लिया और वहाँ होनेवाले प्रतिष्ठा विधानों को सम्पन्न कराने में अपना पूर्ण योग दिया। भट्टारक शुभचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित आज भी कितनी ही मूर्तियाँ उदयपुर, सागवाड़ा, डूँगरपुर, जयपुर आदि मन्दिरों में विराजमान हैं। पंचायतों की ओर से ऐसे प्रतिष्ठा-समारोहों में सम्मिलित होने के लिए इन्हें विधिवत् निमन्त्रण-पत्र मिलते थे। और वे संघ सहित प्रतिष्ठाओं में जाते तथा उपस्थित जनसमुदाय को धर्मोपदेश का पान कराते। ऐसे ही अवसरों पर ये अपने शिष्यों का कभी-कभी दीक्षा समारोह भी मनाते जिससे साधारण जनता भी साधु जीवन की ओर आकर्षित होती। संवत् १६०७ में इन्हीं के उपदेश से पंचपरमेष्ठी की मूर्ति की स्थापना की गयी थी।[3]

इसी समय की प्रतिष्ठापित एक ११½" × ३०" अवगाहनावाली नन्दीश्वर द्वीप के चैत्यालयों की प्रतिमा जयपुर के लश्कर के मन्दिर में विराजमान है। यह प्रतिष्ठा सागवाड़ा में स्थित आदिनाथ के मन्दिर में महाराजाधिराज श्री आसकरण के शासन काल में हुई थी। इसी तरह संवत् १५८१ में इन्हीं के उपदेश से हूँबड जातीय श्रावक साह हीरा राजू आदि ने प्रतिष्ठा महोत्सव सम्पन्न करवाया था।[4]

---

१. शिष्यस्तस्य समृद्धिबुद्धिविशदो यस्तर्कवेदीवरो,
वैराग्यादिविशुद्धिवृन्दजनकः श्रीपालवर्णी महान्।
संशोध्याखिलपुस्तकं वरगुणं सत्पाण्डवानामिदं
तेनालेखि पुराणमर्थनिकरं पूर्वं वरे पुस्तके॥

२. तप कुक्षि कमल प्रकासीउ, भट्टारक शुभचन्द्र सूरि।
वाणीइ सुर नर मोहीआ, कुमती नाण दूरि॥८॥
सु कहता सुभ कीर्ति जे, जेहनी दोमी विदेसी
विसोत मद गज भंजनों, रंजनों राय नरेस॥९॥
भ कहितां भक्ति करी, जिनवर तणी सचंग।
सास्त्र सीधांत रचि घना, मनि बहु धागी चंग॥१०॥
च किहिता जे चन्द्रमा, जयम कमलनो करि विकास।
सत्य धर्मामृत उपदेशिसे, छोडवि संसार पास॥११॥
द्र कहिता द्र द्रव्यन करि, ते सरस वखांण।
भट्टारक भव भव हरि श्री शुभचन्द्र सुजाण॥१२॥

३. सम्वत् १६०७ वर्षे वैशाख वदी २ गुरु श्री मूलसंघे भ. श्री शुभचन्द्र गुरूपदेशात् हूँबड संखेश्वरा गोत्रे सा. जिना।
—भट्टारक सम्प्रदाय—पृ. सं. १४५।

४. सम्वत् १५८१ वर्षे पोष वदी १३ शुक्रे श्री मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ. श्री ज्ञानभूषण तत्पट्टे श्री भ. विजयकीर्ति तत्पट्टे भट्टारक श्री शुभचन्द्र गुरूपदेशात् हूंबड जाति साह हीरा भा. राजू सुत सं. तारा द्वि. भार्या पोई सुत सं. माका भार्या हीरा दे…… भा नारंग दे भ्रा. रत्नपाल भा. विराला दे सुत रखभदास नित्यं प्रणमंति।

साहित्यिक सेवा

शुभचन्द्र ज्ञान के सागर एवं अनेक विद्याओं में पारंगत विद्वान् थे। वे वक्तृत्व-कला में पटु तथा आकर्षक व्यक्तित्ववाले सन्त थे। इन्होंने जो साहित्य सेवा अपने जीवन में की थी वह इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। अपने संघ की व्यवस्था तथा धर्मोपदेश एवं आत्मसाधना के अतिरिक्त जो भी समय इन्हें मिला उसका साहित्य-निर्माण में ही सदुपयोग किया गया। वे स्वयं ग्रन्थों का निर्माण करते, शास्त्र भण्डारों की सम्हाल करते, अपने शिष्यों से प्रतिलिपियां करवाते तथा जगह-जगह शास्त्रागार खोलने की व्यवस्था कराते थे। वास्तव में ऐसे ही सन्तों के सत्प्रयास से भारतीय साहित्य सुरक्षित रह सका है।

पाण्डवपुराण इनकी संवत् १६०८ की कृति है। उस समय साहित्यिक-जगत् में इनकी ख्याति चरमोत्कर्ष पर थी। समाज में इनकी कृतियां प्रिय बन चुकी थीं और उनका अत्यधिक प्रचार हो चुका था। संवत् १६०८ तक जिन कृतियों को इन्होंने समाप्त कर लिया था[1] उनमें (१) चन्द्रप्रभ चरित्र (२) श्रेणिक चरित्र (३) जीवन्धर चरित्र (४) चन्दना कथा (५) अष्टाह्निका कथा (६) सद्वृत्तिशालिनी (७) तीन चौबीसी पूजा (८) सिद्धचक्र पूजा (९) सरस्वती पूजा (१०) चिन्तामणिपूजा (११) कर्मदहन पूजा (१२) पार्श्वनाथ काव्य पंजिका (१३) पल्य व्रतोद्यापन (१४) चारित्र शुद्धिविधान (१५) संशयवदन विदारण (१६) अपशब्द खण्डन (१७) तत्त्व निर्णय (१८) स्वरूप सम्बोधन वृत्ति (१९) अध्यात्म तरंगिणी (२०) चिन्तामणि प्राकृत व्याकरण (२१) अंग-प्रज्ञप्ति आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उक्त साहित्य भट्टारक शुभचन्द्र के कठोर परिश्रम एवं त्याग का फल है। इसके पश्चात् इन्होंने और भी कृतियां लिखीं।[2] संस्कृत रचनाओं के अतिरिक्त इनकी कुछ रचनाएं हिन्दी में भी उपलब्ध होती हैं। लेकिन कवि ने पाण्डव-पुराण में उनका कोई उल्लेख नहीं किया है। राजस्थान के प्रायः सभी ग्रन्थ भण्डारों में इनकी अबतक जो कृतियां उपलब्ध हुई हैं वे निम्न प्रकार हैं।

संस्कृत रचनाएँ

१. ऋषिमण्डल पूजा—राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थसूची-पंचम भाग, पृष्ठ संख्या		७८७
२. अनन्त व्रत पूजा	,,	१००७
३. अम्बिका कल्प	,,	४२६
४. अष्टाह्निका व्रतकथा	,,	९८५

१. संवत १६८१ वर्षे पौष वदी १३ शुक्रे श्री मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ. श्री ज्ञानभूषण तत्पट्टे भ. श्री शुभचन्द्र गुरूपदेशात् हूं बड जाति शाह हीरा भा. राजू सुत सं. तारा द्वि. भार्या पोई सुत सं. माका भार्या हीरा दे......भा. नारंग दे भ्रा. रत्नपाल भा. विराला दे सुत रत्नभंदास निर्त्य प्रणमति।

२. विस्तृत प्रशस्ति के लिए देखिए, लेखक द्वारा सम्पादित संग्रह, प. सं. ७।

५. अष्टाह्निका पूजा
६. अढाई द्वीप पूजा
७. करकण्डु चरित्र
८. कर्मदहन पूजा
९. कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका
१०. गणधरवलय पूजा
११. गुरावली पूजा
१२. चतुर्विंशति पूजा
१३. चन्दना चरित्र
१४. चन्दनषष्ठिव्रत पूजा
१५. चन्द्रप्रभचरित्र
१६. चरित्र शुद्धि विधान
१७. चिन्तामणि पार्श्वनाथ पूजा
१८. जीवन्धर चरित्र
१९. तेरह द्वीप पूजा
२०. तीन चौबीसी पूजा
२१. तीस चौबीसी पूजा
२२. त्रिलोक पूजा
२३. त्रेपनक्रियागति
२४. नन्दीश्वर पंक्ति पूजा
२५. पंचकल्याणक पूजा
२६. पंचगुणमाल पूजा
२७. पंचपरमेष्ठी पूजा
२८. पल्यव्रतोद्यापन
२९. पाण्डवपुराण
३०. पार्श्वनाथ काव्य पंजिका
३१. प्राकृत लक्षण टीका
३२. पुष्पांजलिव्रत पूजा
३३. प्रद्युम्न चरित्र
३४. बारह सौ चौंतीस व्रत पूजा
३५. लघुसिद्ध चक्र पूजा
३६. बृहद् सिद्ध पूजा
३७. श्रेणिकचरित्र
३८. समयसार टीका

३९. सहस्रगुणितपूजा
४०. सुभाषितार्णव

हिन्दी रचनाएँ

१. तत्त्वसार कथा
२. दान छन्द
३. गुरु छन्द
४. महावीर छन्द
५. नेमिनाथ छन्द
६. विजयकीर्ति छन्द
७. अष्टाह्निका गीत

उक्त सूची के आधार पर निम्न तथ्य निकाले जा सकते हैं—

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, सज्जन चित्त वल्लभ, अम्बिका कल्प, गणधर वलय पूजा, चन्दनषष्टिव्रतपूजा, तेरहद्वीप पूजा, पंच कल्याणक पूजा, पुष्पांजलि व्रत पूजा, सार्द्धद्वयद्वीप पूजा एवं सिद्धचक्र पूजा आदि संवत् १६०८ के पश्चात् अर्थात् पाण्डवपुराण के बाद की कृतियाँ हैं।

२. सद्वृत्तिशालिनी, सरस्वती पूजा, संशय-वदन-विदारण, अपशब्दखण्डन, तत्त्वनिर्णय, स्वरूपसम्बोधनवृत्ति एवं अंगप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थ अभी तक राजस्थान के किसी भण्डार में उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

३. हिन्दी रचनाओं का कवि द्वारा उल्लेख नहीं किया जाना इन रचनाओं का विशेष महत्त्व की कृतियाँ नहीं होना बतलाया जाता है क्योंकि गुरु छन्द एवं विजयकीर्ति छन्द तो कवि की उस समय की रचनाएँ मालूम पड़ती हैं जब विजयकीर्ति का यश उत्कर्ष पर था।

इस प्रकार भट्टारक शुभचन्द्र १६–१७वीं शताब्दी के यशस्वी भट्टारक थे जिनकी कीर्ति एवं प्रशंसा में जितना भी कहा जाये वही अल्प होगा। ये साहित्य के कल्पवृक्ष थे जिससे जिसने जिस प्रकार का साहित्य माँगा वही उसे मिल गया। वे सरल स्वभावी एवं व्युत्पन्नमति सन्त थे। भक्तजनों के सिर इनके पास जाते ही स्वतः ही श्रद्धा से झुक जाते थे। सकलकीर्ति के सम्प्रदाय के भट्टारकों में इतना अधिक साहित्योपासक भट्टारक कभी नहीं हुआ। जब वे कहीं विहार करते तो सरस्वती स्वयं उनपर पुष्प बखेरती थी। भाषण करते समय ऐसा प्रतीत होता था मानो दूसरे गणधर ही बोल रहे हों।

१. करकण्डु चरित्र

करकण्डु राजा का जीवन इस काव्य की मुख्य कथावस्तु है। यह एक प्रबन्ध काव्य है जिसमें १५ सर्ग हैं। इसकी रचना संवत् १६११ में जवालपुर में समाप्त हुई थी। उस नगर के आदिनाथ चैत्यालय में कवि ने इसकी रचना की। सकलभूषण जो

इस रचना में सहायक थे शुभचन्द्र के प्रमुख शिष्य थे और इनकी मृत्यु के पश्चात् सकलभूषण को ही भट्टारक पद पर सुशोभित किया गया। इनकी रचना पठनीय एवं सुन्दर है।

२. अध्यात्मतरंगिणी

आचार्य कुन्दकुन्द का समयसार अध्यात्म विषय का उत्कृष्ट ग्रन्थ माना जाता है। जिस पर संस्कृत एवं हिन्दी में कितनी ही टीकाएँ उपलब्ध होती हैं। अध्यात्म-तरंगिणी संवत् १५७३ की रचना है जो आचार्य अमृतचन्द्र के समयसार के कलशों पर आधारित है। यह रचना कवि की प्रारम्भिक रचनाओं में से है। ग्रन्थ की भाषा क्लिष्ट एवं समासबहुल है। लेकिन विषय का अच्छा प्रतिपादन किया गया है। ग्रन्थ का एक पद्य देखिए—

जयतु जितविपक्षः पालिताशेषशिष्यो
विदितनिजस्वतत्त्वश्चोदितानेकसत्त्वः।
अमृतविधुयतीशः कुन्दकुन्दो गणेश:
श्रुतसुजिनविवादः स्याद्विवादाधिवादः॥

इसकी एक प्रति कामा के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है। प्रति १०" × ४½" आकार की है तथा जिसमें १३० पत्र हैं। यह प्रति संवत् १७९५ पौष बदी १ शनिवार की लिखी हुई है।

३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका

प्राकृत भाषा में निबद्ध स्वामी कार्तिकेय की 'बारस अणुपेक्खा' एक प्रसिद्ध कृति है। इसमें आध्यात्मिक रस कूट-कूटकर भरा हुआ है। तथा संसार की वास्तविकता का अच्छा चित्रण मिलता है। इसी कृति की संस्कृत टीका भट्टारक शुभचन्द्र ने लिखी जिससे इसके अध्ययन, मनन एवं चिन्तन का समाज में और भी अधिक प्रचार हुआ। इस ग्रन्थ को लोकप्रिय बनाने में इस टीका को भी काफी श्रेय रहा। टीका करने में, इन्हें अपने शिष्य सुमतिकीर्ति से सहायता मिली जिसका इन्होंने ग्रन्थ प्रशस्ति में साभार उल्लेख किया है।[1] ग्रन्थ रचना के समय कवि हिसार (हरियाणा) नगर में थे और इसे इन्होंने संवत् १६०० माघ सुदी ११ के दिन समाप्त की थी।

---

१. तदन्वये श्रीविजयादिकीर्तिः तत्पट्टधारी शुभचन्द्रदेवः।
तेनेयमाकारि विशुद्धटीका श्रीमत्सुमत्यादिसुकीर्तिकीर्तेः॥५॥
श्रीमद्विक्रमभूपतेः परमिते वर्षे शते षोडशे,
माघे मासि दशाग्रवह्निसहिते ख्याते दशम्यां तिथौ।
श्रीमच्छ्रीमहीसार-सार-नगरे चैत्यालये श्रीपुरोः।
श्रीमच्छ्रीशुभचन्द्रदेवविहिता टीका सदा नन्दतु॥६॥

अपनी शिष्य परम्परा में सबसे अधिक व्युत्पन्नमति एवं शिष्य वर्णी क्षीमचन्द्र के आग्रह से इसकी टीका लिखी गयी थी।[1] टीका सरल एवं सुन्दर है तथा गाथाओं के भावों की ऐसी व्याख्या अन्यत्र मिलना कठिन है। ग्रन्थ में १२ अधिकार हैं। प्रत्येक अधिकार में एक-एक भावना का वर्णन है।

४. जीवन्धर चरित्र

यह इनका प्रबन्ध काव्य है जिसमें जीवन्धर के जीवन पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। काव्य में १३ सर्ग हैं। कवि ने जीवन्धर के जीवन को धर्मकथा के नाम से सम्बोधित किया है। इसकी रचना संवत् १६०३ में समाप्त हुई थी। इस समय शुभचन्द्र किसी नवीन नगर में विहार कर रहे थे। नगर में चन्द्रप्रभ जिनालय था और उसी में एक समारोह के साथ इस काव्य की समाप्ति की थी।[2]

५. चन्द्रप्रभ चरित्र

चन्द्रप्रभ आठवें तीर्थंकर थे। इन्हीं के पावन चरित्र का कवि ने इस काव्य के १२ सर्गों में वर्णन किया है। काव्य के अन्त में कवि ने अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि न तो वह छन्द अलंकारों से परिचित है और न काव्य-शास्त्र के नियमों में पारंगत है। उसने न जैनेन्द्र व्याकरण पढ़ा है, न कलाप एवं शाकटायन व्याकरण देखी है। उसने त्रिलोकसार एवं गोम्मटसार-जैसे महान् ग्रन्थों का अध्ययन भी नहीं किया है। किन्तु रचना भक्तिवश की गयी है।

६. चन्दना चरित्र

यह एक कथा काव्य है जिसमें चन्दना के पावन एवं उज्ज्वल जीवन का वर्णन किया गया है। इसके निर्माण के लिए कितने ही शास्त्रों एवं पुराणों का अध्ययन करना पड़ा था। एक महिला के जीवन को प्रकाश में लानेवाला यह सम्भवतः प्रथम काव्य है। काव्य में पाँच सर्ग हैं। रचना साधारणतः अच्छी है तथा पढ़ने योग्य है। इसकी रचना बागड प्रदेश के डूंगरपुर नगर में हुई थी।

हिन्दी कृतियाँ

१. महावीर छन्द

यह महावीर स्वामी के स्तवन के रूप में है। पूरे स्तवन में २७ पद्य हैं। स्तवन की भाषा संस्कृत-प्रभावित है तथा काव्यत्व पूर्ण है। आदि और अन्तिम भाग देखिए—

---

१. वर्णी श्रीक्षीमचन्द्रेण विनयेन कृतप्रार्थना।
शुभचन्द्र-गुरो स्वामिन् कुरु टीकां मनोहराम् ॥६॥

२. श्रीमद् विक्रम-भूपतेर्वसुहतद्वैते शते सप्तह
वेदेन्यू नतरे समे शुभतरेऽपि मासे वरे च शुचौ।
वारे गीष्पतिके त्रयोदशतिथौ सन्नूतने पत्तने
श्री चन्द्रप्रभधाम्नि वै विरचितं चेदं मया तोषयतः ॥७॥

आदि भाग

प्रणमीय वीर विबुह जण रे जण, भदमई मान महाभय भंजण ।
गुण गण वर्णन करीय बखाणु, यतो जण योगीय जीवन जाणु ॥
मेह गेह गुह देश विदेहह, कुंडलपुर वर पुहवि सुदेहह ।
सिद्धि वृद्धि वर्द्धक सिद्धारथ, नरवर पूजित नरपति सारथ ॥

अन्तिम भाग

सिद्धारथ सुत सिद्धि वृद्धि वांछित वरदायक,
प्रियकारिणी वर पुत्र सप्तहस्तोन्नत कायक ।
द्वासप्तति वर वर्ष आयु सिंहांकसु मंडित,
चामीकर वर वर्ण शरण गोतम यती मंडित ।
गर्भ दोष दूषण रहित शुद्ध गर्भ कल्याण करण,
'शुभचन्द्र' सूरि सेवत सदा पुहवि पाप पंकह हरण ॥

२. विजयकीर्ति छन्द

यह कवि की ऐतिहासिक कृति है। कवि द्वारा जिसमें अपने गुरु 'भट्टारक विजयकीर्ति' की प्रशंसा में उक्त छन्द लिखा गया है। इसमें २९ पद्य हैं—जिसमें भट्टारक विजयकीर्ति को कामदेव ने किस प्रकार पराजित करना चाहा और उसमें उसे स्वयं को किस प्रकार मुँह की खानी पड़ी इसका अच्छा वर्णन दे रखा है। जैन साहित्य में ऐसी बहुत कम कृतियाँ हैं जिनमें किसी एक सन्त के जीवन पर कोई रूपक काव्य लिखा गया हो।

रूपक काव्य की भाषा एवं वर्णन शैली दोनों ही अच्छी है। इसके नायक हैं 'भट्टारक विजयकीर्ति' और प्रतिनायक कामदेव है। मत्सर, मद, माया, सप्तव्यसन आदि कामदेव की सेना के सैनिक थे तथा क्रोध, मान, माया और लोभ उसकी सेना के नायक थे। 'भट्टारक विजयकीर्ति' कब घबरानेवाले थे, उन्होंने शम, दम एवं यम की सेना को उनसे भिड़ा दिया। जीवन में पालित महाव्रत उनके अंगरक्षक थे तब फिर किसका साहस था जो उन्हें पराजित कर सकता था। अन्त में इस लड़ाई में कामदेव बुरी तरह पराजित हुआ और उसे वहाँ से भागना पड़ा—

भागो रे मयण जाई अनंग वेगि रे थाई।
पिसिर मनर मांहि मुंकरे ठाम।
रीति र पायरि लागी मुनि काहूने वर मागी,
दुखि र काटि र जांगी जंपई नाम ॥
मयण नाम र फेडी आपणी सेना रे तेडी,
आपइ ध्यानती रेडी यतीय वरो।

श्री विजयकीर्ति यति अभिनवो
गछपति पूरव प्रकट कीनि मुकनिकरो ॥२८॥

३. गुरु छन्द

यह भी ऐतिहासिक छन्द है जिसमें 'भट्टारक विजयकीर्ति' का गुणानुवाद किया गया है। इस छन्द से विजयकीर्ति के माता-पिता कुँअरि एवं गंगासहाय के नामों का प्रथम बार परिचय मिलता है। छन्द में ११ पद्य हैं।

४. नेमिनाथ छन्द

२५ पद्यों में निबद्ध इस छन्द में भगवान् नेमिनाथ के पावन जीवन का वर्णन किया गया है। इसकी भाषा भी संस्कृतनिष्ठ है। विवाह में किस प्रकार आभूषणों एवं वाद्ययन्त्रों के शब्द हो रहे थे—इसका एक वर्णन देखिए—

तिहां तड़ तड़ई तब लीय ना दिन वलीय भेद भंभा बजाई
भंकारि रूडि सहित चूंडी भेर नादह गज्जई।
झण झणण करती टणण धरती सद्ध बोल्लई भल्लरी।
घूम घूमक करती कण हरती एहवज्जि सुन्दरी ॥१८॥
तण तणण टंका नाद सुन्दर तांति मन्दर वण्णिया
धम धमहं नादि धणण करती घुग्घरी सुहकारीया।
झुंझुक बोलइ सिद्धि सोहइ एह भुंगल सारयं।
कण कणण क्रों को नादि वादि सुद्ध सादि रम्भणं ॥१९॥

५. दान छन्द :

यह एक लघु पद है, जिसमें कृपणता की निन्दा की प्रशंसा की गयी है। इसमें केवल २ पद्य हैं।

उक्त सभी पाँचों कृतियाँ दिगम्बर जैन मन्दिर, पाटोदी, जयपुर के शास्त्र भण्डार के एक गुटके में संग्रहीत हैं।

६. तत्त्वसार दूहा :

'तत्त्वसार दूहा' की एक प्रति कुछ समय पूर्व जयपुर के ठोलियों के मन्दिर के शास्त्र भण्डार में उपलब्ध हुई थी। रचना में जैन सिद्धान्त के अनुसार सात तत्त्वों का वर्णन किया गया है। इसलिए यह एक सैद्धान्तिक रचना है। तत्त्वों के अतिरिक्त साधारण जनता की समझ में आ सकनेवाले अन्य कितने ही विषयों को कवि ने अपनी इस रचना में लिया है। १६वीं शताब्दी में ऐसी रचनाओं के अस्तित्व से प्रकट होता है कि उस समय हिन्दी भाषा का अच्छा प्रचलन था। तथा काव्य, कथाचरित, फागु,

बेलि आदि काव्यात्मक विषयों के अतिरिक्त सैद्धान्तिक विषयों पर भी रचनाएँ प्रारम्भ हो गयी थीं।

'तत्त्वसार दूहा' में ९१ दोहे एवं चौपाई हैं। भाषा पर गुजराती का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि भट्टारक शुभचन्द्र का गुजरात से पर्याप्त सम्पर्क था। यह रचना 'दुल्हा' नामक श्रावक के अनुरोध से लिखी गयी थी। कवि ने उसके नाम का कितने ही पद्यों में उल्लेख किया है—

रोग रहित संगति सुखी रे, सम्पदा पूरण ठाण।
धर्म बुद्धि मन शुद्धडी, 'दूल्हा' अनुक्रमि जाण ॥९॥

तत्त्वों का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि जिनेन्द्र ही एक परमात्मा हैं और उनकी वाणी ही सिद्धान्त है। जीवादि सात तत्त्वों पर श्रद्धान करना ही सच्चा सम्यग्दर्शन है।

देव एक जिनदेव रे, आगम जिन सिद्धान्त।
तत्त्व जीवादिक सद्दहण, होइ सम्मत अभ्रान्त ॥१७॥

मोक्ष तत्त्व का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

कर्म कलंक विकरनो रे, निःशेष होयि नाश।
मोक्ष तत्त्व श्री जिनकही, वाणवा भानु अन्यास ॥२६॥

आत्मा का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है कि किसी की आत्मा उच्च अथवा नीच नहीं है, कर्मों के कारण ही उसे उच्च एवं नीच की संज्ञा दी जाती है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के नाम से सम्बोधित किया जाता है। आत्मा तो राजा है—वह शूद्र कैसे हो सकती है।

उच्च नीच नवि अप्पा हुयि, कर्म कलंक तणो की तु सोई।
बंभण क्षत्रिय वैश्य न शूद्र, अप्पा राजा नवि होय शुद्र ॥७॥

आत्मा की प्रशंसा में कवि ने आगे भी लिखा है—

अप्पा धनी नवि नवि निर्धन, नवि दुर्बल नवि अप्पा घन्न।
मूर्ख हर्ष द्वेष नविने जीव, नवि सुखी नवि दुखी अतीव ॥७१॥
सुक्ख अनन्त बल वली, रे अनन्त चतुष्टय ठाम।
इन्द्रिय रहित मनो रहित, शुद्ध चिदानन्द नाम ॥७७॥

रचना काल

कवि ने अपनी यह रचना कब समाप्त की थी—इसका उसने कोई उल्लेख नहीं किया है, लेकिन सम्भवतः ये रचनाएँ उनके प्रारम्भिक जीवन की रचनाएँ रही हों। इसलिए इन्हें सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण की रचना मानना ही उचित होगा।

भट्टारक रत्नकीर्ति

[संवत् १६०० से १६५६ तक]

वह विक्रमीय १७वीं शताब्दी का समय था। भारत में बादशाह अकबर का शासन होने से अपेक्षाकृत शान्ति थी किन्तु बागड एवं मेवाड़ प्रदेश में राजपूतों एवं मुग़ल शासकों में अनबन रहने के कारण सदैव ही युद्ध का खतरा तथा धार्मिक संस्थानों एवं सांस्कृतिक केन्द्रों के नष्ट किये जाने का भय बना रहता था। लेकिन बागड प्रदेश में भट्टारक सकलकीर्ति ने १४वीं शताब्दी में धर्म प्रचार तथा साहित्य प्रचार की जो लहर फैलायी थी वह अपनी चरम सीमा पर थी। भट्टारकों, मुनियों, साधुओं, ब्रह्मचारियों एवं स्त्री सन्तों का विहार होता रहता था एवं वे अपने सदुपदेशों द्वारा जनमानस को पवित्र किया करते थे। गृहस्थों में उनके प्रति अगाध श्रद्धा थी एवं जहाँ उनके चरण पड़ते थे वहाँ जनता अपनी पलकें बिछाने को तैयार रहती थी। ऐसे ही समय में घोघा नगर के हूंबड जातीय श्रेष्ठी देवीदास के यहाँ एक बालक का जन्म हुआ।[1] माता सहजलदे विविध कलाओं से युक्त बालक को पाकर फूली नहीं समायी। जन्मोत्सव पर नगर में विविध प्रकार के उत्सव किये गये। वह बालक बड़ा होनहार था, बचपन में उस बालक को किस नाम से पुकारा जाता था इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

जीवन एवं कार्य

बड़े होने पर वह बाल विद्याध्ययन करने लगा तथा थोड़े ही समय में उसने प्राकृत एवं संस्कृत ग्रन्थों का गहरा अध्ययन कर लिया। एक दिन अकस्मात् ही उसका भट्टारक अभयनन्दि से साक्षात्कार हो गया। भट्टारकजी उसे देखते ही बड़े प्रसन्न हुए एवं उसकी विद्वत्ता एवं वाक्चातुर्य से प्रभावित होकर उसे अपना शिष्य बना लिया। अभयनन्दि ने पहले उसे सिद्धान्त, काव्य, व्याकरण, ज्योतिष एवं आयुर्वेद आदि विषयों के ग्रन्थों का अध्ययन करवाया।[1] वह व्युत्पन्न मति था इसलिए शीघ्र ही उसने उनपर अधिकार पा लिया। अध्ययन समाप्त होने के बाद अभयनन्दि ने उसे अपना पट्ट शिष्य घोषित कर दिया। ३२ लक्षणों एवं ७२ कलाओं से सम्पन्न विद्वान् युवक को कौन

---

१. हुंबड वंशे विबुध विख्यात रे,
मात सेहेजलदे देवीदास तात रे।
कुँअर कलानिधि कोमल काय रे,
पद पूजो प्रेम पातक पलाय रे।

रत्नकीर्ति गीत— गणेश कृत

अपना शिष्य बनाना नहीं चाहेगा। संवत् १६४३ में एक विशेष समारोह के साथ उसका महाभिषेक कर दिया गया और उसका नाम रत्नकीर्ति रखा गया। इस पद पर वे संवत् १६५६ तक रहे। अतः इनका काल अनुमानतः संवत् १६०० से १६५६ तक माना जा सकता है।

सन्त रत्नकीर्ति उस समय पूर्ण युवा थे। उनकी सुन्दरता देखते ही बनती थी। जब वे धर्म-प्रचार के लिए विहार करते तो उनके अनुपम सौन्दर्य एवं विद्वत्ता से सभी मुग्ध हो जाते थे। तत्कालीन विद्वान् गणेश कवि ने भट्टारक रत्नकीर्ति की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

अरध शशि सम सोहे शुभ भाल रे।
वदन कमल शुभ नयन विशाल रे।
दशन दाडिम सम रसना रसाल रे।
अधर बिंबीफल विजित प्रवाल रे।
कण्ठ कम्बू सम रेखा त्रय राजे रे।
कर किसलिय सम नख छवि छाज रे॥

वे जहाँ भी विहार करते सुन्दरियाँ उनके स्वागत में विविध मंगल गीत गातीं। ऐसे ही अवसर पर गाये हुए गीत का एक भाग देखिए—

कमल वदन करुणालय कहीये,
कनक वरण सोहे कान्त मोरी सहीय रे।
कजल दल लोचन पापना मोचन,
कलाकार प्रगटो विख्यात मोरी सहीय रे॥

बलसाड नगर में संघपति मल्लिदास ने जो विशाल प्रतिष्ठा करवायी थी वह रत्नकीर्ति के उपदेश से ही सम्पन्न हुई थी। मल्लिदास हूँबड जाति के श्रावक थे तथा अपार सम्पत्ति के स्वामी थे। इस प्रतिष्ठा में सन्त रत्नकीर्ति अपने संघ सहित सम्मिलित हुए थे तथा एक विशाल जलयात्रा हुई थी जिसका विस्तृत वर्णन तत्कालीन कवि जयसागर ने अपने एक गीत में किया है—

जलयात्रा जुगते जाय, त्याहा माननी मंगल गाय।
संघपति मल्लिदास सोहन्त, संघवेण मोहणदे कन्त।
सारी शृंगार सोलसु सार, मन धरयो हरषा अपार।
च्याला जलयात्रा काजे वाजित्र बहु विध बाजे।

---

१. अभयनन्द पाटे उदयो दिनकर, पंच महाव्रत धारी।
शास्त्र सिधान्त पुराण ए जो, सो तर्क वितर्क विचारी।
गोमटसार संगीत सिरोमणि, जाणे गोयम अवतारी।
साहा देवदास केरो सुत सुखकर सेजलदे उरे अवतारी।
गणेश कहे तम्हो वन्दो रे, भवियण कुमति कुसंग निवारी॥२॥

वर ढोल निशान नफेरी, दड गडी दमाम सुभेरी ।
सणाई सरूपा साद, झल्लरी कसाल सुनाद ।
बन्धूक निशाण न काट, बोले, विरद बहु विध भाट ।
पालखी चामर शुभ छत्र, गजगामिनी नाचे विचित्र ।
घाट चुनडी कुम्भ सोहावे, चन्द्राननी ओडीने आवे ।

शिष्य-परिवार

रत्नकीर्ति के कितने ही शिष्य थे। वे सभी विद्वान् एवं साहित्य-प्रेमी थे। इनके शिष्यों की कितनी ही कविताऐं उपलब्ध हो चुकी हैं। इनमें कुमुदचन्द्र, गणेश, जयसागर एवं राघव के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। कुमुदचन्द्र को संवत् १६५६ में इन्होंने अपने पट्ट पर बिठलाया। ये अपने समय के समर्थ प्रचारक एवं साहित्य सेवी थे। इनके द्वारा रचित पद, गीत एवं अन्य रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं। कुमुदचन्द्र ने अपनी प्रायः प्रत्येक रचना में अपने गुरु रत्नकीर्ति का स्मरण किया है। कवि गणेश ने भी इनके स्तवन में बहुत-से पद लिखे हैं—एक वर्णन पढ़िए—

वदने चन्द हरावयो सीअले जीत्यो अनंग ।
सुन्दर नयणा नीरखामे, लाजा मीन कुरंग ।
जुगल श्रवण शुभ सोभतारे नास्या सूकनी चंच ।
अधर अरुण रँगे ओपमा, दन्त मुक्त परपंच ।
जुहवा अतीणी जाणे सखी रे, अनोपम अमृत वेल ।
ग्रीवा कम्बु कोमलरी रे, उन्नत भुजनी बेल ।

इसी प्रकार इनके एक शिष्य राघव ने इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि वे खान मलिक द्वारा सम्मानित भी किये गये थे—

लक्षण बत्तीस सकल अंगि बहोत्तरि
खान मलिक दिये मान जी ।

कवि के रूप में

रत्नकीर्ति को अपने समय का एक अच्छा कवि कहा जा सकता है। अभी तक इनके ३६ पद प्राप्त हो चुके हैं। पदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे सन्त होते हुए भी रसिक कवि थे। अतः इनके पदों का विषय मुख्यतः नेमिनाथ का विरह रहा है। राजुल की तड़फन से ये बहुत परिचित थे। किसी भी बहाने राजुल नेमि का दर्शन करना चाहती थी। राजुल बहुत चाहती थी कि वे (नयन) नेमि के आगमन का इन्तजार न करें लेकिन लाख मना करने पर भी नयन उनके आगमन की बाट जोहना नहीं छोड़ते—

बरज्यो न माने नयन निठोर ।
सुमिरि सुमिरि गुन भये सजल घन, उमँगी चले मति फोर ॥१॥
चंचल चपल रहत नहिं रोके, न मानत जु निहोर ।
नित उठि चाहत गिरि को मारग, जेहि विधि चन्द्र चकोर ॥बरज्यो ॥२॥
तन मन धन यौवन नहीं भावत, रजनी न भावत भोर ।
रत्नकीरति प्रभु वेगो मिलो, तुम मेरे मन के चोर ॥३॥ बरज्यो ।

एक अन्य पद में राजुल कहती है कि नेमि ने पशुओं की पुकार तो सुन ली लेकिन उसकी पुकार क्यों नहीं सुनी । इसलिए यह कहा जा सकता है कि वे दूसरों का दर्द जानते ही नहीं हैं—

सखी री नेमि न जानी पीर ।
बहोत दिवाजे आये मेरे घरि, संग लेई हलधर वीर ॥१॥ सखी री ।
नेमि मुख निरखी हरषी मनसूं, अब तो होइ मन धीर ।
तामे पसूय पुकार सुनी करी, गयो गिरिवर के तीर ॥२॥ सखी री ।
चन्दवदनी पोकारती डारती, मण्डन हार उर चीर ।
रतनकीरति प्रभु भये वैरागी, राजुल चित कियो धीर ॥३॥ सखी री ।

एक पद में राजुल अपनी सखियों से नेमि से मिलाने की प्रार्थना करती है । वह कहती है कि नेमि के बिना यौवन, चन्दन, चन्द्रमा ये सभी फीके लगते हैं । माता-पिता, सखियाँ एवं रात्रि सभी दुख उत्पन्न करनेवाली हैं । इन्हीं भावों को रत्नकीर्ति के एक पद में देखिए—

सखि ! को मिलावे नेम नरिंदा ।
ता बिन तन मन यौवन रजत है, चारु चन्दन अरु चन्दा ॥१॥ सखि ।
कानन भुवन मेरे जीया लागत, दुःसह मदन को फन्दा ।
तात मात अरु सजनी रजनी, वे अति दुःख को कन्दा ॥२॥ सखि ।
तुम तो शंकर सुख के दाता, करम अति काए मन्दा ।
रतनकीरति प्रभु परम दयालु, सेवत अमर नरिन्दा ॥३॥ सखि. ।

अन्य रचनाएँ

इनकी अन्य रचनाओं में नेमिनाथ फाग एवं नेमिनाथ बारहमासा के नाम उल्लेखनीय हैं । नेमिनाथ फाग में ५७ पद्य हैं । इसकी रचना हाँसोट नगर में हुई थी । फाग में नेमिनाथ एवं राजुल के विवाह, पशुओं की पुकार सुनकर विवाह किये बिना ही वैराग्य धारण कर लेना और अन्त में तपस्या करके मोक्ष जाने की अति संक्षिप्त कथा दी हुई है । राजुल की सुन्दरता का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

चन्द्रवदनी मृगलोचनी, मोचनी खंजन मीन ।
वासग जीत्यो वेणिइं, श्रेणिय मधुकर दीन ।
युगल गल दाये शशि, उपमा नाशा कीर ।
अधर विद्रुम सम उपता, दन्तन निर्मल नीर ।
चिबुक कमल पर षट पद, आनन्द करे सुधापान ।
ग्रीवा सुन्दर सोभती, कम्बु कपोतने वान ॥१२॥

नेमिबारहमासा इनकी दूसरी बड़ी रचना है। इसमें १२ त्रोटक छन्द हैं। कवि ने इसे अपने जन्मस्थान घोघा नगर में चैत्यालय में लिखी थी। रचनाकाल का उल्लेख नहीं दिया गया है। इसमें राजुल एवं नेमि के १२ महीने किस प्रकार व्यतीत होते हैं यही वर्णन करना रचना का मुख्य उद्देश्य है।

अब तक कवि की ६ रचनाएं एवं ३८ पदों की खोज की जा चुकी है।

इस प्रकार सन्त रत्नकीर्ति अपने समय के प्रसिद्ध भट्टारक एवं साहित्य-सेवी विद्वान् थे। इनके द्वारा रचित पदों की प्रथम पंक्ति निम्न प्रकार है—

१. सारंग ऊपर सारंग सोहे सारंगत्यासार जी
२. सुण रे नेमि सामलीया साहेब क्यों बन छोरी जाय
३. सारंग सजी सारंग पर आवे
४. वृषभ जिन सेवो बहु प्रकार
५. सखी री सावन घटाई सतावे
६. नेम तुम कैसे चले गिरिनार
७. कारण कोउ पीया को न जाणे
८. राजुल गेहे नेमी जाय
९. राम सतावे रे मोही रावन
१०. अब गिरी बरज्यो न माने मोरो
११. नेमि तुम आवो धरिय घरे
१२. राम कहे अवर जया मोही मारी
१३. दशानन बीनती कहत होइ दास
१४. बरज्यो न माने नयन निठोर
१५. झीलते कहा करयो यदुनाथ
१६. सरदी की रयनि सुन्दर सोहात
१७. सुन्दरी सकल सिंगार करे गोरी
१८. कहा थे मंडन करु कजरा नैन भरु
१९. सुनो मेरी सयनी धन्य या रयनी रे
२०. *रयडी नीहालती रे पूछति सहे सावन नी बाट*
२१. सखी को मिलावो नेम नरिन्दा

२२. सखी री नेम न जानी पीर

२३. वन्देहं जनता शरण

२४. श्रीराग गावत सुर किन्नरी

२५. श्रीराग गावत सारंगधरी

२६. आजु आली आये नेम नो साउरी

२७. बली बन्धो का न वरज्यो अपनो

२८. आजो रे सखि सामलियो बहालो रथि परि रूडो भावे रे

२९. गोखि चढी जू ए रायुल राणी नेमिकुवर वर आवे रे

३०. आवो सोहामणी सुन्दरी वृन्द रे पूजिये प्रथम जिणद रे

३१. ललना समुद्र विजय सुत साम सरे यदुपति नेमकुमार हो

३२. सुखि सखि राजुल कहे हैडे हरष न माय लाल रे

३३. सशधर बदन सोहामणि रे, गजगामिनी गुणमाल रे

३४. वणारसी नगरी नो राजा अश्वसेन गुणधार

३५. श्रीजिन सनमति अवतर्या ना रंगी रे

३६. नेम जी दयालुडारे तू तो यादव कुल सिणगार

३७. कमल वदन करुणा निलयं

३८. सुदर्शन नाम के मै वारि

अन्य कृतियाँ

३९. महावीर गीत

४०. नेमिनाथ फागु

४१. नेमिनाथ का बारहमासा

४२. सिद्ध धूल

४३. बलिभद्रनी बीनती

४४. नेमिनाथ बीनती

मूल्यांकन

भट्टारक रत्नकीर्ति दिगम्बर जैन कवियों में प्रथम कवि हैं जिन्होंने इतनी अधिक संख्या में हिन्दी पद लिखे हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि उस समय कबीरदास, सूरदास एवं मीरा के पदों का देश में पर्याप्त प्रचार हो गया था और उन्हें अत्यधिक चाव से गाया जाता था। इन पदों के कारण देश में भगवद् भक्ति की ओर लोगों का स्वतः ही झुकाव हो रहा था। ऐसे समय में जैन साहित्य में इस कमी की पूर्ति के लिए भट्टारक रत्नकीर्ति ने इस दिशा में प्रयास किया और अध्यात्म एवं भक्तिपरक पदों के साथ-साथ विरहात्मक पद भी लिखे और पाठकों के समक्ष राजुल के जीवन को एक नये रूप

में प्रस्तुत किया। ऐसा लगता है कि कवि राजुल एवं नेमिनाथ की भक्ति में अधिक रुचि रखते थे इसलिए उन्होंने अपनी अधिकांश कृतियाँ इन्हीं दो पर आधारित करके लिखीं। नेमिनाथ गीत एवं नेमिनाथ बारहमासा के अतिरिक्त अपने हिन्दी पदों में राजुल-नेमि के सम्बन्ध को अत्यधिक भावपूर्ण भाषा में उपस्थित किया। सर्वप्रथम इन्होंने राजुल को एक नारी के रूप में प्रस्तुत किया। विवाह होने के पूर्व की नारी दशा को एवं तोरणद्वार से लौट जाने पर नारी हृदय को खोलकर अपने पदों में रख दिया। वास्तव में यदि रत्नकीर्ति के इन पदों का गहरा अध्ययन किया जाये तो कवि की कृतियों में हमें कितने ही नये चरणों की स्थापना मिलेगी। विवाह के पूर्व राजुल अपने पूरे श्रृंगार के साथ पति की बारात देखने के लिए महल की छत पर सहेलियों के साथ उपस्थित होती है। इसके पश्चात् पति के अकस्मात् वैराग्य धारण कर लेने के समाचारों से उसका श्रृंगार वियोग में परिणत हो जाता है। दोनों ही वर्णनों को कवि ने अपने पदों में उत्तम रीति से प्रस्तुत किया है।

भट्टारक रत्नकीर्ति की सभी रचनाएँ भाषा, भाव एवं शैली सभी दृष्टियों से अच्छी रचनाएँ हैं। कवि हिन्दी के जबरदस्त प्रचारक थे। संस्कृत के ऊँचे विद्वान् होने पर भी उन्होंने हिन्दी भाषा को ही अधिक प्रश्रय दिया और अपनी कृतियाँ इसी भाषा में लिखीं। उन्होंने राजस्थान के अतिरिक्त गुजरात में भी हिन्दी रचनाओं का ही प्रचार किया और इस तरह हिन्दी-प्रेमी कहलाने में अपना गौरव समझा। यही नहीं, रत्नकीर्ति के सभी शिष्य-प्रशिष्यों ने इस भाषा में लिखने का उपक्रम जारी रखा और हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाने में अपना पूर्ण योग दिया।

भट्टारक कुमुदचन्द्र

बारडोली गुजरात का प्राचीन नगर है। सन् १९२१ में यहाँ स्व. सरदार वल्लभ भाई पटेल ने भारत की स्वतन्त्रता के लिए सत्याग्रह का बिगुल बजाया था और बाद में वहीं की जनता द्वारा उन्हें 'सरदार' की उपाधि दी गयी थी। आज से ३५० वर्ष पूर्व भी यह नगर अध्यात्म का केन्द्र था। यहाँ पर ही सन्त कुमुदचन्द्र को उनके गुरु भट्टारक रत्नकीर्ति एवं जनता ने भट्टारक-पद पर अभिषिक्त किया था। इन्होंने यहाँ के निवासियों में धार्मिक चेतना जाग्रत् की एवं उन्हें सच्चरित्रता, संयम एवं त्यागमय जीवन अपनाने के लिए बल दिया। इन्होंने गुजरात एवं राजस्थान में साहित्य, अध्यात्म एवं धर्म की त्रिवेणी बहायी थी।

सन्त कुमुदचन्द्र वाणी से मधुर, शरीर से सुन्दर तथा मन से स्वच्छ थे। जहाँ भी उनका विहार होता जनता उनके पीछे हो जाती। उनके शिष्यों ने अपने गुरु की प्रशंसा में विभिन्न पद लिखे हैं। संयमसागर ने उनके शरीर को बत्तीस लक्षणों से सुशोभित, गम्भीर बुद्धि के धारक तथा वादियों के पहाड़ को तोड़ने के लिए वज्र-समान कहा है।[1] उनके दर्शनमात्र से ही प्रसन्नता होती थी। वे पाँच महाव्रत, तेरह प्रकार के चारित्र को धारण करनेवाले एवं बाईस परीषह को सहनेवाले थे।[2] एक दूसरे शिष्य धर्मसागर ने उनकी पात्रकेशरी, जम्बूकुमार, भद्रबाहु एवं गौतम गणधर से तुलना की है।[3]

उनके विहार के समय कुंकुम छिड़कने तथा मोतियों का चौक पूरने एवं बधावा गाने के लिए भी कहा जाता था।[4] उनके एक और शिष्य गणेश ने उनके निम्न शब्दों में प्रशंसा की है—

> कला बहोत्तर अंग रे, सीयले जीत्यो अनंग।
> माहंत मुनी मूलसंघ के सेवो सुरतरुजी ॥

---

१. ते बहु कूँखि उपनो वीर रे, बत्तीस लक्षण सहित शरीर रे।
बुद्धि बहोत्तरि छे गंभीर रे, वादी नग खण्डन वज्र समधीर रे॥

२. पंच महाव्रत पाले चंग रे, त्रयोदश चारित्र छे अभंग रे।
बावीस परीसा सहे अंगि रे, दरशन दीठे रंग रे।

३. पात्रकेशरी सम जाणियेरे, जाणो वे जम्बु कुमार रे।
भद्रबाहु यतिवर जयो, कलिकाले रे गोयम अवतार रे॥

४. सुन्दरि रे सहु आवो, तह्यें कुंकम छडो देवडावो।
वारु मोतिये चौक पूरावो, रूडा सहु गुरु कुमुदचन्दने बधावे॥

सेवो सज्जन आनन्द धनि कुमुदचन्द मुणिंद,
रतनकीरति पाटि चन्द के गछपति गुण निलोजी ॥१॥

जीवों की दया करने के कारण लोग उन्हें दया का वृक्ष कहते थे। विद्याबल से उन्होंने अनेक विद्वानों को अपने वश में कर लिया था। उनकी कीर्ति चारों ओर फैल गयी थी तथा राजा-महाराजा एवं नवाब उनके प्रशंसक बन गये थे।

कुमुदचन्द्र का जन्म गोपुर ग्राम में हुआ था। पिता का नाम सदाफल एवं माता का नाम पद्माबाई था। इन्होंने मोढ वंश में जन्म लिया था।[1] इनका जन्म का नाम क्या था, इसके विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। वे जन्म से होनहार थे।

बचपन से ही वे उदासीन रहने लगे और युवावस्था से पूर्व ही इन्होंने संयम धारण कर लिया। इन्द्रियों के ग्राम को उजाड़ दिया तथा कामदेवरूपी नाग को जीत लिया।[2] अध्ययन की ओर इनका विशेष ध्यान था। ये रात-दिन व्याकरण, नाटक, न्याय, आगम एवं छन्द-अलंकार-शास्त्र आदि का अध्ययन किया करते थे।[3] गोम्मटसार आदि ग्रन्थों का इन्होंने विशेष अध्ययन किया था। विद्यार्थी अवस्था में ही ये भट्टारक रत्नकीर्ति के शिष्य बन गये। इनकी विद्वत्ता, वाक्चातुर्य एवं अगाध ज्ञान को देखकर भट्टारक रत्नकीर्ति इन पर मुग्ध हो गये और इन्हें अपना प्रमुख शिष्य बना लिया। धीरे-धीरे इनकी कीर्ति बढ़ने लगी। रत्नकीर्ति ने बारडोली नगर में अपना पट्ट स्थापित किया था और संवत् १६५६ (सन् १५९९) वैशाख मास में इनका जैनों के प्रमुख सन्त (भट्टारक) के पद पर अभिषेक कर दिया।[4] यह सारा कार्य संघपति कान्हजी संघ बहन जीवादे, सहस्रकरण एवं उनकी धर्मपत्नी तेजलदे, भाई मल्लदास एवं बहन मोहनदे, गोपाल आदि की उपस्थिति में हुआ था। तथा इन्होंने कठिन परिश्रम

---

१. मोढ वंश शृंगारशिरोमणि, साह सदाफल तात रे।
जायो जतिवर जुग जयवन्तो, पद्माबाई सोहात रे॥

२. बालपणें जिणे संयम लाधो, धरायो वैराग रे।
इन्द्रिय ग्राम उजारया हेला, जीत्यो मद नाग रे।

३. अहनिशि छन्द व्याकरण नाटिक भणे न्याय आगम अलंकार।
बादी गज केसरी बिरुद्ध धारु वहे, सरस्वती गच्छ सिणगार रे।

४. संवत् सोल छपन्ने वैशाखे प्रकट पटोधर थाप्या रे।
रत्नकीर्ति गोर बारडोली वर सूर मंत्र शुभ आप्या रे।
भाई रे मन मोहन मुनिवर सरस्वती गच्छ सोहंत।
कुमुदचन्द भट्टारक उदयो भवियण मन मोहंत रे॥
—गुरुस्तुति, गनेश कृत

बारडोली मध्ये रे, पाट प्रतिष्ठा कीध मनोहार।
एक शत आठ कुम्भ रे, ढाल्या निर्मल जल अतिसार॥
सूर मन्त्र आपयो रे, सकलसंघ सानिध्य जयकार।
कुमुदचन्द्र नाम कहूवं रे, संघवि कुटम्ब प्रतपो उदार॥
—गुरुगीत, गनेश कृत

करके इस महोत्सव को सफल बनाया था।[1] तभी से कुमुदचन्द बारडोली के सन्त कहलाने लगे।

बारडोली नगर के एक लम्बे समय तक आध्यात्मिक, साहित्यिक एवं धार्मिक गति-विधियों का केन्द्र रहा। सन्त कुमुदचन्द्र के उपदेशामृत को सुनने के लिए वहाँ धर्मप्रेमी सज्जनों का हमेशा ही आना-जाना रहता। कभी तीर्थयात्रा करनेवालों का संघ उनका आशीर्वाद लेने आता तो कभी अपने-अपने निवास-स्थान के रजकणों को सन्त के पैरों से पवित्र कराने के लिए उन्हें निमन्त्रण देनेवाले वहाँ आते। संवत् १६८२ में इन्होंने गिरिनार जानेवाले एक संघ का नेतृत्व किया।[2] इस संघ के संघपति नागजी भाई थे, जिनकी कीर्ति चन्द्र-सूर्य-लोक तक पहुँच चुकी थी। यात्रा के अवसर पर ही कुमुदचन्द्र संघ सहित घोघा नगर आये, जो उनके गुरु रत्नकीर्ति का जन्मस्थल था। बारडोली वापस लौटने पर श्रावकों ने अपनी अपार सम्पत्ति का दान दिया।[3]

कुमुदचन्द्र आध्यात्मिक एवं धार्मिक सन्त होने के साथ-साथ साहित्य के परम आराधक थे। अब तक इनकी छोटी-बड़ी २८ रचनाएँ एवं ३० से भी अधिक पद प्राप्त हो चुके हैं। ये सभी रचनाएँ राजस्थानी भाषा में हैं, जिन पर गुजराती का प्रभाव है। ऐसा ज्ञात होता है कि ये चिन्तन, मनन एवं धर्मोपदेश के अतिरिक्त अपना सारा समय साहित्य-सृजन में लगाते थे। इनकी रचनाओं में गीत अधिक हैं, जिन्हें ये अपने प्रवचन के समय श्रोताओं के साथ गाते थे।[4] नेमिनाथ के तोरण द्वार पर आकर वैराग्य धारण करने की अद्भुत घटना से ये अपने गुरु रत्नकीर्ति के समान बहुत प्रभावित थे, इसीलिए इन्होंने नेमिनाथ एवं राजुल पर कई रचना लिखी है। उनमें नेमिनाथ बारहमासा,

---

१. संघपति कहान जी संघवेण जीवादेनो कन्त।
सहेसकरण सोहे रे तरुणो तेजलदे जयवन्त॥
मल्ल दास मनहरू रे नारी मोहन दे अति सन्त।
रमादे वीर भाई रे गोपाल वेजलदे मन मोहन्त

—गुरुगीत

संघवी कहान जी भाइया वीर भाई रे।
मल्लिदास जमला गोपाल रे॥
रूपजी संवत्सरे उछव अति कर्‌यो रे।
संघ मेली बाल गोपाल रे॥

—गीत-गणेश कृत

२. संवत सोल ब्यासीये संवच्छर गिरिनारि यात्रा कीधा।
श्री कुमुदचन्द्र गुरु नामि संघपति तिलक कहवा॥१३॥

—गीत धर्मसागर कृत

३. इणि परिउछव करता आव्या घोघानगर मझारि।
नेमि जिनेश्वर नाम जपन्ता उतर्‌या जलनिधिपार।
गाजते वाजते साहमा करीने आव्या बारडोली ग्राम
याचक जन सन्तोष्या धूतलि राख्यो नाम॥

४. देश विदेश विहार करे गुरु प्रति बोध प्राणी।
धर्म कथा रसने वरसन्ती, मीठी छे वाणी रे भाय॥

नेमीश्वर गीत, नेमिजिन गीत आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। राजुल का सौन्दर्य वर्णन करते हुए इन्होंने लिखा है—

> रूपे फूटडी मिटे जूठडी बोले मीठडीं वाणी।
> विद्रुम उठडो पल्लव गोठडी रसनी कोटडो बखांणी रे ॥
> सारंग वयणी सारंग नयणी सारंग मनी श्यामा हरी
> लंबी कटि भमरी वंकी शंकी करिनी मार रे ॥

कवि ने अधिकांश छोटी रचनाएँ लिखी हैं। उन्हें कण्ठस्थ भी किया जा सकता है। बड़ी रचनाओं में आदिनाथ विवाहलो, नेमीश्वरहमचो एवं भरत बाहुबलि छन्द हैं। शेष रचनाएँ गीत एवं विनतियों के रूप में हैं। यद्यपि सभी रचनाएँ सुन्दर एवं भावपूर्ण हैं लेकिन भरत बाहुबलि छन्द, आदिनाथ विवाहलो एवं नेमीश्वर हमची इनकी उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। भरत बाहुबलि एक खण्डकाव्य है, जिसमें मुख्यतः भरत और बाहुबलि के युद्ध का वर्णन किया गया है।

२. आदिनाथ विवाहलो

इसका दूसरा नाम ऋषभ विवाहलो भी है। यह भी छोटा खण्डकाव्य है, जिसमें ११ ढालें हैं। प्रारम्भ में ऋषभदेव की माता को १६ स्वप्नों का आना, ऋषभदेव का जन्म होना तथा नगर में विभिन्न उत्सवों का आयोजन का वर्णन किया गया है। फिर ऋषभ के विवाह का वर्णन है। अन्त की ढाल में उनका वैराग्य धारण करके निर्वाण प्राप्त करना भी बतला दिया गया है। कुमुदचन्द्र ने इसे भी संवत् १६७८ में घोघा नगर में रचा था।

३. नेमिनाथ बारहमासा

नेमिनाथ के विरह में राजुल किस प्रकार तड़फती थी तथा उसके बारह महीने किस प्रकार व्यतीत हुए, इसका नेमिनाथ बारहमासा में सजीव वर्णन किया है। इसी तरह का वर्णन कवि ने प्रणय गीत एवं हिंडोलना-गीत में भी किया है।

> फागुण केसु फूलीयो, नर नारी रमे वर फाग जी।
> हास विनोद करे घणा, किम नाहे धरयो वैराग जी।
> —नेमिनाथ बारहमासा

> सीयालो सगलो गयो, पणि नावियो यदुराय।
> तेह बिना मुझने झूरतां, एह दीहडा रे वरसा सो थायके।
> —प्रणय-गीत

४. वणजारा गीत

वणजारा गीत में कवि ने संसार का सुन्दर चित्र उतारा है। यह मनुष्य वणजारे के रूप में यों ही संसार से भटकता रहता है। वह दिन-रात पाप कमाता है और संसार-बन्धन से कभी भी नहीं छूटता।

पाप करयां ते अनन्त, जीवदया पाली नहीं।
साचो न बोलियो बोल, भरम मो साबहु बोलिया ।।

शील गीत में कवि ने चरित्र प्रधान जीवन पर अत्यधिक जोर दिया है। मानव को किसी भी दिशा में आगे बढ़ने के लिए चरित्र बल की आवश्यकता है। साधु-सन्तों एवं संयमी जनों को स्त्रियों से अलग ही रहना चाहिए—आदि का अच्छा वर्णन मिलता है। इसी प्रकार कवि की सभी रचनाएँ सुन्दर हैं।

पदों के रूप में कुमुदचन्द्र ने जो साहित्य रचना की है वह और भी उच्चकोटि की है। भाषा, शैली एवं भाव सभी दृष्टियों से ये पद सुन्दर हैं। 'मैं तो नर भव वादि गवायो' पद में कवि ने उन प्राणियों की सच्ची आत्मपुकार प्रस्तुत की है, जो जीवन में कोई भी शुभ कार्य नहीं करते हैं। अन्त में हाथ मलते ही चले जाते हैं।

'जो तुम दीन दयाल कहावत' पद भी भक्ति रस की सुन्दर रचना है। भक्ति एवं अध्यात्म-पदों के अतिरिक्त नेमि-राजुल सम्बन्धी भी पद हैं, जिनमें नेमिनाथ के प्रति राजुल की सच्ची पुकार मिलती है। नेमिनाथ के बिना राजुल को न प्यास लगती है और न भूख सताती है। नींद नहीं आती है और बार-बार उठकर गृह का आँगन देखती रहती है। यहाँ पाठकों के पठनार्थ दो पद दिये जा रहे हैं—

राग-धनश्री

मैं तो नर भव वादि गमायो।
न कियो जप तप व्रत विधि सुन्दर, काम भलो न कमायो।
मैं तो........।।१।।

विकट लोभ तें कपट कूट करी, निपट विषय लपटाओ।
विटल कुटिल शठ संगति बैठो, साधु निकट विघटायो ।। मैं तो....।२।

कृपण भयो कछु दान न दीनों, दिन दिन दाम मिलायो।
जब जीवन जंजाल पड्यो तब, पर त्रिया तनु चितलायो ।। मैं तो....।३।

अन्त समय कोउ संग न आवत, झूठहि पाप लगायो।
कुमुदचन्द्र कहे चूक परी मोही, प्रभु पद जस नहीं गायो ।। मैं तो....।४।

सखी री अब तो रह्यो नहिं जात ।
प्राणनाथ की प्रीति न बिसरत, क्षण क्षण छीजत गात ।। सखी ।।१।।
नहिं न भूख नहिं तिसु लागत, घरहिं घरहि मुरझात ।
मन तो उरझी रह्यो मोहन सुं, सेवन ही सुरझात ।। सखी ।।२।।
नाहिने नींद परती निसिवासर, होत विसुरत प्रात ।
चन्दन चन्द्र सजल नलिनीदल, मन्द मारुत न सुहात ।। सखी ।।३।।
गृह आंगन देख्यो नहीं भावत, दीन भई विललात ।
विरही बाउरी फिरत गिरि-गिरि, लोकन तें न लजात ।। सखी ।।४।।
पीउ विन पलक कल नहीं जीउकूं न रुचित रासिक गुबात ।
'कुमुदचन्द्र' प्रभु सरस दरस कूं, नयन चपल ललचात ।। सखी ।।५।।

राग-धनश्री

व्यक्तित्व

सन्त कुमुदचन्द्र संवत् १६५६ तक भट्टारक पद पर रहे। इतने लम्बे समय में इन्होंने देश में अनेक स्थानों पर विहार किया और जन-साधारण को धर्म एवं अध्यात्म का पाठ पढ़ाया। ये अपने समय के असाधारण सन्त थे। उनकी गुजरात तथा राजस्थान में अच्छी प्रतिष्ठा थी। जैन साहित्य एवं सिद्धान्त का उन्हें अप्रतिम ज्ञान था। वे सम्भवतः आशु कवि भी थे, इसलिए श्रावकों एवं जन-साधारण को पद्य रूप में ही कभी-कभी उपदेश दिया करते थे। इनके शिष्यों ने जो कुछ इनके जीवन एवं गतिविधियों के बारे में लिखा है, वह इनके अभूतपूर्व व्यक्तित्व की एक झलक प्रस्तुत करता है।

शिष्य-परिवार

वैसे तो भट्टारकों के बहुत-से शिष्य हुआ करते थे जिनमें आचार्य, मुनि, ब्रह्मचारी, आर्यिका आदि होते थे। अभी जो रचनाएं उपलब्ध हुई हैं, उनमें अभयचन्द्र, ब्रह्मसागर, धर्मसागर, संयमसागर, जयसागर एवं गणेशसागर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी शिष्य हिन्दी एवं संस्कृत के भारी विद्वान् थे और इनकी बहुत-सी रचनाएं उपलब्ध हो चुकी हैं। अभयचन्द्र इनके पश्चात् भट्टारक बने। इनके एवं इनके शिष्य-परिवार के विषय में आगे प्रकाश डाला जायेगा।

कुमुदचन्द्र की अब तक २८ रचनाएं एवं पद उपलब्ध हो चुके हैं, उनके नाम निम्न प्रकार हैं—

मूल्यांकन

भट्टारक रत्नकीर्ति ने जो साहित्य-निर्माण की पावन-परम्परा छोड़ी थी, उसे उनके उत्तराधिकारी भट्टारक कुमुदचन्द्र ने अच्छी तरह से निभाया। यही नहीं कुमुद-

चन्द्र ने अपने गुरु से भी अधिक कृतियाँ लिखीं और भारतीय समाज को अध्यात्म एवं भक्ति के साथ-साथ शृंगार एवं वीर रस का भी आस्वादन कराया। कुमुदचन्द्र के समय देश पर मुगल शासन था, इसलिए जहाँ-तहाँ युद्ध होते रहते थे। जनता में देशरक्षा के प्रति जागरूकता थी, इसलिए कवि ने भरत-बाहुबलि छन्द में जो युद्ध-वर्णन किया है वह तत्कालीन जनता की माँग के अनुसार था। इससे उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि जैन-कवि यद्यपि साधारणतः अध्यात्म एवं भक्तिपरक कृतियाँ लिखने में ही अधिक रुचि रखते हैं लेकिन आवश्यकता हो तो वे वीर रस-प्रधान रचना भी देश एवं समाज के समक्ष उपस्थित कर सकते हैं।

कुमुदचन्द्र के द्वारा निबद्ध पद-साहित्य भी हिन्दी-साहित्य की उत्तम निधि है। उन्होंने 'जो तुम दीनदयाल कहावत' पद में अपने हृदय को भगवान् के समक्ष निकालकर रख दिया है और वह अपने भक्तों के प्रति की जानेवाली उपेक्षा की ओर भी प्रभु का ध्यान आकृष्ट करना चाहता है और फिर 'अनाथनि कुं कछु दीजे' के रूप में प्रभु और भक्त के सम्बन्धों का बखान करता है। 'मैं तो नर भव वादि गमायो'—पद में कवि ने उन मनुष्यों को चेतावनी दी है, जो जीवन का कोई सदुपयोग नहीं करते और यों ही जगत् में आकर चल देते हैं। यह पद अत्यधिक सुन्दर एवं भावपूर्ण है। इसी तरह कुमुदचन्द्र ने नेमिनाथ-राजुल के जीवन पर जो पद-साहित्य लिखा है, वह भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। 'सखी री अब तो रह्यो नहिं जात' में राजुल की मनोदशा का अच्छा चित्र उपस्थित किया है। इसी तरह 'आली री बिरखा ऋतु आजु आयी' में राजुल के रूप में विरहिणी नारी के मन में उठनेवाले भावों को प्रस्तुत किया है। इस प्रकार कुमुदचन्द्र ने अपने पद-साहित्य में अध्यात्म, भक्ति एवं वैराग्यपरक पद-रचना के अतिरिक्त 'राजुल-नेमि' के जीवन पर जो पद-साहित्य लिखा है, वह भी हिन्दी-पद-साहित्य एवं विशेषतः जैन-साहित्य में एक नयी परम्परा को जन्म देने वाला रहा था। आगे होनेवाले कवियों ने इन दोनों कवियों की इस शैली का पर्याप्त अनुसरण किया था।

भट्टारक चन्द्रकीर्ति

[संवत् १६०० से १६६० तक]

भ. रत्नकीर्ति ने साहित्य निर्माण का जो वातावरण बनाया था तथा अपने शिष्य-प्रशिष्यों को इस ओर कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया था, इसी के फल-स्वरूप ब्रह्म जयसागर, कुमुदचन्द्र, चन्द्रकीर्ति, संयमसागर, गणेश और धर्मसागर-जैसे प्रसिद्ध सन्त साहित्यरचना की ओर प्रवृत्त हुए। 'आ. चन्द्रकीर्ति' भट्टारक रत्नकीर्ति प्रिय शिष्यों में से थे। ये मेधावी एवं योग्यतम शिष्य थे तथा अपने गुरु के प्रत्येक कार्य में सहयोग देते थे।

चन्द्रकीर्ति के गुजरात एवं राजस्थान प्रदेश प्रमुख क्षेत्र थे। कभी-कभी ये अपने गुरु के साथ और कभी स्वतन्त्र रूप से इन प्रदेशों में विहार करते थे। वैसे बारडोली, भडौंच, डूंगरपुर, सागवाडा आदि नगर इनके साहित्य निर्माण के स्थान थे। अब तक इनकी निम्न कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं—

१. सोलहकारण रास
२. जयकुमाराख्यान
३. चारित्र चुनडी
४. चौरासी लाख जीवनयोनि बीनती

उक्त रचनाओं के अतिरिक्त इनके कुछ हिन्दी पद भी उपलब्ध हुए हैं।

१. सोलहकारण रास

यह कवि की लघु कृति है। इसमें षोडशकारण व्रत का माहात्म्य बतलाया गया है। ४६ पद्योंवाले इस रास में रागौड़ी, देशी, दूहा, राग देशाख, त्रोटक, चाल, राग धन्यासी आदि विभिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है। कवि ने रचनाकाल का उल्लेख तो नहीं किया है किन्तु रचनास्थान भडौंच का अवश्य निर्दिष्ट किया है। भडौंच नगर में जो शान्तिनाथ का मन्दिर था वही इस रचना का समाप्ति स्थान था।[1]

---

१. श्री भरुयच नगरे सोहामणुं श्री शान्तिनाथ जिनराय रे।
प्रासादे रचना रचि, श्री चन्द्रकीरति गुण गाय रे ।४४।

२. जयकुमार आख्यान

यह कवि का सबसे बड़ा काव्य है जो ४ सर्गों में विभक्त है। जयकुमार प्रथम तीर्थंकर भट्टारक ऋषभदेव के पुत्र सम्राट् भरत के सेनाध्यक्ष थे। इन्हीं जयकुमार का इसमें पूरा चरित्र वर्णित है। आख्यान वीर रस प्रधान है। इसकी रचना बारडोली नगर के चन्द्रप्रभ चैत्यालय में संवत् १६५५ की चैत्र शुक्ला दशमी के दिन समाप्त हुई थी।

जयकुमार को सम्राट् भरत सेनाध्यक्ष पद पर नियुक्त करके शान्ति पूर्वक जीवन बिताने लगे। जयकुमार ने अपने युद्ध-कौशल से सारे साम्राज्य पर अखण्ड शासन स्थापित किया। वे सौन्दर्य के खजाने थे। एक बार वाराणसी के राजा अकम्पन ने अपनी पुत्री सुलोचना के विवाह के लिए स्वयंवर का आयोजन किया। स्वयंवर में जयकुमार भी सम्मिलित हुए। इसी स्वयंवर में 'सम्राट् भरत' के एक राजकुमार अर्ककीर्ति भी गये थे, लेकिन जब सुलोचना ने जयकुमार के गले में माला पहना दी तो वह अत्यन्त क्रोधित हुए। अर्ककीर्ति एवं जयकुमार में युद्ध हुआ और अन्त में जयकुमार का सुलोचना के साथ विवाह हो गया।

इस आख्यान के प्रथम अधिकार में जयकुमार-सुलोचना विवाह का वर्णन है। दूसरे और तीसरे अधिकार में जयकुमार के पूर्व भवों का वर्णन और चतुर्थ एवं अन्तिम अधिकार में जयकुमार के निर्वाण प्राप्ति का वर्णन किया गया है।

आख्यान में वीर रस, श्रृंगार रस एवं शान्त रस का प्राधान्य है। इसकी भाषा राजस्थानी डिंगल है। यद्यपि रचना-स्थान बारडोली नगर है, लेकिन गुजराती शब्दों का बहुत ही कम प्रयोग किया गया है, इससे कवि का राजस्थानी प्रेम झलकता है।

कवि ने इसे संवत् १६५५ में समाप्त किया था। इसे यदि अन्तिम रचना भी माना जाये तो उसका समय संवत् १६६० तक का निश्चित होता है। इसके अतिरिक्त कवि ने अपने गुरु के रूप में केवल रत्नकीर्ति का ही नामोल्लेख किया है, जबकि संवत् १६६० तक तो रत्नकीर्ति के पश्चात् कुमुदचन्द्र भी भट्टारक हो गये थे, इसलिए यह भी निश्चित-सा है कि कवि ने रत्नकीर्ति से ही दीक्षा ली थी और उनकी मृत्यु के पश्चात् वे संघ से अलग ही रहने लगे थे। ऐसी अवस्था में कवि का समय यदि संवत् १६०० से १६६० तक मान लिया जाये तो कोई आश्चर्य नहीं होगा।

अन्य कृतियाँ

जयकुमाराख्यान एवं सोलहकारण रास के अलावा अन्य सभी रचनाएँ लघु रचनाएँ हैं। किन्तु भाव एवं भाषा की दृष्टि से उल्लेखनीय कवि का एक पद देखिए :—

राग प्रभाति :

जागता जिनवर जे दिन निरख्यो
धन्य ते दिवस चिन्तामणि सरिखो।

सुप्रभाति मुख कमल जु दीठु
वचन अमृत थकी अधिकजु मीठु (१)
सफल जनम हुवो जिनवर दीठा ।
करण सफल सुण्या तुह्य गुण मीठा (२)
धन्य ते जे जिनवर पद पूजे
श्री जिन तुम्ह बिन देव न दूजो (३)
स्वर्ग मुगति जिन दरसनि पामे,
'चन्द्रकीरति' सूरि सीसज नामे (४)

भट्टारक अभयचन्द्र

[संवत् १६८५ से १७२१ तक]

अभयचन्द्र नाम के दो भट्टारक हुए हैं। प्रथम अभयचन्द्र भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य थे, जिन्होंने एक स्वतन्त्र भट्टारक-संस्था को जन्म दिया। उनका समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का द्वितीय चरण था। दूसरे अभयचन्द्र इन्हीं की परम्परा में होने वाले भट्टारक कुमुदचन्द्र के शिष्य थे। यहां इन्ही दूसरे अभयचन्द्र का परिचय दिया जा रहा है।

अभयचन्द्र भट्टारक थे और कुमुदचन्द्र की मृत्यु के पश्चात् भट्टारक गादी पर बैठे थे। यद्यपि अभयचन्द्र का गुजरात से काफ़ी निकट का सम्बन्ध था, लेकिन राजस्थान में भी इनका बराबर विहार होता था और ये गाँव-गाँव एवं नगर-नगर में भ्रमण करके जनता से सीधा सम्पर्क बनाये रखते थे। अभयचन्द्र अपने गुरु के योग्यतम शिष्य थे। उन्होंने भट्टारक रत्नकीर्ति एवं भट्टारक कुमुदचन्द्र का शासनकाल देखा था और देखी थी उनकी 'साहित्य-साधना'। इसलिए जब ये स्वयं प्रमुख सन्त बने तो इन्होंने भी उसी परम्परा को बनाये रखा। संवत् १६८५ की फाल्गुन सुदी ११ सोमवार के दिन बारडोली नगर में इनका पट्टाभिषेक हुआ और इस पद पर संवत् १७२१ तक रहे।

अभयचन्द्र का जन्म सं. १६४० के लगभग हूंबड़ वंश में हुआ था। इनके पिता का नाम श्रीपाल एवं माता का नाम कोड़मदे था। बचपन से ही बालक अभयचन्द्र को साधुओं की मण्डली में रहने का सुअवसर मिल गया था। हेमजी कुंअरजी इनके भाई थे—सम्पन्न घराने के थे। युवावस्था के पहले ही इन्होंने पाँचों महाव्रतों का पालन प्रारम्भ किया था।[१] इसी के साथ इन्होंने संस्कृत, प्राकृत के ग्रन्थों का उच्चाध्ययन किया। न्यायशास्त्र में पारंगतता प्राप्त की तथा अलंकार-शास्त्र एवं नाटकों का गहरा अध्ययन किया।[२] अच्छे वक्ता तो ये प्रारम्भ से ही थे, किन्तु विद्वत्ता के होने से सोने-सुगन्ध का-सा सुन्दर समन्वय हो गया।

---

१. हूंबड वंशे श्रीपाल साह तात, जनम्यो रूड़ी रतन कोड़मदे मात।
लघु पणें लीधो महाव्रत भार, मनवश करी जीत्यो दुर्द्धर भार।

२. तर्क नाटक आगम अलंकार, अनेक शास्त्र भण्या मनोहार।
भट्टारक पद ए हने छाजे, जेहने यश जग मां वास गाजे।

जब उन्होंने युवावस्था में पदार्पण किया तो त्याग एवं तपस्या के प्रभाव से इनकी मुखाकृति स्वयमेव आकर्षक बन गयी और जनता के लिए ये आध्यात्मिक जादूगर बन गये। इनके सैकड़ों शिष्य थे जो स्थान-स्थान पर ज्ञान-दान किया करते थे। इनके प्रमुख शिष्यों में गणेश, दामोदर, धर्मसागर, देवजी व रामदेव के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। जितनी अधिक प्रशंसा शिष्यों द्वारा इनकी (भ. अभयचन्द्र) की गयी, सम्भवतः अन्य भट्टारकों की उतनी अधिक प्रशंसा देखने में अभी नहीं आयी। एक बार भ. अभयचन्द्र का सूरत नगर में पदार्पण हुआ, वह संवत् १७०६ का समय था। सूरत नगर-निवासियों ने उस समय इनका भारी स्वागत किया। घर-घर उत्सव किये गये, कुंकुम छिड़का गया और अंग-पूजा का आयोजन किया गया। इन्हीं के एक शिष्य देवजी—जी उस समय स्वयं वहाँ उपस्थित थे, ने निम्न प्रकार इनके सूरत नगर आगमन का वर्णन किया है—

आज आणंद मन अति घणो ए, काई बरत यो जय जयकार।
अभयचन्द्र मुनि आवया ए, काई सुरत नगर मझार रे ।।आज आणंद ।।१।।

घरे घरे उछव अति घणए, काई माननी मंगल गाये रे।
अंग पूजा ने उवराणा ए, काई कुंकुम छडादेवडाय रे ।।आज. ।।२।।

श्लोक बखाणें गोर सोभता रे, वाणी मीठी अपार साल रे।
धर्मकथा ये प्राणी ने प्रतिबोधे ए, कांई कुमति करे परिहारे रे ।।३।।

संवत् सतर छलोतरे, कांई हीरजी प्रेमजीनी पूगी आस रे।
रामजी ने श्रीपाल हरखीया ए, कांई वेलजी कुंअरजी मोहनदास रे ।।४।।

गोतम समगोर सोभतो ए, काई बूधे जयो अभयकुमार रे।
सकल कला गुण मंडणों ए, काई देवजी कहे उदयो उदार रे ।।आज.।।५।।

श्रीपाल १८वीं शताब्दी के प्रमुख साहित्य-सेवी थे। इनकी कितनी ही हिन्दी रचनाएँ अभी लेखक को कुछ समय पूर्व प्राप्त हुई थीं। स्वयं कवि श्रीपाल भट्टारक अभयचन्द्र से अत्यधिक प्रभावित थे। इसलिए स्वयं भट्टारकजी महाराज की प्रशंसा में लिखा गया कवि का एक पद देखिए। इस पद के अध्ययन से हमें अभयचन्द्र के आकर्षक व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक मिलती है। पद निम्न प्रकार है—

चन्द्रवदनी मृग लोचनी नारि।
अभयचन्द्र गछ नायक वांदो, सकल संघ जयकारि ।।१।।चन्द्र. ।।
मदन माहामद मोडे ए मुनिवर, गोयस सम गुणधारी।
क्षमावंतवि गंभिर विचक्षण, गरुयो गुण भण्डारी ।।चन्द्र.।।२।।
निखिलकला विधि विमल विद्या निधि विकटवादी हठहारी।
रम्य रूप रंजित नर नायक, सज्जन जन सुखकारी ।।चन्द्र.।।३।।

सरसति गछ शृंगार शिरोमणी, मूल संघ मनोहारी ।
कुमुदचन्द्र पदकमल दिवाकर, 'श्रीपाल' तुम बलीहारी ॥चन्द्र.॥४॥

गणेश भी अच्छे कवि थे । इनके कितने ही पद, स्तवन एवं लघु कृतियाँ उपलब्ध हो चुकी हैं । भट्टारक अभयचन्द्र के आगमन पर कवि ने जो स्वागत गान लिखा था और जो उस समय सम्भवतः गाया भी गया था, उसे पाठकों के अवलोकनार्थ यहाँ दिया जा रहा है :

आजु भले आये जन दिन धन रयणी ।
शिवया नन्दन बन्दी रत तुम, कनक कुसुम बधावो मृगनयनी ॥१॥
उज्जल गिरि पाय पूजी परमगुरु सकल संघ सहित संग सयनी ।
मृदंग बजावते गावते गुनगनी, अभयचन्द्र पटधर आयो गजगयनी ॥२॥
अब तुम आये भली करी, घरी घरी जय शब्द भविक सब कहेनी ।
ज्यों चकोरी चन्द्र कुं इयत, कहत गणेश विशेषकर वयनी ॥३॥

इसी तरह कवि के एक और शिष्य दामोदर ने भी अपने गुरु की भूरि-भूरि प्रशंसा की है । गीत में कवि के माता-पिता के नाम का भी उल्लेख किया है तथा लिखा है कि भट्टारक अभयचन्द्र ने कितने ही शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त की थी । पूरा गीत निम्न प्रकार है—

वांदो बन्दो सखी री श्री अभयचन्द्र गोर वांदो ।
मूल संग मण्डण दुरित निकन्दन, कुमुदचन्द्र पगी बन्दो ॥१॥
शास्त्र सिद्धान्त पूरण ए जाण, प्रतिबोधे भवियण अनेक ।
सकल कला करी विदवने रंजे, भंजे वादि अनेक ॥२॥
हूंबड़ वंश विख्यात वसुधा श्रीपाल साधन तात ।
जायो जननींइ पतिय शवन्तो, कोड़मदे धन मात ॥३॥
रतनचन्द पाटि कुमुदचन्दयति, प्रेमे पूजो पाय ।
तास पाटि श्री अभयचन्द्र गोर 'दामोदर' नित्य गुणगाय ॥४॥

उक्त प्रशंसात्मक गीतों से यह तो निश्चित-सा जान पड़ता है कि अभयचन्द्र की जैन-समाज में काफ़ी अधिक लोकप्रियता थी । उनके शिष्य साथ रहते थे और जनता को भी उनका स्तवन करने की प्रेरणा किया करते थे ।

अभयचन्द्र प्रचारक के साथ-साथ साहित्य निर्माता भी थे । यद्यपि अभी तक उनकी अधिक रचनाएँ उपलब्ध नहीं हो सकी हैं, लेकिन फिर भी उन प्राप्त रचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनकी कोई बड़ी रचना भी मिलनी चाहिए । कवि ने लघु गीत अधिक लिखे हैं । इसका प्रमुख कारण तत्कालीन साहित्यिक वातावरण ही था । अब तक इनकी छोटी-बड़ी १० रचनाएँ तथा कुछ गीत मिल चुके हैं जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—

१. वासुपूज्यनी धमाल	१० पद्य
२. चन्दागीत	२६ पद्य
३. सूखड़ी	३७ पद्य
४. चतुर्विंशति तीर्थंकर लक्षण गीत	११ पद्य
५. पद्मावती गीत	११ पद्य
६. गीत	
७. गीत	
८. नेमीश्वरनुं ज्ञान कल्याणक गीत	
९. आदीश्वरनाथनुं पंचकल्याणक गीत	
१०. बलभद्र गीत	

इस प्रकार कविवर अभयचन्द्र ने अपनी लघु रचनाओं के माध्यम से हिन्दी साहित्य की जो महती सेवा की थी, वह सदा स्मरणीय रहेगी।

भट्टारक महीचन्द्र

भट्टारक महीचन्द्र नाम के तीन भट्टारक हो चुके हैं। इनमें से प्रथम विशालकीर्ति के शिष्य थे जिनकी कितनी ही रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। दूसरे महीचन्द्र भट्टारक वादिचन्द्र के शिष्य थे तथा भट्टारक सहस्रकीर्ति के शिष्य थे। लवांकुश छप्पय के कवि भी सम्भवतः वादिचन्द्र के ही शिष्य थे। 'नेमिनाथ समवशरण विधि' उदयपुर के खण्डेलवाल मन्दिर के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है उसमें उन्होंने अपने को भट्टारक वादिचन्द्र का शिष्य लिखा है।

श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छ जाणो,
बलातकार गण बखाणों।
श्री वादिचन्द्र मने आणों,
श्री नेमीश्वर चरण नमेसूं ॥३२॥

तस पाटे महीचन्द्र गुरु थाप्यो,
देश विदेश जग बहु व्याप्यो।
श्री नेमीश्वर चरण नमेसूं ॥३३॥

उक्त रचना के अतिरिक्त आपकी 'आदिनाथविनति', 'आदित्यव्रत कथा' आदि रचनाएँ और भी उपलब्ध होती हैं। 'लवांकुश छप्पय' कवि की सबसे बड़ी रचना है। इसमें छप्पय छन्द के ७० पद्य हैं। जिनमें राम के पुत्र लव एवं कुश की जीवनगाथा का वर्णन है। भाषा राजस्थानी है जिस पर गुजराती एवं मराठी का प्रभाव है। रचना साहित्यिक है तथा उसमें घटनाओं का अच्छा वर्णन मिलता है। इसे हम खण्डकाव्य का रूप दे सकते हैं। कथा राम के लंका विजय एवं अयोध्या आगमन के बाद से प्रारम्भ होती है।

भाषा

महीचन्द्र की इस रचना को हम राजस्थानी डिंगल भाषा की एक कृति कह सकते हैं। डिंगल की प्रमुख रचना कृष्ण-रुक्मिणी वेलि के समान है। इसमें भी डिंगल शब्दों का प्रयोग हुआ है। यद्यपि छप्पय का मुख्य रस शान्त रस है लेकिन आधे से अधिक छन्द वीर रस प्रधान है। शब्दों को अधिक प्रभावशील बनाने के लिए चल्यो, छल्यो, *पामया, लाज्या, आव्यो, पाड्या, चल्यो, नम्यां, उपसम्यां, बोल्या आदि क्रियाओं का*

प्रयोग हुआ है। 'तुम' 'हम' के स्थान पर तुह्म, अह्म का प्रयोग करना कवि को प्रिय है। डिंगल शैली के कुछ पद्य निम्न प्रकार हैं—

रण निसाण बजाय सकल सैन्या तव मेली।
चढ्यो दिवाजे करि कटक करि दश दिश भेजी ॥
हस्ति तुरंग मसूर भार करि शेषज शंको,
खडगादिक हथियार देख रवि शशि पण कम्प्यो ॥
पृथ्वी आन्दोलित थई छत्र चमर रवि छादयो।
पृथु राजा ने चरे कह्यो, व्याघ्र राम तवे आवयो ॥१५॥

ईध्या के असवार हणीगय वरनि घष्टा।
रथ घच कूचर हणी वली हयनी थटा ॥
लव अंकुश युद्ध देख दशो दिशि नाथ जावे।
पृथुराजा बहु बडे लोहि पण जुगति न पावे ॥
वज्र जंघ नृप देखतों बल साथे भागो यदा।
कुल सील हीन केतो जिते पृथु रा पगे पड्यो तदा ॥२॥

भट्टारक वीरचन्द्र

भट्टारकीय बलात्कारगण शाखा के संस्थापक भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति थे, जो सन्त शिरोमणि भट्टारक पद्मनन्दि के शिष्यों में से थे। जब देवेन्द्रकीर्ति ने सूरत में भट्टारक गादी की स्थापना की थी, उस समय भट्टारक सकलकीर्ति का राजस्थान एवं गुजरात में जबरदस्त प्रभाव था और सम्भवतः इसी प्रभाव को कम करने के उद्देश्य से देवेन्द्रकीर्ति ने एक और नयी भट्टारक संस्था को जन्म दिया। भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के पीछे एवं वीरचन्द्र के पहले तीन और भट्टारक हुए जिनके नाम विद्यानन्दि (सं. १४९९-१५३७), मल्लिभूषण (१५४४-५५) और लक्ष्मीचन्द्र (१५५६-८२)। वीरचन्द भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य थे और इन्हीं की मृत्यु के पश्चात् ये भट्टारक बने थे। यद्यपि इनका सूरत गादी से सम्बन्ध था, लेकिन ये राजस्थान के अधिक समीप थे और इस प्रदेश में खूब विहार किया करते थे।

'सन्त वीरचन्द्र' प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे। व्याकरण एवं न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड वेत्ता थे। छन्द, अलंकार एवं संगीत शास्त्र के मर्मज्ञ थे। वे जहाँ जाते अपने भक्तों की संख्या बढ़ा लेते एवं विरोधियों का सफ़ाया कर देते। वाद-विवाद में उनसे जीतना बड़े-बड़े महारथियों के लिए भी सहज नहीं था। वे अपने साधु जीवन को पूरी तरह निभाते और गृहस्थों को संयमित जीवन रखने का उपदेश देते। एक भट्टारक पट्टावली में उनका निम्न प्रकार परिचय दिया गया है—

"तदवंशमंडन-कंदर्पदर्पदलन-विश्वलोकहृदयरंजनमहाव्रतीपुरंदराणां, नवसहस्र-प्रमुखदेशाधिपराजाधिराजश्रीअर्जुनजीवराजसभामध्यप्राप्तसन्मानानां, षोडशवर्षपर्यन्तशाक-पाकपक्वान्नशाल्योदनादिसर्पिप्रभृतिसरसहारपरिवर्जितानां, व्याकरणप्रमेयकमलमार्त्तण्डछन्दो-लंकृतिसारसाहित्यसंगीतसकलतर्कसिद्धान्तागमशास्त्रसमुद्रपारंगतानां, सकलमूलोत्तरगुण-गणमणिमण्डितविबुधवरश्री वीरचन्द्र भट्टारकाणां...."

उक्त प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि वीरचन्द्र ने नवसारी के शासक अर्जुन जीवराज से खूब सम्मान पाया तथा १६ वर्ष तक नीरस आहार का सेवन किया। वीरचन्द्र की विद्वत्ता का इनके बाद होनेवाले कितने ही विद्वानों ने उल्लेख किया है। भट्टारक शुभचन्द्र ने अपनी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका में इनकी प्रशंसा में निम्न पद्य लिखा है—

भट्टारकपदाधीशः मूलसंघे विदांवराः
रमावीरेन्दु-चिद्रूपः पुरेवा हि गणेशिनः ॥१०॥

भट्टारक सुमतिकीर्ति ने इन्हें वादियों के लिए अजेय स्वीकार किया है और उनके लिए वज्र के समान माना है। अपनी प्राकृत पंचसंग्रह की टीका में इनके यश को जीवित रखने के लिए निम्न पद्य लिखा है :

दुर्वारदुर्वादिकपर्वतानां वज्रायमानो वरवीरचन्द्रः।
तदन्वये सूरिवरप्रधानो ज्ञानादिभूषो गणिगच्छराजः॥

इसी तरह भट्टारक वादिचन्द्र ने अपनी शुभगसुलोचना चरित में वीरचन्द्र की विद्वत्ता की प्रशंसा की है और कहा है कि कौन-सा मूर्ख उनके शिष्यत्व को स्वीकार कर विद्वान् नहीं बन सकता।

वीरचन्द्रं समाश्रित्य के मूर्खा न विदो भवन्।
तं (श्रये) त्यक्त सार्वज्ञ दीप्त्या निर्जितकाञ्चनम्॥

वीरचन्द्र जबरदस्त साहित्य-सेवी थे। वे संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी एवं गुजराती के पारंगत विद्वान् थे। यद्यपि अब तक उनकी केवल ८ रचनाएँ ही उपलब्ध हो सकी हैं, लेकिन वही उनकी विद्वत्ता का परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं। इनकी रचनाओं के नाम निम्न प्रकार हैं—

१. वीर विलास फाग
२. जम्बूस्वामी वेलि
३. जिन आन्तरा
४. सीमंधरस्वामी गीत
५. सम्बोध सत्ताणु
६. नेमिनाथ रास
७. चित्तनिरोध कथा
८. बाहुबलि वेलि

१. वीर विलास फाग

वीर विलास फाग एक खण्डकाव्य है, जिसमें २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ की जीवन की एक घटना का वर्णन किया गया है। फाग में १३७ पद्य हैं। इसकी एक हस्तलिखित प्रति उदयपुर के खण्डेलवाल दिगम्बर जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है। यह प्रति संवत् १६८६ में भट्टारक वीरचन्द्र के शिष्य भट्टारक महीचन्द के उपदेश से लिखी गयी थी। ब्र. ज्ञानसागर इसके प्रतिलिपिकार थे।

रचना के प्रारम्भ में नेमिनाथ के सौन्दर्य एवं शक्ति का वर्णन किया गया है, इसके पश्चात् उनकी होनेवाली पत्नी राजुल की सुन्दरता का वर्णन मिलता है। विवाह के अवसर पर नगर की शोभा दर्शनीय हो जाती है तथा वहाँ विभिन्न उत्सव मनाये जाते हैं। नेमिनाथ की बारात बड़ी सजधज के साथ आती है लेकिन तोरण द्वार के निकट पहुँचने के पूर्व ही नेमिनाथ एक चौक में बहुत-से पशुओं को देखते हैं और जब

उन्हें सारथी द्वारा यह मालूम होता है कि वे सभी पशु बरातियों के लिए एकत्रित किये गये हैं तो उन्हें तत्काल वैराग्य हो जाता है और वे बन्धन तोड़कर गिरनार चले जाते हैं। राजुल को जब उनकी वैराग्य लेने की घटना मालूम होती है तो वह घोर विलाप करती है, बेहोश होकर गिर पड़ती है। वह स्वयं भी अपने सब आभूषणों को उतारकर तपस्वी जीवन धारण कर लेती है। रचना के अन्त में नेमिनाथ के तपस्वी जीवन का भी अच्छा वर्णन मिलता है।

फाग सरस एवं सुन्दर है। कवि के सभी वर्णन अनूठे हैं और उनमें जीवन है तथा काव्यत्व के दर्शन होते हैं। नेमिनाथ की सुन्दरता का एक वर्णन देखिए—

वेलि कमल दल कोमल, सामल वरण शरीर।
त्रिभुवनपति त्रिभुवन निलो, नीलो गुण गम्भीर ॥७॥
माननी मोहन जिनवर, दिन दिन देह दिपन्त।
प्रलम्ब प्रताप प्रभाकर, भवहर श्री भगवन्त ॥८॥
लीला ललित नेमीश्वर, अलवेश्वर उदार।
प्रहसित पंकज पंखड़ी, अखंडी रूपि अपार ॥९॥
अति कोमल गल गन्दल, प्रविमल वाणी विशाल।
अंगि अनोपम निरुपम, मदन........निवास ॥१०॥

इसी तरह राजुल के सौन्दर्य वर्णन को भी कवि के शब्दों में पढ़िए—

कठिन सुपीन पयोधर, मनोहर अति उतंग।
चम्पक वर्णी चन्द्राननी, माननी सोहि सुरंग ॥१७॥
हरणी हरखी निज नयणीउ, वयणीउ साह सुरंग।
दन्त सुपन्ती दीपन्ती, सोहन्ती सिरवेणी बन्ध ॥१८॥
कनक केरी जसी पूतली, पातली पदमनी नारि।
सतीय शिरोमणि सुन्दरी, भवतरी अवनि मझारि ॥१९॥
ज्ञान-विज्ञान विचक्षणी, सुलक्षणी कोमल काय।
दान सुपात्रह पेखती, पूजती श्री जिनवर पाय ॥२०॥
राजमती रलीयामणी, सोहामणि सुमधुरीय वाणि।
भंभर भ्योली भामिनी, स्वामिनी सोहि सुराणि ॥२१॥
रूपि रम्भा सुतिलोत्तमा, उत्तम अंगि आचार।
परणितुं पुण्यवन्ती तेहमि, नेह करी नेमिकुमार ॥२२॥

फाग के अन्य सुन्दरतम वर्णनों में राजुल-मिलाप भी एक उल्लेखनीय स्थल है। वर्णनों के पढ़ने के पश्चात् पाठकों के स्वयमेव आँसू बह निकलते हैं। इस वर्णन का एक स्थल देखिए—

कनकमि कंकण मोड़ती, तोड़ती मिणि मिहार।
लूंचती केश-कलाप, विलाप करि अनिवार ॥७०॥

नयणि नीर काजलि गलि, टलवलि भामिनी भूर ।
किम करूं कहि रे साहेलड़ी, विहि नडि गयो मझनाह ॥७१॥

काव्य के अन्त में कवि ने जो अपना परिचय दिया है, वह निम्न प्रकार है—

श्री मूल संधि महिमा निलो, जती तिलो श्री विद्यानन्द ।
सूरी श्री मल्लिभूषण जयो, जयो सूरी लक्ष्मीचन्द ॥१३५॥
जयो सूरी श्री वीरचन्द गुणिन्द, रच्यो जिणि फाग ।
गांता सामलता ए मनोहर, सुखकर श्री वीतराग ॥१३६॥
जी हाँ मेदिनी मेरु महीधर, द्वीप सायर वगि जाम ।
तिहाँ लगि ए चदो, नदो, सदा फाग ए ताम ॥१३७॥

रचना-काल

कवि ने फाग के रचनाकाल का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है । लेकिन यह रचना सं. १६०० के पहले की मालूम होती है ।

२. जम्बूस्वामी वेलि

यह कवि की दूसरी रचना है । इसकी एक अपूर्ण प्रति लेखक को उदयपुर (राजस्थान) के खण्डेलवाल दिगम्बर जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार में उपलब्ध हुई थी । वह एक गुटके में संग्रहीत है । प्रति जीर्ण अवस्था में है और उसके कितने ही स्थलों से अक्षर मिट गये हैं । इसमें अन्तिम केवली जम्बूस्वामी का जीवन चरित वर्णित है ।

जम्बूस्वामी का जीवन जैन कवियों के लिए आकर्षक रहा है । इसलिए संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी एवं अन्य भाषाओं में उनके जीवन पर विविध कृतियाँ उपलब्ध होती हैं ।

'वेलि' की भाषा गुजराती मिश्रित राजस्थानी है, जिस पर डिंगल का प्रभाव है । यद्यपि वेलि काव्यत्व की दृष्टि से उतनी उच्चस्तर की रचना नहीं है, किन्तु भाषा के अध्ययन की दृष्टि से यह एक अच्छी कृति है । इसमें दूहा, त्रोटक एवं चाल छन्दों का प्रयोग हुआ है । रचना का अन्तिम भाग जिसमें कवि ने अपना परिचय दिया है, निम्न प्रकार है—

श्री मूलसंघे महिमा निलो, अने देवेन्द्र कीरति सूरि राय ।
श्री विद्यानन्दि वसुधां निलो, नरपति सेवे पाय ॥१॥
तेह वारें उदयो गति लक्ष्मीचन्द्र जेण आण
श्री मल्लिभूषण महिमा घणों, नमे ग्यासुद्दीन सुलतान ॥२॥
तेह गुरुचरण कमलनमी, अनें वेल्लि रचो छे रसाल ।
श्री वीरचन्द्र सूरीवर कहें, गांता पुण्य अपार ॥३॥

जम्बूकुमार केवली हुवा, अमें स्वर्ग-मुक्ति दातार ।
जे भवियण भावें भावसे, ते तरसे संसार ॥४॥

कवि ने इसमें भी रचनाकाल का कोई उल्लेख नहीं किया है ।

३. जिन आन्तरा

यह कवि की लघु रचना है, जो उदयपुर के उसी गुटके में संग्रहीत है । इसमें २४ तीर्थंकरों के एक के बाद दूसरे तीर्थंकर होने में जो समय लगता है—उसका वर्णन किया गया है । काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से रचना सामान्य है । भाषा भी वही है, जो कवि की अन्य रचनाओं की है । रचना का अन्तिम भाग निम्न प्रकार है—

सत्य शासन जिन स्वामीनूं, जेहने तेहने रंग ।
हो जाते वंशे भला, ते नर चतुर सुचंग ॥६॥
जगें जनम्यूं धन्य तेहनूं, तेहनूं जीव्यूं सार ।
रंग लागे जेहने मनें, जिन शासनह मझार ॥७॥
श्री लक्ष्मीचन्द्र गुरु गच्छपती, तिस पाटेंसार शृंगार ।
श्री वीरचन्द्र गोरे कह्या, जिन आन्तरा उदार ॥८॥

४. सम्बोध सत्ताणु भावना

यह एक उपदेशात्मक कृति है, जिसमें ५७ पद्य हैं तथा सभी दोहों के रूप में हैं । इसकी प्रति भी उदयपुर के उसी गुटके में संग्रहीत है जिसमें कवि की अन्य रचनाएँ हैं । भावना के अन्त में कवि ने अपना परिचय भी दिया है जो निम्न प्रकार है :

सूरि श्री विद्यानन्दि जयो, श्री मल्लिभूषण मुनिचन्द्र ।
तस पाटे महिमा निलो, गुरु श्री लक्ष्मीचन्द्र ॥९६॥
तेह कुलकमल दिवसपति, जपतो यति वीरचन्द ।
सुणतां भणतां ए भावना, पामीइ परमानन्द ॥९७॥

भावना में सभी दोहे शिक्षाप्रद हैं तथा सुन्दर भावों से परिपूर्ण हैं । कवि की कहने की शैली सरल एवं अर्थगम्य है । कुछ दोहों का आस्वादन कीजिए—

धर्म धर्म नर उच्चरे, न धरे धर्मनो मर्म ।
धर्म कारन प्राणि हणें, न गणे निष्ठुर कर्म ॥३॥
धर्म धर्म सहू को कहो, न गहे धर्म सूं नाम ।
राम राम पोपट पढ़े, बूझे न ते निज राम ॥६॥
धनपाले धनपाल ते, धनपाल नामें भिखारी ।
लछि नाम लक्ष्मी गणुं, लाछि लाकडां वहे नारी ॥७॥
दया बीज विण जे क्रिया, ते सघली अप्रमाण ।
शीतल संजल जल भर्या, जेम चण्डाल न बाण ॥१९॥

धर्म मूल प्राणी दया, दया ते जीवनी माय ।
भाट भ्रान्ति न आणिए, भ्रान्ते धर्मनी पाय ॥२१॥
प्राणि दया विण प्राणी ने, एक न इच्छयूं होय ।
तेल न बेलू पलितां, सूप न तोय विलोय ॥२२॥
कण्ठ विहूणूं गान जिम, जिम त्रिण व्याकरणे वाणि ।
न सोहे धर्म दया बिना, जिम भोयण विण पाणि ॥३२॥
नीचनी संगति परिहरो, धारो उत्तम आचार ।
दुर्ल्लभ भव मानव तणो, जीव तूं आलिम हार ॥४०॥

५. सीमन्धर स्वामी

यह एक लघु गीत है जिसमें सीमन्धर स्वामी का स्तवन किया गया है ।

६. चित्तनिरोधक कथा

यह १५ छन्दों की एक लघु कृति है, जिसमें चित्त को वश में रखने का उपदेश दिया गया है । यह भी उदयपुरवाले गुटके में ही संग्रहीत है । अन्तिम पद्य निम्न प्रकार है—

सूरि श्री मल्लिभूषण जयो जयो श्री लक्ष्मीचन्द्र ।
तास वंश विद्यानिलु लाड़ नीति श्रृंगार ।
श्री वीरचन्द्र सूरी भणी, चित्त निरोध विचार ॥१५॥

७. बाहुबलि वेलि

इसकी एक प्रति उदयपुर के खण्डेलवाल दिगम्बर जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है । यह एक लघु रचना है लेकिन इसमें विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया गया है । त्रोटक एवं राग सिन्धु मुख्य छन्द हैं ।

८. नेमिकुमार रास

यह नेमिनाथ की वैवाहिक घटना पर एक लघु कृति है । इसकी प्रति उदयपुर के अग्रवाल दिगम्बर जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है । रास की रचना संवत् १६१३ में समाप्त हुई थी जैसा कि निम्न छन्दों से ज्ञात होता है—

तेहनी भक्ति करी घणी, मुनि वीरचन्द्र नि दीधी बुधि ।
श्री नेमितणा गुण वर्णव्या, पांमवा सघली रिधि ॥१६॥
संवत् सोलताहोत्तरि, श्रावण सुदि गुरुवार ।
दशमी को दिन रुंभडो, रास रच्यो मनोहार ॥१७॥

उक्त रास में भट्टारक ज्ञानभूषण एवं शुभचन्द्र को श्रद्धांजलि समर्पित की गयी है।

इस प्रकार भट्टारक वीरचन्द्र को अब तक जो कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं वे इनके साहित्य-प्रेम का परिचय प्राप्त करने के लिए पर्याप्त हैं। राजस्थान एवं गुजरात के शास्त्र-भण्डारों की पूर्ण खोज होने पर इनकी अभी और भी रचनाएँ प्रकाश में आने की आशा है।

नेमिकुमार रास

मुनि वीरचन्द गु. २१ वो सं. ३६९ पत्र, अग्रवाल दि. जैन मन्दिर, उदयपुर।

दूहा— नेमकुमार गगति गया, इन्द्रनि हवूं तव जाण।
सुरपति फणपति आवीआ, आवी आचंदनि भांण ॥१॥
करीय कलांणक पांचसु, इंद्र गया नीज धाम।
पुण्य तणा फल देखवी, जपता नेम जीनू नांम ॥२॥
मूल संघ माहि जांणी, सरसती गछ सुणगार।
श्री पद्मनंदि पहि भलो, सुरी सकलकीरति भवतार ॥३॥
जिणि मिथ्या मोह नीवारीइ, प्रकट कीउ सुभ सांन।
धर्म्माधर्म्म प्रकाशिनि, कीधो चीद्रूप ध्यान ॥४॥
तस उदआचलि उपनो, भुवन कीर्ति तस नांम।
तस तेजि करी सोही, जसो डगमतो भांग ॥५॥
तस पटि जिती उपमा, श्री ज्ञान भूषण मुनि राय।
देश विदेशि विहारकरी, भव्य लगाया पाय ॥६॥
तस पद पंकज मोहनुं, श्री विजयकीर्ति जिस्यो अन्द।
वांणीअ अमृत वर सुणों, जेण दीथे नयणां नन्द ॥७॥
तस कुलि कमल प्रकासीउ, भट्टारक शुभचन्द्र सूरी।
वांणीइ सुंर नर मोही आ, कुमती नाग दूरि ॥८॥
सु कहतां सुभ कीर्तिजे, जेहनी देशि विदेशि।
विक्षांत मद गज भंजनों, रंजनो राय नरेस ॥९॥
भ कहितां भक्तिकरी, जिणवर तणी सुचंग।
सास्त्र सीधांत रचि घणा, मनि बहु आणी चंग ॥१०॥
च कहितां जे चंद्रमा, ज्यम कमलनो करि विकास।
सत्य धर्मामृत उपदेशिनि, छोडवि संसार पास ॥११॥
द्र कहितां छ द्रव्यनु करि ते सरस बखांण।
भट्टारक भव भय हरि, श्री शुभचन्द्र सुजाण ॥१२॥
चहूं अक्षिर नांम नीपनु, मुनी वीरचन्द्र गुर तेही
तरस पसाई नेमनु, रास करो मइ ऐही ॥१३॥

सास्त्र मांहि भइ सांभलि, कवनि रचूं नेमजीनुं सार ।
भविमण भावि भण जो, जिस पांम्यों जयकार ॥१४॥
जवाछ नयर सोहामणुं, ज्याहूयां जिनवर भुवन उत्तंग ।
आदिनाथ महि विठो, जेहनुं नीर्मल सोहि अंग ॥१५॥
तेहनी भक्ति करी घणी, मुनि वीरचन्द्र नि दीधी बुधि,
श्री नेमतणा गण वर्णया, पांमवा सछली रिधि ॥१६॥
संवत् सोलनाहोत्तरि, श्रावण श्रुदि गुरुवार ।
दशमि को दिन रूमडो, रास करो मर सार ॥१७॥

वस्तु—

सुणो भवियण रे, रास ए सार मनोहर ॥
नेम कुमार तणो सवडो, भणो ए सार सदूजल ॥
भवीयण भावि भण जो, तहम पुहचि सिघली आस निर्भर ।
लीला लाछि लक्षमी लहो, लहिरयो सगि निवास ।
संसार तणां सुख भोगवी, पदि भुगति होसि नीवास ॥१॥
इति श्री नेमकुमार रास समाप्त : श्री : ।छ॥
संवत् १६३८ वर्षे फागुण शुदि १५ वार शुकंर ।लक्षतं।
-शुभं भवतु कल्याणमस्तु ॥

भट्टारक क्षेमकीर्ति

[संवत् १७३० से १७५७ तक]

भट्टारक क्षेमकीर्ति प्रथम दिगम्बर जैन सन्त हैं जिनके जीवन का पूरा इतिवृत्त मिलता है। क्षेमकीर्ति १७वीं शताब्दी के महान् विद्वान् एवं प्रभावशाली भट्टारक थे। ६० वर्ष के जीवन में उन्होंने राजस्थान, गुजरात एवं मध्य प्रदेश में विहार करके जन-जन में भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का प्रचार किया तथा स्थान-स्थान पर प्रतिष्ठा, विधान एवं व्रत-पूजा करके लोगों में धार्मिक निष्ठा उत्पन्न की।

उनका जन्म भीलोडा नगर में संवत् १६९७ में मंगसिर सुदी ३ शुक्रवार के दिन हुआ। इनके पिता का नाम साह् खातु भाई एवं माता का नाम गोगा बाई था। जब ये ७ वर्ष के ही थे तभी से आचार्य देवेन्द्रकीर्ति के चरणों में रहने लगे। उस दिन अक्षय तृतीया का पावन दिन था। १६वें वर्ष में पदार्पण करते ही उन्होंने अणुव्रत धारण कर लिये तथा पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के शुभावसर पर भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने इसे अपना शिष्य घोषित कर किया और इनका नाम ब्रह्मचारी क्षेमा रखा गया। १४ वर्ष तक ब्रह्मचारी क्षेमा अपने गुरु के पास रहे और समस्त शास्त्रों का गहरा अध्ययन किया। भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने उनकी प्रतिष्ठा, व्यक्तित्व एवं अध्ययनरुचि को देखकर उन्हें अपना प्रमुख शिष्य घोषित कर दिया और अपनी मृत्यु के पश्चात् उन्हें भट्टारक पद देने की अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त की। संवत् १७३० माह सुदी २ के दिन भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति का स्वर्गवास हुआ।

संवत् १७३० माह सुदी २ गुरुवार के शुभ दिन ब्र. क्षेमा को भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के पट्ट पर अभिषेक किया गया और उनका नाम क्षेमकीर्ति रखा गया। भट्टारक बनने के पश्चात् सर्वप्रथम वे उदयपुर पधारे। वहाँ विभिन्न उत्सव, व्रत एवं पूजा विधान आयोजित किये गये। उदयपुर में उन्होंने सर्वप्रथम अपना चातुर्मास किया। चातुर्मास में कर्मदहन पूजा का विशाल आयोजन किया गया और बृहद् आदिपुराण का विशेष प्रवचन किया गया। इसके पश्चात् भट्टारक क्षेमकीर्ति ने देश के विभिन्न भागों एवं प्रदेशों में विहार किया और जनता में पूजा-विधान एवं उत्सवों के माध्यम से अपूर्व धार्मिक जागृति उत्पन्न की। कुछ प्रमुख ग्राम एवं नगर जिन्हें भट्टारक श्री क्षेमकीर्ति ने अपने चरणरज से पावन किया निम्न प्रकार हैं :

इस वर्ष गिरिपुर (डूंगरपुर)

सागवाडा वंशावलि, बुहरानपुर, महेश्वर नगरों को भी पावन किया। संवत् १७३२ का चातुर्मास महेश्वर में किया। वहाँ उज्जैन नगर के बाई जानु को १८३४ व्रत पूजा विधान विशेष रूप से रखा गया। इसी वर्ष भट्टारक जी बडवानी सिद्धचन्द्र की यात्रा की। यात्रा समाप्ति के पश्चात् पूजा एवं उद्यापन किया। इसी वर्ष पूज्य श्री आसेरगढ़ पधारे वहाँ विविध प्रकार के व्रतोद्यापन एवं उत्सव सम्पन्न हुए। फिर बुरहानपुर पधारे वहाँ कर्मदहन पूजा, दशलक्षण, सोहलकारण पूजा एवं उद्यापन किये और समाज में धार्मिक जाग्रति उत्पन्न की। वहाँ से खोरमपुर, रावेर, अडाबाद, महुआ आदि नगरों में विहार किया।

चार्तुमासों का विवरण

संवत् १७३१	उदयपुर	संवत् १७४४	सागवाड़ा
१७३२	महेश्वर	१७४५	उदयपुर
१७३३	सूरत	१७४६	उदयपुर
१७३४	अहमदाबाद	१७४७	उदयपुर
१७३५	कोट	१७४८	आगरा
१७३६	सागवाड़ा	१७४९	दारानगर
१७३७	सागवाड़ा	१७५०	उदयपुर
१७३८	डूंगरपुर	१७५१	उदयपुर
१७३९	डूंगरपुर	१७५२	अहमदाबाद
१७४०	राजनगर	१७५३	डूंगरपुर
१७४१	अहमदाबाद	१७५४	सागवाड़ा
१७४२	सूरत	१७५५	कोट
१७४३	अहमदाबाद	१७५६	सावली
		१७५७	अहमदाबाद

मंगसिर वदी ४, संवत् १७५७ में स्वर्गवास हुआ।

भट्टारक पट्टावली में भट्टारक क्षेमकीर्ति के जीवन का पूरा इतिवृत्त दे रखा है। यह ऐसी प्रथम पट्टावली है जिसमें जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रत्येक घटना तिथि एवं संवत् तथा वार के साथ प्रस्तुत की गयी है। पूरी पट्टावली भट्टारक क्षेमकीर्ति का एक प्रकार से इतिवृत्त है। जिसकी एक प्रति मन्दिर उदयपुर में संग्रहीत है।

पूजा प्रतिष्ठा का युग

१७वीं शताब्दी पूजा प्रतिष्ठा एवं व्रत विधान का युग था। इन पूजा तथा व्रत उपवास का विधान ये भट्टारक गण कराते और गाँव-गाँव में विहार करके धर्म का

प्रचार करते। दशलक्षण, षोडशकारण, कर्मदहन पूजा, बारहसौ चौंतीस व्रतोद्यापन पूजा, तीस चौबीसी पूजा आदि प्रमुख पूजा विधान थे और भट्टारक क्षेमकीर्ति इतने अधिक पूजापाठी बन गये थे कि इन्हें चातुर्मास के अतिरिक्त गुजरात, मध्यप्रदेश एवं राजस्थान के प्रमुख नगरों एवं ग्रामों में इसीलिए विहार करना पड़ता। इन्होंने अपने जीवन में ४०० से अधिक उत्सव विधान कराये होंगे।

ढूंढाहड प्रवेश की यात्रा

संवत् १७४७ की चैत्र वदी ३ के दिन ये सम्मेदशिखर की यात्रा के लिए पधारे तथा मालपुरा, नारायण, मौजमाबाद, सांगानेर, आमेर, बसवा, मथुरा के मन्दिरों के दर्शन किये तथा अपने संघ को विदा करके वापस नारायण आये और वहां भट्टारक जगत्कीर्ति जी से भेंट की जो आमेर गादी के भट्टारक थे। संवत् १७५१ में आपने बीकानेर की ओर विहार किया जहां देवकरण दोषी के पुत्र लालचन्द्र ने कर्मदहन पूजा महोत्सव किया था। वहां से आप पाली गये और तेजसिंह-नारायणदास ने मिल करके तीस चौबीसी पूजा विधान सम्पन्न कराया।

व्यक्तित्व

भट्टारक क्षेमकीर्ति अपने समय के सबसे प्रतिभाशाली भट्टारक थे। उनकी यश एवं कीर्ति सारे देश में और विशेषतः गुजरात एवं बागड प्रदेश में सर्वत्र व्याप्त थी और जनता इनके दर्शनों के लिए पलक पावड़े बिछाये रहती थी। वे जहां भी जाते उनका शानदार स्वागत होता और पूजा प्रतिष्ठा एवं महोत्सव आयोजित किये जाते जिससे सारे देश में धार्मिक जाग्रति फैल जाती।

साहित्य निर्माण

भट्टारक क्षेमकीर्ति ने साहित्य निर्माण किया या नहीं इस सम्बन्ध में भट्टारक पट्टावली मौन है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनकी इस ओर रुचि नहीं थी और वे ग्रन्थों के स्वाध्याय की ओर ही अपने शिष्यों का ध्यान दिलाते रहते थे।

भट्टारक शुभचन्द्र (द्वितीय)

[संवत् १७२५ से १७४८ तक]

शुभचन्द्र के नाम से कितने ही भट्टारक हुए हैं। भट्टारक सम्प्रदाय में ४ शुभचन्द्र गिनाये गये हैं[1]—

१. कमलकीर्ति के शिष्य	भट्टारक शुभचन्द्र
२. पद्मनन्दि के शिष्य	,,
३. विजयकीर्ति के शिष्य	,,
४. हर्षचन्द्र के शिष्य	,,

इनमें प्रथम काष्ठासंघ के माथुरगच्छ और पुष्कर गण में होनेवाले भ. कमलकीर्ति के शिष्य थे। इनका समय १६वीं शताब्दी का प्रथम-द्वितीय चरण था। दूसरे शुभचन्द्र भ. पद्मनन्दि के शिष्य थे, जिनका भट्टारक काल सं. १४५० से १५०७ तक था। तीसरे भ. शुभचन्द्र भट्टारक विजयकीर्ति के शिष्य थे जिनका हम पूर्व पृष्ठों में परिचय दे चुके हैं। चौथे शुभचन्द्र भट्टारक हर्षचन्द्र के शिष्य बताये गये हैं। इनका समय १७२३ से १७४९ माना गया है। ये भट्टारक भुवनकीर्ति की परम्परा में होनेवाले भ. हर्षचन्द्र (सं. १६९८-१७२३) के शिष्य थे। लेकिन आलोच्य भट्टारक शुभचन्द्र भट्टारक अभयचन्द्र के शिष्य थे जो भट्टारक रत्नकीर्ति के प्रशिष्य एवं भट्टारक कुमुदचन्द्र के शिष्य थे जिनका परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

भट्टारक अभयचन्द्र के पश्चात् सं. १७२१ की ज्येष्ठ वदी प्रतिपदा के दिन पारबन्दर में एक विशेष उत्सव किया गया। देश के विभिन्न भागों से अनेक साधु सन्त एवं प्रतिष्ठित श्रावक उत्सव में सम्मिलित होने के लिए नगर में आये। शुभ मुहूर्त में शुभचन्द्र का भट्टारक गादी पर अभिषेक किया गया। सभी उपस्थित श्रावकों ने शुभचन्द्र की जयकार के नारे लगाये। स्त्रियों ने उनकी दीर्घायु के लिए मंगल गीत गाये। विविध वाद्य यन्त्रों से सभास्थल गूँज उठा और उपस्थित जनसमुदाय ने गुरु के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं।[2]

शुभचन्द्र ने भट्टारक बनते ही अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया।

---

१. देखिए भट्टारक सम्प्रदाय, पृ. सं. २०६।

२. तब सज्जन उलट अंग धरे, मधुरे स्वरे माननी गान करे (११)
ताहाँ बहु विध वाजित्र वाजंता, सुर नर मन मोही निरखंता (१२)

यद्यपि अभी वे पूर्णतः युवा थे,[1] उनके अंग-प्रत्यंग से सुन्दरता टपक रही थी, लेकिन उन्होंने अपने आत्म-उद्धार के साथ-साथ समाज के अज्ञानान्धकार को दूर करने का बीड़ा उठाया और उन्हें अपने इस मिशन में पर्याप्त सफलता भी मिली। उन्होंने स्थान-स्थान पर विहार किया। राजस्थान से उन्हें अत्यधिक प्रेम था इसलिए इस प्रदेश में उन्होंने बहुत भ्रमण किया और अपने प्रवचनों द्वारा जनसाधारण के नैतिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

शुभचन्द्र नाम के ये पाँचवें भट्टारक थे, जिन्होंने साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यों में विशेष रुचि ली। शुभचन्द्र गुजरात प्रदेश के जलसेन नगर में उत्पन्न हुए। यह नगर जैन समाज का प्रमुख केन्द्र था तथा हूंबड जाति के श्रावकों का वहाँ प्रभुत्व था। इन्हीं श्रावकों में हीरा भी एक श्रावक थे जो धनधान्य से पूर्ण तथा समाज द्वारा सम्मानित व्यक्ति थे। उनकी पत्नी का नाम माणिक दे था। इन्हीं की कोख से एक सुन्दर बालक का जन्म हुआ, जिसका नाम नवलराम रखा गया था। बालक नवल अत्यधिक व्युत्पन्न मति था इसलिए उसने अल्पायु में ही व्याकरण, न्याय, पुराण, छन्द-शास्त्र, अष्टसहस्री एवं चारों वेदों का अध्ययन कर लिया।[2] १८वीं शताब्दी में भी गुजरात एवं राजस्थान में भट्टारक साधुओं का अच्छा प्रभाव था। इसलिए नवलराम को बचपन से ही इनकी संगति में रहने का अवसर मिला। भ. अभयचन्द्र के सरल जीवन से ये अत्यधिक प्रभावित थे इसलिए उन्होंने भी गृहस्थ जीवन के चक्कर में न पड़कर आजन्म साधु जीवन का परिपालन करने का निश्चय कर लिया। प्रारम्भ में अभयचन्द्र से ब्रह्मचारी पद की शपथ ली और इसके पश्चात् वे भट्टारक बन गये।

शुभचन्द्र के शिष्यों में पं. गोपाल, गणेश, विद्यासागर, जयसागर, आनन्द-सागर आदि के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। श्री गोपाल ने तो शुभचन्द्र के कितने ही पदों में प्रशंसात्मक गीत लिखे हैं जो साहित्यिक एवं ऐतिहासिक दोनों प्रकार के हैं।

भ. शुभचन्द्र साहित्य निर्माण में अत्यधिक रुचि रखते थे। यद्यपि उनकी कोई बड़ी रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है, लेकिन जो पद साहित्य के रूप में इनकी कृतियाँ मिली हैं, वे इनकी साहित्य रसिकता की ओर पर्याप्त प्रकाश डालनेवाली हैं। अब तक इनके निम्न पद प्राप्त हुए हैं—

---

१. छण रजनी कर वदन विलोकि, अर्द्ध ससी सम भाल।
पंकज पत्र समान सुलोचन, ग्रीवा कंबु विशाल रे ॥८॥
नाशा शुक चंची सम सुन्दर, अधर प्रवाली वृंद।
रक्त वर्ण द्वि पंक्ति विराजित नीरखंता आनन्द रे ॥९॥
दिम दिम मद्दल तबलन फेरी, तत्ताथेई करंत।
पंच शब्द वाजित्र ते वाजे, नादे नभ गज्जंत रे ॥२१॥

२. व्याकर्ण तर्क वितर्क अनोपम, पुराण पिंगल भेद।
अष्टसहस्री आदि ग्रन्थ अनेक जु कौ विद्व जाणी वेद रे।
—श्रीपाल कृत एक गीत

१. पेखो सखी चन्द्रसम मुख चन्द्र

२. आदिपुरुष भजो आदि जिनेन्द्रा

३. कौन सी सुध ल्यावे श्याम की

४. जपो जिन पार्श्वनाथ भवतार

५. पावन मति मात पद्मावति पेखतां

६. प्रात समये शुभ ध्यान धरीजे

७. वासुपूज्य जिन विनती सुणो वासुपूज्य मेरी विनती

८. श्री सारदा स्वामिनी प्रणमि पाय, स्तूब वीर जिनेश्वर विबुध राय

९. अज्झारा पार्श्वनाथनी वीनती

उक्त पदों एवं विनतियों के अतिरिक्त अभी भ. शुभचन्द्र की और भी रचनाएँ होंगी, जो किसी गुटके के पृष्ठों पर अथवा किसी शास्त्र भण्डार में स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में अज्ञातावस्था में पड़ी हुई अपने उद्धार की बाट जोह रही होंगी।

पदों में कवि ने उत्तम भावों को रखने का प्रयास किया है। ऐसा मालूम होता है कि शुभचन्द्र अपने पूर्ववर्ती कवियों के समान 'नेमि-राजुल' की जीवन घटनाओं से अत्यधिक प्रभावित थे इसलिए एक पद में उन्होंने 'कौन सभी सुध ल्यावे श्याम' का मार्मिक भाव भरा। इस पद से स्पष्ट है कि कवि के जीवन पर मीरा एवं सूरदास के पदों का प्रभाव भी पड़ा है।

कौन सखी सुध ल्यावे श्याम की।
मधुरी धुनी मुखचन्द्र विराजित, राजमति गुण गावो ॥श्याम ॥१॥
अंग विभूषण मनीमय मेरे, मनोहर माननी पावे।
करो कछू तंत मन्त मेरी सजनी, मोहि प्राननाथ मीलावे ॥श्याम ॥२॥
गजगमनी गुण मन्दिर स्यामा, मनमथ मान सतावे।
कहा अवगुन अब दीन दयाल छोरि मुगति मन भावे ॥श्याम ॥३॥
सब सखी मिली मन मोहन के ढिग जाई कथा जु सुनावे।
सुनो प्रभु श्री शुभचन्द्र के साहिब, कामिनी कुल क्यों लजावे ॥श्याम ॥४॥

कवि ने अपने प्राय: सभी पद भक्ति रस प्रधान लिखे हैं। उनमें विभिन्न तीर्थंकरों का स्तवन किया गया है। आदिनाथ स्तवन का एक पद देखिए—

आदि पुरुष भजो आदि जिनेन्दा ॥टेक॥
सकल सुरासुर शेष सु व्यन्तर, नर खग दिनपति सेवित चन्दा ॥१॥
जुग आदि जिनपति भये पावन, पतित उधारण नाभि के नन्दा।
दीन दयाल कृपानिधि सागर, पार करो अध तिमिर निदेन्दा ॥२॥
केवल ग्यान थे सब कछु जानत, काह कहू प्रभु मो मति मन्दा।
देखत दिन-दिन चरण सरणते, विनती करत यो सूरि शुभ चन्दा ॥३॥

समय

शुभचन्द्र संवत् १७४५ तक भट्टारक रहे। इसके पश्चात् रत्नचन्द्र को भट्टारक पद पर सुशोभित किया गया। भट्टारक रत्नचन्द्र का एक लेख संवत् १७४८ का मिला है, जिसमें एक गीत की प्रतिलिपि पं. श्रीपाल के परिवार के सदस्यों के लिए की गयी थी ऐसा उल्लेख किया गया है। इस तरह भ. शुभचन्द्र ने २४-२५ वर्ष तक देश के एक कोने से दूसरे कोने तक भ्रमण करके साहित्य एवं संस्कृति के पुनरुत्थान का जो अलख जगाया था वह सदैव स्मरणीय रहेगा।

शाकम्भरी प्रदेश के प्रभावक आचार्य

शाकम्भरी प्रदेश प्रारम्भ से ही जैनाचार्यों, भट्टारकों, मुनियों एवं विद्वानों का प्रदेश रहा है। इन सन्तों ने प्रदेश में विहार करके जन-जन को भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह को जीवन में उतारने का उपदेश दिया था। यही कारण है कि इस प्रदेश में भगवान् महावीर की अहिंसा का जनता पर पूर्ण प्रभाव रहा और जनसामान्य की भावना प्राणीमात्र को बचाने की रही। यह पूरा प्रदेश ही तीर्थ के समान पूजित एवं सम्मानित रहा। साँभर, नरायण, नागौर, अजमेर, मौजमाबाद-जैसे नगरों में जैन तीर्थयात्री यहाँ के मन्दिरों की, जैन सन्तों एवं शास्त्र भण्डारों की वन्दना करने जाते रहते थे। सिद्धसेन सूरि ने अपनी पुस्तक सकल-तीर्थ स्तोत्र में साँभर प्रदेश के कुछ प्रमुख तीर्थों का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

खंडिल्ल डिडूआणय नराण हरसउर खट्टउ देसे,
नागउर मुञ्चिदंतिसु संभरि देसंमि बंदेसि ॥

नागौर एवं अजमेर-जैसे नगर आचार्यों एवं भट्टारकों के केन्द्र ही नहीं रहे किन्तु साहित्य एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार में भी ये प्रमुख अभियन्ता रहे तथा साहित्य की अपूर्व सुरक्षा करके इस क्षेत्र में गौरवशाली कार्य किया। अजमेर तो १०वीं ११वीं शताब्दी से ही जैन सन्तों की गतिविधियों का प्रमुख नगर रहा। संवत् ११९८ में इस नगर में महाराजाधिराज अर्णोराजादेव के शासन में आवश्यकनिर्युक्ति की प्रतिलिपि की गयी थी[1] जो नगर की १२वीं शताब्दी में सम्पन्न साहित्यिक गतिविधियों की ओर संकेत करती है। अजमेर में १३वीं शताब्दी में ही भट्टारकों की गादी स्थापित हो गयी थी और भट्टारक शुभकीर्ति (सं. १२७१) तथा भट्टारक रत्नकीर्ति एवं भट्टारक प्रभाचन्द्र (सं. १३९०) का इसी नगर में पट्टाभिषेक हुआ था।[2]

अजमेर के पश्चात् जब भट्टारकों का देहली केन्द्र बना और भट्टारक प्रभाचन्द्र ने देहली में जाकर सम्राट् फ़िरोजशाह तुगलक के समय दिगम्बर भट्टारकों के त्याग एवं तप की प्रभावना की तो सारे देश में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी तथा दिगम्बर सम्प्रदाय के साधुओं एवं भट्टारकों का देश में जन-जन द्वारा स्वागत होने लगा।[3] देहली

---

१. राजस्थान के प्राचीन नगर—डॉ. के. सी. जैन, पृ. सं. ३०६।
२. भट्टारक पट्टावली—महावीर भवन, जयपुर।
३. बुद्धिविलास—बख्तराम साह, पृष्ठ संख्या ७५-७६।

में होनेवाले भट्टारक शुभचन्द्र, प्रभाचन्द्र एवं जिनचन्द्र-जैसे भट्टारकों का राजस्थान की ओर विशेष विहार होता रहा और वे शाकम्भरी प्रदेश की जनता को अपने दिव्य सन्देशों से कृतार्थ करते रहे। संवत् १५८१ में पुनः भट्टारक रत्नकीर्ति ने नागौर में स्वतन्त्रतः भट्टारक गादी की स्थापना की जिससे सारे मारवाड़ प्रदेश में धर्म एवं साहित्य का प्रचार किया जा सके तथा जनता के अधिक सम्पर्क में आ सके। नागौर की गादी पर एक पट्टावली के अनुसार २७ भट्टारक हुए।[1] अन्तिम भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति थे जिनका अभी कुछ ही वर्ष पूर्व स्वर्गवास हुआ था। इस गादी के कारण राजस्थान में तथा विशेषतः साँभर प्रदेश एवं मारवाड़ में जैन धर्म का अधिक प्रचार हो सका और साहित्य सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। नागौर का शास्त्र भण्डार राजस्थान में ही नहीं किन्तु देश में सबसे महत्त्वपूर्ण तथा विशाल शास्त्र भण्डार माना जाता है।

नागौर शाखा के भट्टारकों का पट्टाभिषेक प्रमुख रूप से नागौर के अतिरिक्त अजमेर, जोबनेर, मारोठ-जैसे नगरों में हुआ। भट्टारकों के पट्टाभिषेक में विभिन्न नगरों एवं गाँवों की जैन समाज भारी संख्या में भाग लेती थी और इस प्रकार ये समारोह भी सैकड़ों वर्षों तक धर्म प्रभावना के एक अंग माने जाते रहे। आमेर गादी के भट्टारक जगत्कीर्ति के पट्टाभिषेक में राजस्थान के ही नहीं किन्तु देहली, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश में से भी भारी संख्या में श्रावकगण सम्मिलित हुए थे।[2]

संवत् १७४५ में भट्टारक रत्नकीर्ति (द्वितीय) ने अजमेर में पुनः भट्टारक गादी की स्थापना की। यद्यपि इस गादी का सम्बन्ध नागौर गादी से पूरी तरह नहीं टूटा था लेकिन इन भट्टारकों की अलग ही परम्परा चली। भट्टारक विजयकीर्ति संवत् (१८०२) इस गादी के प्रसिद्ध भट्टारक थे। अजमेर में जो भट्टारकीय शास्त्र भण्डार है वह भी इसी गादी के भट्टारकों की देन है।

शाकम्भरी प्रदेश में केवल नागौर एवं अजमेर के भट्टारकों का ही विहार नहीं होता था किन्तु आमेर एवं बागड प्रदेश के भट्टारक भी इन प्रदेशों में विहार करते थे और साहित्य एवं संस्कृति के प्रचार में अपना योगदान देते थे। संवत् १७४८ में बागड के भट्टारक क्षेमकीर्ति ने सम्मेद शिखर की यात्रा के लिए जब संघ सहित विहार किया तो मालपुरा, नरायणा, मौजमाबाद, साँगानेर, आमेर आदि नगरों की भी वन्दना की तथा आमेर के भट्टारक श्री जगत्कीर्तिजी से भेंट की।[3]

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय—डॉ. वी. पी. जोहरापुरकर, पृ. सं. १२४-२६।

२. भट्टारक पट्टावली—महावीर भवन, जयपुर।

३. स्वहीं श्री श्रीपूज्य गिरिपुर आवी श्री संघनि शिरम दर्शनि। सागयरतन उदयपुर ना श्री संघनि वंदावीनि चैत्र वदी ३ दिने श्री सम्मेदशिखरजी यात्रा साम चाल्या मालपुर नराणि मौजाबद सांगानेर आंबेर मथुरा ने श्री संघानि वंदावीनि नराणि भट्टारक श्री जगत्कीर्तिनि महीनि। संवद् १७४८ नु चौमासो आगरे कीधु।

भट्टारक गादियों की स्थापना

भट्टारक जिनचन्द्र के समय में नागौर में स्वतन्त्र भट्टारक गादी की स्थापना हुई। पहले ये मण्डलाचार्य कहलाते थे लेकिन कुछ समय पश्चात् ये भी अपने आपको भट्टारक लिखने लगे।[1] इस भट्टारक परम्परा में निम्न प्रकार भट्टारक हुए—

१. भ. रत्नकीर्ति
२. भ. भुवनकीर्ति, संवत् १५७२, आषाढ़ सुदी २, जाति छावड़ा[2]
३. भ. विशालकीर्ति सं. १५०१
४. भ. लक्ष्मीचन्द्र, संवत् १५११, जाति छावड़ा
५. भ. सहस्रकीर्ति, संवत् १६३१, जाति पाटनी
६. भ. नेमिचन्द, संवत् १६५०, जाति ठोलिया
७. भ. यशकीर्ति, सं. १६७२, गोत्र पाटनी
८. भ. भानुकीर्ति, सं. १६९०, गोत्र गंगवाल
९. भ. श्रीभूषण, सं. १७०५, गोत्र पाटनी
१०. भ. धर्मचन्द्र, सं. १७१२, गोत्र सेठी
११. भ. देवेन्द्रकीर्ति, सं. १७२७, गोत्र सेठी
१२. भ. अमरेन्द्रकीर्ति,[3] सं. १७३८

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के पश्चात् भ. रत्नकीर्ति (द्वितीय) हुए। इनके दो शिष्य थे—एक विद्यानन्द और दूसरे ज्ञानभूषण। भ. रत्नकीर्ति कुछ समय तक नागौर गादी पर रहने के पश्चात् अजमेर में स्वतन्त्र भट्टारक गादी की स्थापना की। नागौर की गादी पर अपने शिष्य ज्ञानभूषण को भट्टारक बना दिया। इसके पश्चात् निम्न भट्टारक और हुए—

१३. रत्नकीर्ति द्वितीय
१४. ज्ञानभूषण
१५. चन्द्रकीर्ति
१६. पद्मनन्दि
१७. सकलभूषण
१८. सहस्रकीर्ति
१९. अनन्तकीर्ति
२०. हर्षकीर्ति
२१. विद्याभूषण
२२. हेमकीर्ति

---

१. गुटका दि. जैन मन्दिर, पाटोदी, संख्या १५२।
२. भट्टारक सम्प्रदाय में डॉ. जोहरापुरकर ने भ. धर्मकीर्ति का नाम और दिया है।
३. भ. सम्प्रदाय में अमरेन्द्रकीर्ति के स्थान पर सुरेन्द्रकीर्ति का नाम दिया है।

२३. क्षेमेन्द्रकीर्ति
२४. मुनीन्द्रकीर्ति
२५. कनककीर्ति
२६. देवेन्द्रकीर्ति

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति नागौर गादी के अन्तिम भट्टारक थे जिनका स्वर्गवास अभी कुछ ही वर्षों पहले हुआ है। नागौर गादी का सम्बन्ध नागपुर, अमरावती आदि विदर्भ के नगरों से भी रहा है तथा महाराष्ट्र के अन्य नगरों में जहाँ मारवाड़ी व्यापारी रहते हैं वहाँ वे भी जाया करते थे।

संवत् १७५१ में भट्टारक रत्नकीर्ति ने अजमेर में जब भट्टारक गादी की स्थापना की तो उनका पुनः पट्टाभिषेक आयोजित किया गया। इस वर्ष जोबनेर में एक पंच-कल्याणक प्रतिष्ठा समारोह हुआ जिसकी प्रतिष्ठा सम्पन्न करानेवाले भट्टारक रत्नकीर्ति ही थे। संघी जैसा ने रथ प्रतिष्ठा की थी।

अजमेर की इस पट्ट पर निम्न भट्टारक हुए—

१. भ. रत्नकीर्ति
२. भ. विद्यानन्द (सं. १७६६)
३. भ. महेन्द्रकीर्ति (सं. १७६९)
४. भ. अनन्तकीर्ति (सं. १७७३)
५. भ. भुवनभूषण (सं. १७९७)
६. भ. विजयकीर्ति (सं. १८०२)
७. भ. त्रिलोकेन्द्रकीर्ति
८. भ. भुवनकीर्ति
९. भ. रत्नभूषण
१०. भ. पद्मनन्दि

भट्टारक पद्मनन्दि अजमेर गादी के अन्तिम भट्टारक थे। उक्त सभी भट्टारकों ने राजस्थान के विभिन्न भागों में विहार किया और भगवान् महावीर के सन्देश को जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास किया। इन भट्टारकों के अजमेर चबूतरे बने हुए हैं। संवत् १७६९ में भट्टारक रत्नकीर्ति व भट्टारक विद्यानन्द ने चबूतरा बनवाया। संवत् १८१० में भट्टारक विजयकीर्ति ने अपने गुरु भवनभूषण का चबूतरा बनवाया। संवत् १८५२ में अजमेर में भट्टारक भुवनकीर्ति के तत्त्वावधान में एक विशाल प्रतिष्ठा का आयोजन किया गया। संघही धर्मदास इस प्रतिष्ठा के आयोजक थे तथा अजमेर पर उस समय सिंधिया दौलतराव का शासन था।[१]

---

१. संवत् १८५२ वैशाख मासे शुक्लपक्षे तिथि पंचानाम गुरुवासरे अजमेर महादुर्गे सींधिया दौलतरावजी राज्ये श्री मूलसंघे भ. श्री भुवनकीर्तिस्तदाम्नाये गंगवाल गोत्रे संघही धर्मदासेन इदं प्रतिष्ठा करायिता।

वैसे तो सभी भट्टारक विद्वान्, साहित्य-सेवी एवं श्रमण संस्कृति के प्रमुख प्रचारक थे लेकिन इनमें निम्न भट्टारकों की सेवाएँ विशेषत: उल्लेखनीय हैं—

भट्टारक पद्मनन्दि

भट्टारक पद्मनन्दि प्रभाचन्द्र के शिष्य थे। भट्टारक प्रभाचन्द्र की आज्ञा से गुराज क्षेत्र में विधि-विधान से प्रतिष्ठा सम्पन्न कराने के लिए उन्हें वहां भेजा गया था। एक बार वहाँ के श्रावकों ने भट्टारक प्रभाचन्द्र से वहां की प्रतिष्ठा सम्पन्न कराने की प्रार्थना की लेकिन वे वहां नहीं जा सके तो उन्होंने आचार्य पद्मनन्दि को ही सूरी मन्त्र देकर भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।[1] भट्टारक पट्टावलि में पद्मनन्दि का जो परिचय मिलता है वह निम्न प्रकार है—

संवत् १३८५, पौष सुदी ७, पद्मनन्दिजी गृहस्थ वर्ष १०, मास ७, दीक्षा वर्ष २३, मास ५, गृहस्थ वर्ष ६५, दिन १८, अन्तर दिन १०, सर्व आयु वर्ष ९९, मास ०, दिन २८।

पद्मनन्दि पर सरस्वती का पूरा वरदहस्त था। एक बार उन्होंने पाषाण की सरस्वती प्रतिमा को मुख से बुलाया था ऐसा उल्लेख मिलता है।[2] आचार्य पद्मनन्दि अपने समय के बड़े विद्वान् भट्टारक थे। इनके संघ में अनेक साधु एवं साध्वियाँ थीं। इनके चार शिष्य प्रधान थे। इनमें भट्टारक सकलकीर्ति ने गुजरात में, भट्टारक शुभचन्द्र ने देहली में, भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने सूरत में भट्टारक गादी की स्थापना की। पद्मनन्दि की १५ रचनाएँ प्राप्त हो चुकी हैं जो सभी संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं। सांगानेर में संघीजी के मन्दिर में जो शान्तिनाथ की प्रतिमा है, जिसकी प्रतिष्ठा इन्हीं के द्वारा संवत् १४६४ में अजमेर में सम्पन्न हुई थी।[3] इसी तरह इनके द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्ति भरतपुर में पंचायती मन्दिर में भी विराजमान है।

भट्टारक धर्मकीर्ति

ये नागौर गादी के भट्टारक थे। ये संवत् १५९० की चैत्र कृष्ण ७ को भट्टारक हुए। आप खण्डेलवाल जाति एवं सेठी गोत्र में उत्पन्न हुए थे। संवत् १६०१ की फाल्गुन शुक्ला ९ को आपने चन्द्रप्रभु मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी थी।[4]

---

१. संवत् तेरहसौ पिचि जानि वै, भये भटारक प्रभाचन्द्र गुनखानिवै।
जिनकौ आचारिज इक हो गुजरात मैं, तहाँ सर्व पंचनि मिली ठानी बात मैं। १६१।
कीजै एक प्रतिष्ठा तै सुभकाज हू वै, करन लगे विधिवत सब ताजा साज वै।
भट्टारक बुलवाये सो पहुँचे नहीं, तबै सबै पंचनि मिली यह ठानी सही।
सूरिमंत्र वाही आचारिज को दिये, पद्मनन्दि भट्टारक नाम सुयेह कियौ।
ताकि पाटि सकलकीरति मुनिवर भये, तिन समोधि गुजरात देख अपने किये। १६०।

२. पाषाण की सरस्वती मुखै बुलाई। जाति ब्राह्मण पट्ट अजमेर।

३. मूर्ति यंत्र संग्रह—महावीर भवन, जयपुर, पृ. सं. २६४।

४. भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ संख्या १२।

भट्टारक विशालकीर्ति

संवत् १६०१ वैशाख सुदी, विशालकीर्तिजी गृहस्थ वर्ष ९, दीक्षा वर्ष ५८, भट्टा. वर्ष ९, मास १०, दिवस २०, अन्तर मास १ दिवस १०, सर्व वर्ष ७७, दिवस २३ जाति पाटोदी यह जोबनेर।

विशालकीर्ति का पट्टाभिषेक जोबनेर में संवत् १६०१ में हुआ था। ये भी नागौर पट्ट के भट्टारक थे। जाति से खण्डेलवाल एवं गोत्र पाटोदी था। ये १० वर्ष तक भट्टारक रहे।

भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र

भट्टारक विशालकीर्ति के प्रमुख शिष्य थे। संवत् १६११ में इनका भी जोबनेर में ही पट्टाभिषेक हुआ। ये भी खण्डेलवाल एवं छाबड़ा गोत्र के थे। इन्होंने २० वर्ष तक भट्टारक पद पर रहकर साहित्य एवं समाज की अपूर्व सेवा की थी।

भट्टारक सहस्रकीर्ति

जोबनेर में पट्टस्थ होनेवाले ये तीसरे भट्टारक थे। इनके गुरु भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र थे। संवत् १६३१ जेष्ठ सुदी ५ को इनका बड़े ठाट से पट्टाभिषेक हुआ। इसके पश्चात् ये १८ वर्ष तक भट्टारक रहे। इनका गोत्र पाटनी था।

भट्टारक नेमिचन्द्र

जोबनेर में ही पट्टस्थ होनेवाले ये चौथे भट्टारक थे। अपने गुरु लक्ष्मीचन्द्र के समान ये भी खण्डेलवाल जाति के थे तथा ठोलिया इनका गोत्र था। संवत् १६५० की श्रावण शुक्ला १३ को इनका अभिषेक हुआ। ये २२ वर्ष तक भट्टारक पद पर रहे। ये साहित्य-प्रेमी थे तथा अपने लिए एवं अपने शिष्यों के लिए ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ कराया करते थे।

भट्टारक यशःकीर्ति

ये नागौर गादी के भट्टारक थे तथा संवत् १६७२ की फाल्गुन शुक्ला ५ को इनका रेवासा नगर में पट्टाभिषेक हुआ। एक भट्टारक पट्टावलि में इनका परिचय निम्न प्रकार दिया है—

संवत् १६७२ फागुन सुदी ५, यशःकीर्तिजी गृहस्थ वर्ष ९, दीक्षा वर्ष ४०, भट्टा. वर्ष १७, मास ११, दिवस ८, अन्तर २, सर्व वर्ष ६७ जाति पाटनी पट्ट रेवा।

रेवासा नगर के आदिनाथ जिनमन्दिर में एक शिलालेख के अनुसार यशःकीर्ति के उपदेश से रायसाल के मुख्य मन्त्री देवीदास के दो पुत्र जतिमल एवं नयमल ने मन्दिर का निर्माण कराया था। इनके प्रमुख शिष्य रूपा एवं डूंगरसी ने धर्मपरीक्षा की एक

प्रति गुणचन्द्र को भेंट देने के लिए बनायी थी तथा रेवासा के पंचों ने उन्हें एक सिंहासन भेंट किया था।[1]

भट्टारक भानुकीर्ति

भानुकीर्ति का पट्टाभिषेक नागौर में ही संवत् १६९० में सम्पन्न हुआ। एक पट्टावलि के अनुसार इन्होंने ७वें वर्ष में ही दीक्षा ले ली और ३७ वर्ष तक साधु जीवन में रहकर गहरी साधना की। इसके पश्चात् १४ वर्ष तक भट्टारक पद पर रहकर जैन साहित्य एवं संस्कृति का प्रचार किया। इनके द्वारा रचित रविव्रत कथा की एक पाण्डुलिपि जयपुर भण्डार संग्रह में मिलती है जिसमें उन्होंने अपने आपका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

आठा सात सोला के अंग, रविदिन कथा रचियों अकलंक।
भाव सहित सत सुख लहे, भानुकीर्ति मुनिवर जी कहे।

उक्त कथा के अतिरिक्त इनकी बृहद् सिद्धचक्रपूजा, रोहिणी व्रतकथा एवं समीणा पार्श्वनाथ स्तोत्र भी राजस्थान के विभिन्न भण्डारों में मिलती है।

भट्टारक श्रीभूषण

ये भट्टारक भानुकीर्ति के शिष्य थे तथा नागौर गादी के संवत् १७०५ में भट्टारक बने थे। ७ वर्ष तक भट्टारक रहने के पश्चात् इन्होंने अपने शिष्य धर्मचन्द्र को भट्टारक गादी देकर एक उत्तम उदाहरण उपस्थित किया। ये खण्डेलवाल एवं पाटनी गोत्र के थे। साहित्य रचना में इन्हें विशेष रुचि थी। इनकी कुछ रचना निम्न-प्रकार है—

अनन्तचतुर्दशी पूजा	संस्कृत
अनन्तनाथ पूजा	,,
भक्तामर पूजा विधान	,,
श्रुतस्कन्ध पूजा	,,
सप्तऋषि पूजा	,,

भट्टारक धर्मचन्द्र

भट्टारक धर्मचन्द्र का पट्टाभिषेक संवत् १७१२ मारोठ में हुआ था। ये नागौर गादी के भट्टारक थे। एक पट्टावली के अनुसार ये ९ वर्ष गृहस्थ रहे, २० वर्ष तक साधु अवस्था में रहे तथा १५ वर्ष तक भट्टारक पद पर आसीन रहे। संस्कृत एवं हिन्दी दोनों

---

१. श्रीमद् भट्टारकजी श्री १०८ श्री यशःकीर्ति जी तस्य आमनाय का श्री पंचा सिंहासन कराय चढ़ायो रेवासा नगर सं. १६७२ का मिति फाल्गुन सुदी ५।

के ही ये अच्छे विद्वान् थे और इन्होंने संवत् १७२६ में 'गौतमस्वामीचरित' की रचना की थी। संस्कृत का यह एक अच्छा काव्य है। मारोठ (राजस्थान) में इसकी रचना की गयी थी। उस समय मारोठ पर रघुनाथ का राज्य था। उक्त रचना के अतिरिक्त नेमिनाथ विनती, सम्बोध पंचासिका एवं सहस्रनाम पूजा नामक कृतियाँ और मिलती हैं।

देवेन्द्रकीर्ति

देवेन्द्रकीर्ति के नाम से कितने ही भट्टारक हो गये हैं। लेकिन प्रस्तुत देवेन्द्रकीर्ति नागौर के भट्टारक धर्मचन्द्र के शिष्य थे। इनका पट्टाभिषेक संवत् १७२७ में मारोठ में सम्पन्न हुआ था। ये केवल ११ वर्ष तक ही भट्टारक पद पर रहे।

भट्टारक अमरेन्द्रकीर्ति

ये भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे तथा संवत् १७३८ में भट्टारक पद पर अभिषिक्त हुए थे। कुछ पट्टावलियों में सुरेन्द्रकीर्ति का भी नाम मिलता है। ये खण्डेलवाल जाति एवं पाटणी गोत्र के थे। संवत् १७४० में इनके द्वारा रचित रविवार व्रतकथा की प्रति मिलती है। ये भी क़रीब ७ वर्ष तक भट्टारक गादी पर रहे।

भट्टारक रत्नकीर्ति (द्वितीय)

रत्नकीर्ति संवत् १७४५ में भट्टारक पद पर अभिषिक्त किये गये। ये कुछ समय तक नागौर गादी पर रहे लेकिन बाद में अजमेर चले गये और वहाँ पर उन्होंने स्वतन्त्र भट्टारक गादी की स्थापना की। यह कोई संवत् १७५१ की घटना होगी। संवत् १७५१ में कालाडहरा में पुनः इनका पट्टाभिषेक किया गया। ये बड़े प्रभावशाली भट्टारक थे। एक भट्टारक पट्टावली में इनका परिचय निम्न प्रकार दिया गया है—

संवत् १७४५ वैशाख सुदी ९ रत्नकीर्ति जो गृहस्थ वर्ष ३०, दीक्षा वर्ष ४७, पट्ट वर्ष २१, सर्व वर्ष ९८ मास १ दिवस ४, अन्तर मास १, दिवस ३, जाति गोधा पट्ट कालाडहरा।

भट्टारक विजयकीर्ति

अजमेर गादी के भट्टारकों में भट्टारक विजयकीर्ति का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। इनका अजमेर नगर में संवत् १८०२ आषाढ़ सुदी १ के शुभ दिन पट्टाभिषेक हुआ था। इन्होंने अपने गुरु भवनभूषण का चबूतरा एवं चरण अजमेर में ही स्थापित किये थे। विजयकीर्ति संस्कृत एवं हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे।

अब तक इनकी निम्न रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं—

१. अकलंक निकलंक चौपाई
२. कथा संग्रह
३. कर्णामृतपुराण
४. चन्दनषष्ठीव्रत पूजा
५. धर्मपाल संवाद
६. भट्टरण्डक
७. शालिभद्र चौपाई
८. श्रेणिक चरित्र

कर्णामृत पुराण की रचना रूपगन (रूपनगढ़) में संवत् १८२६ में सम्पन्न हुई थी। जिसका कवि ने निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

संवत् अठारहसौ छब्बीस ग्रन्थ रचित........बीस।
कार्तिक बदि बारस गुरुवार, रूपनगर में रच्यो सुसार॥

श्रेणिकपुराण संवत् १८२७, शालिभद्र चौपाई संवत् १८२७, महादण्डक संवत् १८२९ की रचनाएँ हैं। महादण्डक की अन्तिम प्रशस्ति निम्न प्रकार है :—

संवत् जाति प्रवीन अठारासै गुणतीस लखि
महादण्डक शुभ दीन, ज्येष्ठ चौथि गुरु पुष्य शुक्ल
गढ अजमेर सुथान, श्रावक सुख लीला करै
जैनधर्म बहुमान देव शास्त्र गुरु भक्ति मन॥

इति श्री महादण्डक कर्णानुयोग भट्टारक श्री विजयकीर्ति लघुदण्ड वर्णन इकतालिसिया अधिकार ४१। सं. १८२९ का।

भट्टारक भुवनकीर्ति

भट्टारक भुवनकीर्ति त्रिलोकेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। ये भी प्रभावशाली भट्टारक थे। संवत् १८५२ में अजमेर में जो विशाल प्रतिष्ठा समारोह हुआ था वह इन्हीं के निर्देशन में सम्पन्न हुआ था। जयपुर के बड़े दीवानजी के दिगम्बर जैन मंदिर में जो आदिनाथ एवं महावीर की विशाल मूर्तियाँ हैं वे अजमेर में प्रतिष्ठापित हुई थीं।

चाकसू, आमेर, जयपुर एवं श्री महावीरजी की गादी के प्रमुख भट्टारक

मूलसंघ के सरस्वतीगच्छ एवं बलात्कारगण के कुछ प्रमुख भट्टारकों का विस्तृत परिचय पहले दिया जा चुका है। प्रस्तुत पृष्ठों में शेष भट्टारकों का परिचय दिया जा रहा है।

एक भट्टारक पट्टावलि में भट्टारक पद्मनन्दि से लेकर भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति तक का निम्न परिचय दिया गया है—

८४. भट्टारक पद्मनन्दि :

संवत् १३८५, पौष सुदी ७—गृहस्थ वर्ष १०, मास ७, दीक्षा वर्ष २३, मास ५। पट्टस्थ वर्ष ६५ दिन १८, अन्तर दिन १०, सर्व आयु वर्ष ९९, मास—दिन २८।

८५. भट्टारक शुभचन्द्र :

संवत् १४५०, माह सुदी ५—गृहस्थ वर्ष १६, दीक्षा वर्ष २४, पट्टस्थ वर्ष ५६ मास ३, दिन ४, अन्तर दिन ११, सर्व आयु वर्ष ९६, मास ३, दिन २५।

८६. भट्टारक जिनचन्द्र :

संवत् १५०७, ज्येष्ठ सुदी ५—गृहस्थ वर्ष १२, दीक्षा वर्ष १५, पट्टस्थ वर्ष ६४, मास ८, दिन १७, अन्तर दिन ११, सर्व वर्ष ९१, मास ८, दिन २७।

८७. भट्टारक प्रभाचन्द्र :

संवत् १५७१, फागुन बदी २—गृहस्थ वर्ष १५, दीक्षा वर्ष ३५, पट्टस्थ वर्ष ९, मास ४, दिन २५, अन्तर दिन ८, सर्व आयु वर्ष ५९, मास ५, दिन ३। याकै बारे संवत् १५७१ कैसालि गच्छ दोय हुआ एक तो चित्तौड़ में अर दूर नागौर हुवा तदि सु नागौर को फास्यो नाव प्रभाचन्द्र भी कहे।

८८. भट्टारक धर्मचन्द्र :

संवत् १५८१, श्रावण बदी ५—धर्मचन्द्रजी गृहस्थ वर्ष ९, दीक्षा वर्ष ३१, पट्टस्थ वर्ष २१, मास ८, दिन १८।

८९. भट्टारक ललितकीर्ति :

संवत् १६०३, चैत्र सुदी ८—ललितकीर्तिजी गृहस्थ वर्ष ७, दीक्षा वर्ष २५, पट्टस्थ वर्ष १९, दिन १५, अन्तर दिन २५, सर्व वर्ष ५१, मास—दिन २२।

९०. भट्टारक चन्द्रकीर्ति :

संवत् १६२२, वैशाख बदी ३०—चन्द्रकीर्ति गृहस्थ वर्ष—दीक्षा वर्ष—पट्टस्थ वर्ष ४०, मास ९, अन्तर दिन ७।

९१. भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति :

संवत् १६६२, फाल्गुण बदी ३०—देवेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ वर्ष २८, मास ७, दिन २५, अन्तर दिन ५।

९२. भट्टारक नरेन्द्रकीर्तिजी :

संवत् १६९१, कार्तिक बदी ३०—नरेन्द्रकीर्तिजी गृहस्थ वर्ष ११, पट्टस्थ वर्ष ३१, मास ८, दिन १५, अन्तर दिन ८, यांके बारे तेरापन्थी हुआ संवत् १६९५ में।

९३. भट्टारक सुरेन्द्रकीर्तिजी :

संवत् १७२२ श्रावण बदी ८—सुरेन्द्रकीर्ति गृहस्थ वर्ष ९, पट्टस्थ वर्ष १०, मास ११, दिन २२, अन्तर दिन ५, जाति काला।

९४. भट्टारक जगत्कीर्तिजी :

संवत् १७३३, श्रावण बदी ५—जगत्कीर्तिजी गृहस्थ वर्ष ११, दीक्षा वर्ष २६, पट्टस्थ वर्ष ३४, मास ५, दिन २८, अन्तर दिन ७, सर्व आयु वर्ष ७४, माह ८, दिन ५, जाति साखूण्या।

९५. भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिजी :

संवत् १७७०, माह बदी ११—देवेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ वर्ष २१, मास ११, दिन १४, जाति ठोलिया।

९६. भट्टारक महेन्द्रकीर्तिजी :

संवत् १७९०, पौष सुदी १०—महेन्द्रकीर्ति पट्टस्थ वर्ष २१, मास ९, दिन १५, जाति पापडीवाल दिल्ली में यह हुवा।

९७. भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्तिजी :

संवत् १८१५, आषाढ़ सुदी ११—क्षेमेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ वर्ष ७, अन्तर मास ८, दिन ५, जाति पाटणी यह सवाई जयपुर में हुआ।

९८. भट्टारक सुरेन्द्रकीर्तिजी :

संवत् १८२२, मिति फागुण सुदी ४—सुरेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ वर्ष २९, मास ९, दिन ४, अन्तर दिन—। जाति पहाड्या यह सवाई जयपुर में हुवो।

९९. भट्टारक सुखेन्द्रकीर्तिजी :

संवत् १८५२, मंगसिर वदी ८—सुखेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ वर्ष—मास—दिन, अन्तर दिन १६, जाति अनोपडा पट्टस्थ सवाई जयपुर में हुवो।

१००. भट्टारक नरेन्द्रकीर्तिजी :

संवत् १८८०, मिती आषाढ़ वदी १०—नरेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ वर्ष २४, जाति बडजात्या। यह सवाई जयपुर में अन्तर दिन १५ को।

१०१. भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिजी :

संवत् १८८३, मिती माह सुदी ५—गृहस्थ वर्ष ७, पण्डित वर्ष १३, प्रगराज वर्ष—अन्तर दिन—वर्ष १ को यह सवाई जयपुर में हुवो जाति काला भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ हुवो।

१०२. भट्टारक महेन्द्रकीर्तिजी :

संवत् १९३९।

१०३. भट्टारक चन्द्रकीर्ति :

संवत् १९७५। संवत् २०२६ में स्वर्गवास हुआ।

इस प्रकार भट्टारक पद्मनन्दि से लेकर भट्टारक चन्द्रकीर्तिजी तक इस परम्परा में २० भट्टारक हुए। अन्तिम भट्टारक चन्द्रकीर्ति हुए। इनमें से भट्टारक पद्मनन्दि, भट्टारक शुभचन्द्र, भट्टारक जिनचन्द्र एवं प्रभाचन्द्र का परिचय पूर्व पृष्ठों में दिया जा चुका है। शेष भट्टारकों का परिचय निम्न प्रकार है।

भट्टारक धर्मचन्द्र

इनका पट्टाभिषेक संवत् १५८१ श्रावण वदी ५ के शुभ दिन चित्तौड़ में हुआ। इस समय इनकी आयु ४० वर्ष की थी। इसके पूर्व ३१ वर्ष तक इन्होंने भट्टारक प्रभाचन्द्र के साथ ग्रन्थों का खूब अध्ययन किया था तथा प्रतिष्ठा विधि आदि के सम्बन्ध में पूरा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इन्होंने सर्वप्रथम संवत् १५८३ माह सुदी ५ को दशलक्षण यन्त्र की प्रतिष्ठा सम्पन्न करवायी। इसके प्रतिष्ठाकारक थे संघी माल्ह एवं उनकी धर्मपत्नी गौरी तथा पुत्र नेमदास विमलदास। वर्तमान में यह यन्त्र पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर टोंक में उपलब्ध है।[1] इसके पूर्व इनके उपदेश के आधार पर राणा संग्रामसिंह के शासनकाल में चम्पावती नगर (चाटसू) में किसी साह गोत्रीय श्रावक ने पंचकल्याणक प्रतिष्ठा सम्पन्न करवायी थी। इस लेख में धर्मचन्द्र को मण्डलाचार्य कहा है।[2] पंचायती मन्दिर पार्श्वनाथजी सवाई माधोपुर (राजस्थान) में एक चौबीसी जी की मूर्ति है जो संवत् १५८६ फागुण सुदी १० के शुभ दिन इन्हीं धर्मचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित हुई थी। प्रतिष्ठा के आयोजक खण्डेलवाल जाति में उत्पन्न साह गोत्र के श्रावक थे।[3] संवत् १५९० के ऐसे दो लेख मिलते हैं जिनमें भट्टारक धर्मचन्द्र का उल्लेख है। एक लेख

१. मूर्ति यन्त्र लेख संग्रह—महावीर भवन, जयपुर के संग्रह में, पृ. सं. २६४।
२. वही, पृष्ठ ३३३।
३. वही, पृष्ठ १७६।

है संवत् १५९० माघ सुदी ७ का जिसमें चम्पावती नगर एवं वहाँ के सम्भवनाथ चैत्यालय का उल्लेख है।[1] यह प्रतिष्ठा बाकलीवाल गोत्र के सं. तालु धर्मपत्नी तौला के एवं उनके पुत्र लल्लू बल्लू ने सम्पन्न करायी थी। दूसरा लेख संवत् १५९० माह सुदी ४ का है जिसमें भट्टारक धर्मचन्द्र वा प्रभाचन्द्र के शिष्य रूप में उल्लेख है तथा लुहाडिया गोत्रवाले श्रावक लाला एवं उनके परिवार ने यन्त्र की प्रतिष्ठा सम्पन्न करायी थी।[2]

संवत् १५९३ ज्येष्ठ सुदी ३ के दिन आयोजित समारोह भट्टारक धर्मचन्द्र के जीवन का सबसे बड़ा समारोह था। इस दिन आँवा में एक बड़ी भारी प्रतिष्ठा आयोजित की गयी थी। इसमें शान्तिनाथ स्वामी की एक विशाल एवं मनोज्ञ प्रतिमा की प्रतिष्ठा हुई जो आवाँ (टोक) के मन्दिर में विराजमान है। एक प्रतिष्ठा-पाठ में इस प्रतिष्ठा का निम्न प्रकार उल्लेख किया गया है—

"संवत् १५९३ के साल गाँव आवाँ में प्रभाचन्द्र धर्मचन्द्र के बारे वेणीराम छाबड़ो प्रतिष्ठा करायी। राजा सूर्यसेन कूं जैनी करयो। श्री भट्टारक दो घडी में गिरनारजी सूँ आया। बड़ी अजमत दिखाई। देव माया सूँ घृत, खांड व गुड का कुआं भर दीना। जीमणार में ७५० मण मिरच मुसाला में लागी। सबकूं जैनी करया। मूलनायक प्रतिमा शान्तिनाथ स्वामी को विराजमान की।[3]

उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि यह प्रतिष्ठा प्रतिष्ठाओं के इतिहास में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थी जब उसमें सम्मिलित होनेवाले दर्शनार्थियों को जैनधर्म में दीक्षित किया गया। तथा धर्मचन्द्र ने अपनी विद्याओं का चमत्कार दिखलाया। इसी वर्ष आवाँ की एक पहाड़ी पर भट्टारक शुभचन्द्र, भट्टारक जिनचन्द्र एवं भट्टारक प्रभाचन्द्र की निषेधिकाएँ स्थापित की गयीं।

संवत् १५७७ में भट्टारक धर्मचन्द्र मुनि कहलाते थे। उत्तरपुराण की टीकावाली प्रशस्ति में भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र देवा : तत् शिष्य मुनि धर्मचन्द्रदेवा उल्लेख मिलता है।[4] एक दूसरी प्रशस्ति में इसी संवत् में प्रवचनसार वृत्ति की एक पाण्डुलिपि को नागौर में लिखवाकर साह खींराज एवं उनके परिवार ने मुनि धर्मचन्द्र को भेंट की ऐसा उल्लेख मिलता है।[5] संवत् १५९५ में माघ शुक्ला ६ रविवार को साखोण नगर में वरांग चरित्र की एक पाण्डुलिपि मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र के शासन में लिखी गयी थी तथा उसमें धर्मचन्द्र को 'सद्गुरु' की उपाधि से सम्बोधित किया गया है।[6] संवत् १५८३

---

१. मूर्ति यन्त्र लेख संग्रह—महावीर भवन, जयपुर के संग्रह में, पृ. सं. ३२७।

२. संवत् १५९० वर्षे माह सुदि ४ बुधवारे श्री मूलसंघे नंद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र तत् शिष्य भट्टारक धर्मचन्द्रदेवा तदाम्नाये खण्डेलवालान्वये लुहाडिया गोत्रे सा. भार्या रोलु तत्पुत्र सा. माधाबे भा. गरिवत तत्पुत्र सा. दाराहुत लाला मित नित्यं प्रणमति।

३. प्रतिष्ठापाठ का कथन—चौ. जीवनलाल, पृष्ठ संख्या ११।

४. प्रशस्ति संग्रह—डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृष्ठ सं. २।

५. वही, पृष्ठ ३६-३७।

६. वही, पृष्ठ ४५।

में चाटसू नगर में अपभ्रंश काव्य सिरिचन्दप्पह चरिउ की पाण्डुलिपि सा. काथिल एवं अन्य श्रावकों ने लिखवायी थी और उसे इनको भेंट की गयी थी।[1] धर्मचन्द्र के एक शिष्य का नाम कमलकीर्ति था। इनको स्वाध्याय के लिए संवत् १६०२ में पाण्डव-पुराण—अपभ्रंश (यशःकीर्तिकृत) की सा. कीला अजमेरा ने पाण्डुलिपि तैयार करवायी और कमलकीर्ति को श्रद्धापूर्वक समर्पित की।[2] इससे जान पड़ता है उस शताब्दी में अपभ्रंश के काव्यों को पढ़ने की ओर विद्वानों में रुचि थी। संवत् १६११ आषाढ़ बदी ९ शुक्रवार को अपभ्रंश के महाकाव्य पासणाह चरिउ (पद्मकीर्ति) की रचना भट्टारक धर्मचन्द्र के लिए की गयी थी। इस प्रशस्ति में धर्मचन्द्र को 'वसुन्धराचार्य' की उपाधि से सम्बोधित किया गया है।[3]

धर्मचन्द्र अपने साथ ब्र. एवं मुनियों के अतिरिक्त आर्यिकाएँ भी रहती थीं। संवत् १५९५ में इनकी एक शिष्या आर्यिका विनयश्री को पढ़ने के लिए पट्टावलि सिंह कृत 'पज्जुण्णचरिउ' की पाण्डुलिपि साहु सुरजन एवं उसकी धर्मपत्नी सुनावत द्वारा भेंट की गयी थी।[4] इनके एक शिष्य का नाम ब्र. कोल्हा था जिन्हें भी संवत् १५९५ में धनपाल कृत भविसयत्तकहा की पाण्डुलिपि भेंट में दी गयी थी। इसके पूर्व संवत् १५८९ में भी इसी ग्रन्थ की प्रतिलिपि इन्हें भेंटस्वरूप प्राप्त हुई थी।

इस प्रकार और भी पचासों प्रशस्तियाँ उपलब्ध होती हैं जिनमें धर्मचन्द्र का सारा उल्लेख किया गया है तथा उन्हें या उनके शिष्यों को ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ भेंट में दी गयी थीं। धर्मचन्द्र अपने युग के बड़े भारी सन्त एवं प्रभावक आचार्य थे और जिन्होंने जैन साहित्य एवं संस्कृति की भारी सेवा की थी।

---

१. प्रशस्ति संग्रह—डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ. सं. ६६।
२. वही, पृष्ठ १२७।
३. वही, पृ. १२६।
४. वही, पृ. १३८।

भट्टारक ललितकीर्ति

[संवत् १६०३ से १६२२ तक]

भट्टारक धर्मचन्द्र के पश्चात् ललितकीर्ति का भट्टारक गादी पर संवत् १६०३ के चैत्र सुदी ८ के शुभ दिन पट्टाभिषेक हुआ। इस समय इनकी आयु ३२ वर्ष की थी तथा इसके पूर्व २५ वर्ष तक इन्होंने भट्टारक प्रभाचन्द्र एवं धर्मचन्द्र के पास रहकर विविध विषयों के ग्रन्थों का उच्च अध्ययन किया था। ये ७ वर्ष की अवस्था में ही भट्टारक प्रभाचन्द्र के चरणों में आ गये थे। तथा उनके महान् व्यक्तित्व से प्रभावित होकर इन्होंने अपने जोवन का निर्माण प्रारम्भ किया था।

ललितकीर्ति संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। राजस्थान के विभिन्न भण्डारों में संस्कृत भाषा में निबद्ध इनकी विभिन्न कथाएँ मिलती हैं जिनकी संख्या २० होगी।[1] इन कथाओं के नाम निम्न प्रकार हैं—

१. अक्षय दशमी कथा।
२. अनन्तव्रत कथा।
३. आकाशपंचमी कथा।
४. एकावली व्रत कथा।
५. कर्मनिर्जरा व्रत कथा।
६. कांजिका व्रत कथा।
७. जिनगुण सम्पत्ति कथा।
८. जिनरात्रि व्रत कथा।
९. ज्येष्ठ जिनवर कथा।
१०. दशपरमस्नान व्रत कथा।
११. दशलाक्षणिक कथा।
१२. द्वादश व्रत कथा।
१३. धनकलश कथा।
१४. पुष्पांजलि व्रत कथा।
१५. रक्षाविधान कथा।
१६. रत्नत्रय व्रत कथा।

---

१. राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थसूची, पंचम भाग, पृ. संख्या ७७६-८०।

१७. रोहिणी व्रत कथा।

१८. षट्रस कथा।

१९. षोडशकारण कथा।

२०. सिद्धचक्र पूजा।

ललितकीर्ति का साहित्य निर्माण एवं लेखन की ओर अधिक ध्यान था। प्रतिष्ठा समारोह में भाग लेना, प्रतिष्ठा विधि आयोजित करवाने में सम्भवतः इतनी कोई रुचि नहीं थी इसलिए इनका स्वतन्त्र उल्लेख बहुत कम मिलता है। लेकिन इनके उपदेश एवं प्रेरणा में विभिन्न ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ हुईं जिनका यत्र-तत्र अवश्य उल्लेख मिलता है। संवत् १६१२ में तत्रकमहादुर्ग (टोडारायसिंह) में वसुनन्दि के उपासकाध्ययन की प्रतिलिपि की गयी और वह आर्य नरसिंघ को भेंट की गयी।[1] इसी तरह संवत् १६१६ में आमेर में यशःकीर्ति के पाण्डवपुराण की पाण्डुलिपि करवाकर मण्डलाचार्य ललितकीर्ति को साह लेजला ने दशलक्षण व्रतोद्यापन के अवसर पर भेंट की।[2]

भट्टारक ललितकीर्ति का कार्यक्षेत्र चाटसू, टोडारायसिंह, आमेर, सांगानेर-जैसे स्थानों में रहा और यहीं के श्रावकों में साहित्य के प्रति अभिरुचि जाग्रत् करते रहे। पुष्पदन्त के जसहरचरिउ की एक प्रति तक्षकमहादुर्ग में तैयार की गयी। उस समय महाराजाधिराज रामचन्द्र का शासन था तथा भट्टारक ललितकीर्ति महाराजा द्वारा सम्मानित जैन भट्टारक थे। यशोधरचरित की प्रति भी ललितकीर्ति के लिए ही लिखायी गयी थी जो आजकल महावीर भवन, जयपुर के संग्रह में सुरक्षित है।

---

१. प्रशस्ति संग्रह, पृ. संख्या ६४।

२. वही, पृ. १२७।

भट्टारक चन्द्रकीर्ति

[संवत् १६२२ से १६६२ तक]

भट्टारक धर्मचन्द्र के स्वर्गवास के सात दिन पश्चात् संवत् १६२२ वैशाख बदी अमावस्या के दिन चन्द्रकीर्ति भट्टारक गद्दी पर बैठे। धर्मचन्द्र ने अपने भट्टारक काल में प्रतिष्ठाओं को अधिक महत्त्व नहीं दिया था किन्तु भट्टारक चद्रकीर्ति ने भट्टारक बनने के कुछ वर्षों पश्चात् ही प्रतिष्ठा समारोहों को प्रोत्साहन देना प्रारम्भ कर दिया। संवत् १६३२ फाल्गुन सुदी २ को भट्टारक चन्द्रकीर्ति के शिष्य आचार्य हेमचन्द्र के सदुपदेश से मन्त्र लिखवाकर प्रतिष्ठित करवाया गया। प्रतिष्ठा करनेवाले श्रावक साह ठाकुरसी एवं इसकी भार्या नेमा रतना थी। यह मन्त्र भुसावड़ियों के दिगम्बर जैन मन्दिर सवाईमाधोपुर में विराजमान है। संवत् १६३५ में आयोजित प्रतिष्ठा समारोह के अवसर पर मन्त्र भी लिखवाकर उइणियारा (टोंक) के दिगम्बर जैन मन्दिर में विराजमान किया गया। संवत् १६५१ में भट्टारक चन्द्रकीर्ति ने कितनी ही प्रतिष्ठाओं का आयोजन किया। इस समय आमेर पर महाराज मानसिंह का राज्य था। चारों ओर शान्ति थी। संवत् १६५८ में एक साथ पाँच प्रतिष्ठाओं का आयोजन रखा गया। प्रतिष्ठा पाठ कंचन में इस प्रतिष्ठा समारोह का निम्न वर्णन मिलता है—

संवत् १६५८ की साल भट्टारक चन्द्रकीर्तिजी के 'बारे में गाँव दूदू में मालजी भौंसा प्रतिष्ठा कराई मन्दिर पाँच बणया दूदू में एक, आरा में एक, चोरु में एक, काला-डेरा में एक, सीखोली में एक तीसो रुपया बीस लाख लाग्या ज्यो का बेटा मालावत कुहावे छै।

इसके पश्चात् १६६० में भट्टारक चन्द्रकीर्ति ने पुनः साखूण गाँव में सामूहिक प्रतिष्ठा का आयोजन किया। प्रतिष्ठा करानेवाले थे श्री मनीराम दोशी। इन्होंने ४ मन्दिरों का निर्माण कराया और वहीं की समाज को समर्पित किया गया। इन मन्दिरों का निर्माण बानरसिंदरी, हरसूली, लखा तथा साखूण में किया गया।

उक्त लेखों के अतिरिक्त सं. १६६१ में भी प्रतिष्ठाओं का आयोजन हुआ था। जिसके लेख आदि मन्दिरों में मिलते हैं। प्रतिष्ठाओं के अतिरिक्त साहित्य लेखन की ओर भी चन्द्रकीर्ति का विशेष ध्यान था। राजस्थान के शास्त्र भण्डारों में ऐसी बहुत-सी *पाण्डुलिपियाँ संग्रहीत हैं जिनका लेखन भट्टारक चन्द्रकीर्ति की प्रेरणा से सम्पन्न हुआ था।*

उनके एक शिष्य थे आचार्य शुभचन्द्र जिनको साह नायू ने यशोधरचरित की प्रति लिखवाकर भेंट की थी।

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति
[संवत् १६६२ से १६९० तक]

भट्टारक चन्द्रकीर्ति के स्वर्गवास के पश्चात् संवत् १६६२ में देवेन्द्रकीर्ति भट्टारक गद्दी पर बैठे। भट्टारक गादी पर संवत् १६६२ फाल्गुन बदी अमावस का शुभ दिन था। ये २८ वर्ष ७ मास २५ दिन तक भट्टारक गादी पर रहे और इन वर्षों में राजस्थान के विभिन्न भागों में विहार करके जैन धर्म एवं संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में योग दिया।

एक जावडी के अनुसार भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति सेठ नवमल साह के पुत्र थे। उनकी माता का नाम सोभा था। बचपन में ही इन्होंने संयम धारण कर लिया और पाँच महाव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत की पालना करने लगे। वे शास्त्रार्थ में बहुत प्रवीण थे और अपने विरोधियों को सहज ही में जीत लेते थे। उनका दिव्य मुख था तथा वह सूर्य के समान तेजस्वी लगता था। रत्नों के सिंहासन पर विराजमान होकर जब वे सूत्र एवं सिद्धान्त ग्रन्थों पर व्याख्यान देते थे तब गौतम गणधर के समान लगने लगते थे।

एक बार कामदेव ने जब उनके संयम की मन्त्रणा सुनी तो वह उस मंत्रणा को सहन नहीं कर सका और अपनी पत्नी रति को बुलाकर देवेन्द्रकीर्ति के संयम को भंग करने का आदेश दिया। रति ने अब तक अपनी किसी से भी हार स्वीकार नहीं की थी इसलिए वह शीघ्र ही उनके पास गयी और विभिन्न साधनों से उनके संयम को भंग करना चाहा। लेकिन देवेन्द्रकीर्ति को वे पराजित नहीं कर सके और अन्त में कामदेव एवं रति को अपनी हार माननी पड़ी।

देवेन्द्रकीर्ति पहले मुनि थे और बाद में भट्टारक कहलाने लगे थे। उनके संघ में मुनिगण एवं बड़े-बड़े पण्डित रहते थे। संवत् १६६३ कार्तिक मास में ही वे अपने संघ के साथ मौजमाबाद चले गये और वहाँ संवत् १६६४ में नानू गोधा द्वारा निर्मित विशाल मन्दिर में प्रतिष्ठा करायी। यह प्रतिष्ठा अपने समय की सबसे भारी प्रतिष्ठा थी जिसमें देहली बादशाह एवं आमेर के महाराजा का पूरा सहयोग था। तीन शिखरोंवाला यह *मन्दिर नानू गोधा ने बादशाह अकबर के आदेश से बनवाया था इसलिए इस प्रतिष्ठा में* असंख्य द्रव्य खर्च किया गया था। एक उल्लेख के अनुसार इस प्रतिष्ठा में २५ करोड़ रुपया खर्च हुआ था। इस सब आयोजन में भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति का प्रमुख हाथ था। वे

प्रतिष्ठा के लिए ही पूर्ण व्यवस्था के लिए वहाँ पधार गये। इस प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित हजारों विशाल मूर्तियाँ न केवल राजस्थान में उपलब्ध होती हैं किन्तु उत्तरी भारत के सभी प्रमुख मन्दिरों में विराजमान हैं।

इस प्रतिष्ठा के पश्चात् देवेन्द्रकीर्ति की कीर्ति वायुवेग से सारे देश में फैल गयी और उन्होंने सारे राजस्थान में धर्म एवं संस्कृति के विकास में अपना बृहद् योगदान दिया।[1]

---

१. जुद्धकरण मयण जब आयो आठ, कर्म कटक बल ल्यायो।
देवेन्द्र कीरति गुण गाज्यो सूत्र ध्यान तणो अश्रु साज्यो।
मुनि समकति खड्ग संभाव्यो, जैसे मनमथ तणो दल मार्यो।

भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति

[संवत् १६९१ से १७२२ तक]

नरेन्द्रकीर्ति अपने समय के ज़बरदस्त भट्टारक थे। ये शुद्ध बीसपन्थ को माननेवाले थे। ये खण्डेलवाल श्रावक थे और सोगाणी इनका गोत्र था। एक भट्टारक पट्टावली के अनुसार ये संवत् १६९१ में भट्टारक बने थे। इनका पट्टाभिषेक सांगानेर में हुआ था। इसकी पुष्टि बख्तराम साह ने अपने बुद्धिविलास में निम्न पद्य से की है—

नरेन्द्रकीरति नाम, पट इक सांगानेरि में।
भये महागुन धाम, सोलह से इक्याणवे ॥

ये भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे, जो आमेर गादी के संस्थापक थे। सम्पूर्ण राजस्थान में ये प्रभावशाली थे। मालवा, मेवात तथा दिल्ली आदि के प्रदेशों में इनके भक्त रहते थे और जब वे जाते, तब उनका खूब स्वागत किया जाता। एक भट्टारक पट्टावलि[1] में ननेन्द्रकीर्ति की आम्नाय का जहाँ-जहाँ प्रचार था, उनका निम्न पद्यों में नामोल्लेख किया है—

आमनाइ ढिलीय मण्डल मुनिवर, अवर मरहट देसयं,
भ्रणीये बत्तीसी विख्यात, वदि बैराठस वैसयं ॥

मेवात मण्डल सवै सुणीए, धरम तिण बांधे धरा।
परसिध पचवारौस मुणिए, खलक बंदे अतिखरा ॥
धर प्रकट ढुंढा इडर ढाढौ, अवर अजमेरौ भणा।
मुरधर सन्देश करै महोछा, मंड चवरासी घणा ॥
सांभरिह सुथान सुद्रग सुणीजै, जुगत इहरै जाण ए।
अधिकार ऐती धरा थोपै, विरुद्ध अधिक बखाणए।
नरसाह नागरचाल निसचल बहोत खैराडा वरै।
मेवाड देस चीतौड मोटौ, महैपति मंगल करे।

मालवै देसि बडा महाजन, परम सुखकारी सुणा।
आम्या सुवाल सुधुम सब विधि, भाव अंगि मोटा भणा ॥
मांडौर मांडिल अजब, बून्दी, परसि पाटण थानयं।
सीलौर कोटौ ब्रह्मवार, मही रिणथंभ मानयं ॥

---

१. इसकी एक प्रति महावीर भवन, जयपुर के संग्रहालय में है।

बीरघ चदेरी चाव निस्चल, महंत धरम सुमंडणा।
विद्दैत लाखैहेरी विराजै, अधिक उणियारा तणा ॥

दिगम्बर समाज के प्रसिद्ध तेरह पन्थ की उत्पत्ति भी इन्हीं के समय में हुई थी। यह पन्थ सुधारवादी था और उसके द्वारा अनेक कुरीतियों का जोरदार विरोध किया था। बख्तराम शाह ने अपने मिथ्यात्व खण्डन में इसका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

भट्टारक आंवैरिके, नरेन्द्र कीरति नाम।
यह कुपंथ तिनकै समै, नयो चल्यो अघ धाम ॥

इस पद्य से ज्ञात होता है कि नरेन्द्रकीर्ति का अपने समय से ही विरोध होने लगा था और इनकी मान्यताओं का विरोध करने के लिए कुछ सुधारकों ने तेरहपन्थ नाम से एक पन्थ को जन्म दिया। लेकिन विरोध होते भी नरेन्द्रकीर्ति अपने मिशन के पक्के थे और स्थान-स्थान पर घूमकर साहित्य एवं संस्कृति का प्रचार किया करते थे। यह अवश्य था कि ये सन्त अपने आध्यात्मिक उत्थान की ओर कम ध्यान देने लगे थे तथा लौकिक रूढ़ियों में फँसते जा रहे थे। इसलिए उनका धीरे-धीरे विरोध बढ़ रहा था, जिसने महापण्डित टोडरमल के समय में उग्र रूप धारण कर लिया और इन सन्तों के महत्त्व को ही सदा के लिए समाप्त कर दिया।

नरेन्द्रकीर्ति अपने समय में आमेर के प्रसिद्ध भट्टारकीय शास्त्र भण्डार को सुरक्षित रखा और उसमें नयी-नयी प्रतियाँ लिखवाकर विराजमान करायी गयीं।

'तीर्थंकर चौबीसना छप्पय' नाम से एक रचना मिली है जो सम्भवतः इन्हीं नरेन्द्रकीर्ति की मालूम होती है। इस रचना का अन्तिम पद्य निम्न प्रकार है—

एकादश वर अंग, चउद पूरव सहू जाणउ।
चउद प्रकीर्णक शुद्ध, पंच चूलिका बखाणु ॥
अरि पंच परिकर्म सुत्र, प्रथमहु दिनि योगहु।
तिहनां पद शत एक अधिक द्वादश कोटिगहु ॥
आसी लक्ष अधिक बली, सहस्र अठावन पंच पद।
इनं आचार्य नरेन्द्रकीरति कहइ, श्रीश्रुत ज्ञान पाठधरीय मुदं ॥

संवत् १७२२ तक ये भट्टारक रहे और इसी वर्ष महापण्डित आशाधर कृत प्रतिष्ठा पाठ की एक हस्तलिखित प्रति इनके शिष्य आचार्य श्रीचन्द्रकीर्ति घासीराम, पं. भीवसी एवं मयाचन्द्र के पठनार्थ भेंट की गयी।

कितने ही स्तोत्रों की हिन्दी गद्य टीका करनेवाले अखयराज इन्हीं के शिष्य थे। संवत् १७१७ में संस्कृत मंजरी की प्रति इन्हें भेंट को गयी थी। टोडारायसिंह के प्रसिद्ध पण्डित कवि जगन्नाथ इन्हीं के शिष्य थे। पं. परमानन्द जी ने नरेन्द्रकीर्ति के विषय में लिखते हुए कहा है कि इनके समय में टोडारायसिंह में संस्कृत पठन-पाठन का अच्छा कार्य चलता था। लोकशास्त्रों के अभ्यास द्वारा अपने ज्ञान की वृद्धि करते थे। यहाँ शास्त्रों का भी अच्छा संग्रह था। लोगों को जैनधर्म से विशेष प्रेम था। अष्टसहस्री

और प्रमाणनिर्णय आदि न्याय ग्रन्थों का लेखन, प्रवचन, पंचास्तिकाय आदि सिद्धान्त ग्रन्थों आदि का प्रति लेखन कार्य तथा अनेक नूतन ग्रन्थों का निर्माण हुआ था। कवि जगन्नाथ ने श्वेताम्बर पराजय में नरेन्द्रकीर्ति का मंगलाचरण में निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

पदाम्बुज मधुव्रतो भुवि नरेन्द्रकीर्तिगुरोः।
सुवादि पद भृद्बुधः प्रकरणं जगन्नाथ वाक् ॥

प्रतिष्ठा-कार्य

भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति ने राजस्थान के विभिन्न भागों में विहार करके अनेक प्रतिष्ठा महोत्सव एवं सांस्कृतिक समारोह सम्पन्न कराये। संवत् १७१० में मालपुरा (टोंक) में एक बड़ा भारी प्रतिष्ठा महोत्सव आयोजित किया गया। स्वयं भट्टारक जी ने उसमें सम्मिलित होकर प्रतिष्ठा महोत्सव की शोभा में चार चाँद लगाये। इसके एक पर्व ही में गिरनार संघ गये थे और वहाँ भी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव आयोजित किया गया था। संवत् १७१६ में ये संघ के साथ हस्तिनापुर गये। इनके संघ में आमेर एवं अन्य स्थानों के अनेक श्रावकगण थे। वहाँ पर जाने पर उनका भव्य स्वागत किया गया और आमेर के श्रावक द्वारा प्रतिष्ठा महोत्सव आयोजित किया गया था।

भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के अनेक शिष्य थे। इनमें पं. दामोदरदास प्रमुख थे और ये ही इनके पश्चात् भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के नाम से भट्टारक बने थे। एक शताब्दी में इनकी शिष्य-परम्परा निम्न प्रकार दी है—

भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति
|
अमरचन्द
|
जयमल्ल
|
मनोहरदास
|
छीतर मल
|
हरिचन्द — ब्र. टेकचन्द — चतुर्भुज

हरिचन्द
|
चोखचन्द — ऋषभदास

चोखचन्द
|
सुखराम, किसनदास, नानिगदास
|
कल्याणदास, केशरी सिंह, मोहनदास

भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति ने जब अपना अन्तिम समय जाना तब उन्हें अपने उत्तराधिकारी के विषय में चिन्ता हुई। वे सांगानेर आये और समाज को बुलाकर अपने विचार व्यक्त किये। इसके पश्चात् वे आमेर आ गये। संघपति विमलदास भी इनके साथ आये। वहाँ पर भी किसी योग्य व्यक्ति की तलाश होने लगी। अन्त में यही निश्चित हुआ कि भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति स्वयं ही जिसका नाम सुझा देंगे उसी को भट्टारक पद पर अभिषिक्त कर दिया जायेगा। उन्होंने दामोदरदास का नाम लिख दिया और बड़े ठाठबाट से उनका महाभिषेक किया गया और वे भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के नाम से प्रसिद्ध हुए।

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति

[संवत् १७२२ से १७३३ तक]

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। इनकी गृहस्थ अवस्था का नाम दामोदरदास था। ये बड़े भारी विद्वान् एवं संयमी श्रावक थे। प्रारम्भ से ही उदासीन रहकर शास्त्रों के सम्पर्क में ये कब आये इसका तो कोई उल्लेख नहीं मिलता लेकिन ये उनके प्रिय शिष्यों में से थे और इन पर नरेन्द्रकीर्ति का सबसे अधिक विश्वास था। भट्टारक रत्नकीर्ति संवत् १७२२ के श्रावण मास तक भट्टारक रहे। लेकिन उन्हें इसके पूर्व ही अपने जीवन के अन्तिम समय का आभास हो गया था।

जब भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति विहार करते हुए सांगानेर आये तो पं. दामोदरदास से कहने लगे कि अब शरीर का अता-पता नहीं है इसलिए तुम (दामोदरदास) चाहो तो महाभिषेक हो सकता है। अपने गुरु के ऐसे वाक्य सुनकर उन्हें बहुत दुख हुआ तथा वे कहने लगे कि आज पूज्य भट्टारकजी महाराज ऐसी बात क्यों कह रहे हैं। अभी आपकी आयु काफ़ी शेष है और गुरु महाराज का तो शरीर पर भी अधिकार है। फिर भी वह चार महीने पश्चात् भट्टारक पद पर अभिषिक्त हो सकेगा ऐसा पं. दामोदरदास ने अपने गुरु से निवेदन किया। अपने शिष्य के विनयपूर्ण वचन सुनकर इन्हें काफ़ी सन्तोष हुआ और वे वहाँ से आमेर चले आये।

आमेर में उनके साथ संघपति विमलदास भी आये। इस विषय में संघपति से फिर चर्चा हुई। वहाँ पर उन्होंने भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति से पुनः अपने हृदय की बात कहने के लिए निवेदन किया। भट्टारकजी ने यही कहा कि महाभिषेक करने की उनकी हार्दिक इच्छा है इसलिए यदि कोई योग्य विद्वान् पण्डित अथवा विद्याशील व्यक्ति हो तो इसको भट्टारक गादी पर बिठवाया जा सकता है। संघपति विमलदास ने जब ऐसे वाक्य सुने तो उन्होंने तत्काल ही सांगानेर पं. कल्याण को पत्र लिखा कि भट्टारकजी अपने शरीर को समाप्त होनेवाला मान रहे हैं इसलिए जिसके लिए उनका सुझाव मिले उसे ही भट्टारक पद दिया जा सकता है। पं. कल्याण ने बहुत सोच-विचार कर लिखा कि आजकल कोई पण्डित नहीं है तथा भट्टारकजी के पत्र से ऐसा ही आभास मिलता है कि भट्टारक पद पर पण्डित दामोदरदास को दिया जाना चाहिए। इसके पश्चात् सभी प्रतिष्ठित सज्जन जिनमें संघपति विमलदास, पं. कल्याण, चन्द्रदेव, उदयराज, जीवराज, कल्याण सोगाणी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, मिलकर भट्टारकजी के पास आये।

संघपति विमलदास ने भट्टारकजी से अपने उत्तराधिकारी के विषय में संकेत देने के लिए निवेदन किया तथा कहा कि वर्तमान में तो पं. दामोदरदास से अच्छा कोई पण्डित नहीं है। यह सुनकर नरेन्द्रकीर्ति हँस दिये तथा कहने लगे कि जैनधर्म तो गच्छ के सहारे है और इन पण्डितों में जैनधर्म के प्रति अपार श्रद्धा है। इसके पश्चात् सभी ने यह निश्चय किया कि पं. दामोदरदास को शीघ्र ही पत्र लिखकर बुलाया जाये। पत्र लेकर मनराम को भेजा गया जो तत्काल सांगानेर जाकर पं. दामोदरदास को आमेर ले आये। भट्टारक महाभिषेक की बात नगर-नगर में फैल गयी और लोग इसे सुनकर हर्षित हो गये। पं. दामोदरदास अकेले ही नहीं आये किन्तु अपने साथ सांगानेर के प्रमुख सज्जनों को भी लाये थे। इनमें एक अजयराज चौधरी ने जो सांगानेर के सिरताज थे। इसके अतिरिक्त शम्भुराम छाबड़ा, ऋषभदास वैद, लूणकरण, राईसिंह, संघ हरिराम, प्रेम ठोलिया, उदैराज सोगानी आदि प्रतिष्ठित व्यक्ति भी आमेर आकर उत्सव की शोभा बढ़ाना चाहते थे।

संवत् १७२८ की श्रावण शुक्ला अष्टमी मंगलवार को महाभिषेक समारोह आयोजित किया जाना निश्चित हुआ। दोपहर के पश्चात् संघपति विलदास पं. दमोदर-दास के साथ आये। तत्काल अभिषेक की सामग्री मँगायी गयी। स्वर्णकलशों में जल भरा गया। उनमें अखण्ड अक्षत डाले गये। सर्वप्रथम केशर एवं हल्दी से युक्त जल से स्वयं भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति का अभिषेक किया गया तथा उन्होंने सुरेन्द्रकीर्ति को अपना पट्ट शिष्य घोषित किया। सुरेन्द्रकीर्ति ने सर्वप्रथम पंच महाव्रतों को जीवन में उतारने का नियम लिया। इसके पश्चात् नरेन्द्रकीर्ति ने अपने शिष्य सुरेन्द्रकीर्ति को अपना आसन दिया तथा मन्त्र पढ़कर उनके सिर पर हाथ रखा और भविष्य में भगवान् महावीर के सिद्धान्तों को जन-जन तक पहुँचाने की प्रतिज्ञा की। तथा यही आशीर्वाद दिया कि जगत् में जैनधर्म का विस्तार करो जिससे इस जगत् को दुखों से छुटकारा मिल सके। सुरेन्द्रकीर्ति ने संयम वृत ग्रहण किया। इसके पश्चात् सांगानेर एवं आमेर के प्रतिष्ठित सज्जनों ने सुरेन्द्रकीर्ति का अभिषेक किया एवं भट्टारक पट्टावली में इसका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

रतनजडि हेम संकुच महा, पुरिषा मिली पंचमु हाथी करे.
संगही विमलेस मुनि कवलागिर, चन्द्रसेठी करि चाव मने।
अजैराजर रायसिंह सरोमणि धरमचंद्र अभैराज घने।
रस पंच भस्या अति कुंदन, ढाले मसताकि साधु तंण।
थिर भंमण पार नरिंद तणो, सुरिइन्द्र भट्टारिक साध भणं।
कलसा अवशेष कीयौ मुनि उपरि आपण श्री सुरराज अयौ।
अति उदव एम हुवा, भ्रव मंडल में सुरभिषि भयो।

अभिषेक के पश्चात् सर्वप्रथम सुरेन्द्रकीर्ति ने अपने अमृतमय वचनों से सबको सम्बोधित किया और आत्मविकास करने की सबको प्रेरणा दी। भट्टारकजी की उस

समय शोभा ही निराली लगने लगी थी। मद-मोह एवं मिथ्यात्व से रहित साधु लगने लगे। ज्ञान में वे गौतम के समान दिखाई दिये तथा उनका शरीर तेजयुक्त हो गया जिनके दर्शन मात्र से ही सबका मन गलित हो जाता था।

उस समय आमेर नगर की शोभा भी निराली ही बन गयी थी। आमेर दुर्ग उस समय राजस्थान में विख्यात था। मिर्जा राजा जयसिंह इसके शासक थे। श्री सुरेन्द्रकीर्ति भट्टारक थे और संघपति विमलदास सब श्रावकों के शिरोमणि थे। नगर में भगवान् नेमिनाथ का मन्दिर सबसे बड़ा था जिसकी श्रावकों द्वारा तीनों काय वन्दना की जाती थी। यही मन्दिर भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति का प्रमुख केन्द्र था।

सुरेन्द्रकीर्ति की सेवा में राजस्थान के एवं अन्य प्रदेशों के श्रावक आते रहे और उनमें अपने-अपने नगर एवं ग्रामों को पवित्र करने की प्रार्थना करने लगते थे। वे जहाँ भी विहार करते कितने ही प्रकार के महोत्सव आयोजित किये जाते। स्त्रियाँ मंगलगीत गातीं एवं भावकगण साष्टांग प्रणाम के साथ ही चरणस्पर्श करते एवं आशीर्वाद की याचना करते। जब महामुनि बाहर के लिए निकलते तो एक अपूर्व शोभायात्रा होती। उन पर पुष्पों की वर्षा की जाती एवं उनके चरणों में श्रावकगण अपने आपको न्योछावर करने के लिए तत्पर रहते। वे जैनों के आध्यात्मिक बादशाह थे जिनको सभी नर-नारी बिना किसी भेद-भाव के पूजते थे।

पतिसाह जैनि बंदे प्रथी दुख दालिद केता हरण।
सुरइंद व्रति सुणत सहु सकल संग मंगल करण॥

इस प्रकार सुरेन्द्रकीर्ति का यश चारों ओर फैल गया। उनके गीत गाये जाते और लोग उन्हें तरह-तरह की उपाधियों से विभूषित करके उनका गुणानुवाद करते। एक कवि के शब्दों में देखिए—

छन्द वरसावल

मेट मरजादरा, वूठते दानरा
गोरखे आनरा, रखणे भानरा।
मेटीया मंदरा, आदि खेदूरा
जेनिरा बंदरा, जोडि सुरिंदरा
सील सन्तोषरा, भूप वदैमरा
ततधारीषरा, व्रिदवाह वरा।

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति भट्टारक पद पर केवल ११ वर्ष तक रहे लेकिन इतने अल्प समय में ही उन्होंने सारे उत्तर भारत में अपना अच्छा प्रभाव जमा लिया। इन्होंने दो प्रतिष्ठाओं में विशेष रूप से भाग लिया जो एक संवत् १७२९ में तथा दूसरी संवत् १७३२ में सम्पन्न हुई थी। दोनों ही के प्रतिष्ठाकारक मन्त्रहीन हरिराम थे।

भट्टारक जगत्कीर्ति

[संवत् १७३३ से १७७१ तक]

जगत्कीर्ति भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। संवत् १७३३ में इन्हें भट्टारक गादी पर अभिषिक्त किया गया। भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति की मृत्यु के पश्चात् जब उनके शिष्य की तलाश हुई तो आमेर एवं सांगानेर की जैन समाज ने जगत्कीर्ति को भट्टारक पद समर्पित करने का निश्चय किया। इस शुभ कार्य में रत्नकीर्ति, महीचन्द्र एवं यशकीर्ति ने मिलकर जगत्कीर्ति को अपने समय की सबसे गौरवशाली भट्टारक गादी समर्पित किया। जगत्कीर्ति के भट्टारक बनते ही चारों ओर हर्ष छा गया। श्रावकगण उन्हें जैन समाज मण्डल एवं गौतम गणधर के समान महान् तपस्वी एवं ज्ञानी मानने लगे। एक पट्टावली में भट्टारक जगत्कीर्ति के इस महाभिषेक का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

अती उछाह आनन्द कीया बढिउ हरिष अपार।
गछपति गुरु श्रीय जंगतकृति, सबै जैनि सिरदार॥
जैनि मंडण थौपे सिरताज, महिमा यत्र बडौ मुनिराज।
गौतम तिसौ तपै श्री जगगुर प्रतपै जगतकीरति पाटोधर॥

जगत्कीर्ति विद्या वारिधि थे। महान् तपस्वी एवं संयमी थे। अपरिग्रह व्रत धारक थे। जब आसन धारण कर अडिग आँखों से सामायिक करने बैठते थे तो वे महान् तपस्वी लगते थे। मन्त्र विद्या के आराधक थे तथा अमृतवाणी के प्रस्तोता थे।

जगत्कीर्ति का महाभिषेक आमेर नगर में हुआ था। विमलदास ने उस समय जैन समाज का नेतृत्व किया और पाँच स्वर्ण कलशों में उनका अभिषेक किया। भट्टारकजी खण्डेलवाल जाति में उत्पन्न हुए थे और सांखोट्या उनका गोत्र था। उनके महाभिषेक के दिन श्रावण बदी पंचमी संवत् १७३३ का शुभ दिन था।

जगत्कीर्ति के कितने ही विशेषण थे। इनमें 'सन्तुष्टीकृत भव्यजनवृन्द' स्वपर पविश्रीकृते ललायमण्डल, निर्बाधवाक्सुरपीयूख उल्लेखनीय हैं। भट्टारक बनते ही सर्व-प्रथम इन्होंने जयपुर राज्य के विभिन्न नगरों में विहार किया। संवत् १७३६ आषाढ़ बदी १२ गुरुवार के दिन जब ये कामा नगर में पहुँचे तो पंचास्तिकाय ग्रन्थ आचार्य श्री दयाभूषण के शिष्य पं. हीरानन्द को भेंट किया। संवत् १७४१ में करवरनगर में एक विशाल प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन किया गया। पं. सोनपाल छाबड़ा ने प्रतिष्ठा

कार्य सम्पन्न कराया। इस प्रतिष्ठा में भट्टारक जगत्कीर्ति प्रमुख अतिथि थे। संवत् १७४५ में बणायणा ग्राम में भट्टारकजी के एक शिष्य ब्र. नाथूराम के छोटे भाई झगड़ू के लिए षट्कर्मोपदेश रत्नमाला की एक पाण्डुलिपि सभी श्रावकों ने मिलकर लिखवायी और उसे ब्र. नाथू को भेंट की गयी। ग्रन्थ की प्रशस्ति में भट्टारक जगत्कीर्ति के लिए निम्न शब्दों का प्रयोग किया गया है—

'तत्पट्टोदयाद्रिदिनमाणं गांभीर्यधैर्यादार्यं पाण्डित्य सौजन्य
प्रमुख गुणमणमणि रोहिणीक्षितिभृत भट्टारकश्री जगत्कीर्ति'

भट्टारक जगत्कीर्ति की अध्यक्षता में चांदखेड़ी में संवत् १७४६ में एक विशाल प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन किया गया। प्रतिष्ठा में जगत्कीर्ति को सादर एवं श्रद्धा के साथ आमन्त्रित किया गया। १८वीं शताब्दी में होनेवाली प्रतिष्ठाओं में चांदखेड़ी की प्रतिष्ठा का बड़ा महत्त्व है। एक प्रतिष्ठा पाठ के अनुसार इसमें ११ भट्टारक सम्मिलित हुए थे और उन सबसे प्रमुख भट्टारक जगत्कीर्ति थे। किशनदास बघेरवाडा प्रतिष्ठा-कारक थे। हाथियोंवाला रथ था और जिसके सारथी थे, कोटा और बूंदी दरबार से स्वयं चलाया था। एक यती द्वारा जब रथ को मन्त्र द्वारा कील दिया गया तो भट्टारक जगत्कीर्ति ने ही उसका प्रबन्ध किया था। इस प्रतिष्ठा महोत्सव में करीब ५ लाख रुपये खर्च हुए थे ऐसा उल्लेख मिलता है।

"संवत् १७४६ के साल भट्टारक जगत्कीर्ति के बारे में चांदखेड़ी में किशनराम बघेरवाला भगवान को रथ हाथ चलाओ। कोटा बूंदी का महाराज दोन्यू लेर चाल्या। सभा सहित भट्टार ११ जदि। जती चालता रथ कूं बंद कर दीनू और कहीं यहाँ की पूजा करया रथ चाले लो तदि आचार्य या कही हाथ्या ने खोल दी। रथ बिना हाथ्या ही चालसी। हाथी खोल्या पाछे रथ पाव कोष चाल्यों और जती न कुहवाई अब थारी सामर्थ दिखा तद आचार्य के पगां पड्या प्रतिष्ठा में रुपया पाँच लाख लाग्या।"

भट्टारक जगत्कीर्ति के कितने ही शिष्य थे। इनमें प्रमुख थे पण्डित नेमीचन्द। इनके शिष्य डूंगरसी, रूपचन्द, लिखमीदास एवं दोबराज थे। पं. नेमीचन्द के हरिवंश-पुराण की रचना में अपने गुरु का अच्छा उल्लेख किया है जो निम्न प्रकार है—

भट्टारक सब उपरे जगतकीर्ति जग जोति अपारतो।
कीरति चन्द्र दिसि बिस्तरी पाँच आचार पालै सुभसारतो।
प्रयत्त में जीतै नहीं चहुँ दिसि मैं सब ताकी आणतो।
खिया खडग स्यो जीतिया, चौराणवै पट नायक मांगतो।

एक अन्य पट्टावली के अनुसार उनके प्रमुख शिष्यों में दीवराज और छीतरमल थे। छीतरमल के शिष्य हीरानन्द एवं उनके शिष्य चोखचन्द थे।

संवत् १७६१ में करवर (हाड़ौती) नगर में फिर एक विशाल प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन सम्पन्न हुआ। प्रतिष्ठा करानेवाले श्रावक सोनपाल काबरा थे जो टोडाराय-सिंह के रहनेवाले थे। प्रतिष्ठा में चारों ही संघ एकत्रित हुए थे। इस प्रतिष्ठा में यतियों

ने अपनी मन्त्र शक्ति के द्वारा खाद्य पदार्थों को आकाश में उड़ा दिया। इसके उत्तर में भट्टारक जगत्कीर्ति ने अपने कमण्डलु में से पानी छिड़ककर विघ्न को शान्त किया तथा वह सामग्री भी आकाश से नीचे आ गिरी। इससे जगत्कीर्ति की चारों ओर प्रशंसा होने लगी और लोग उनके भक्त बन गये।

भट्टारक जगत्कीर्ति के समय आमेर राज्य की राजधानी थी। नगर व्यापारिक मण्डी थी। सामान्य वस्तुओं के भण्डार भरे रहते थे। सब जातियाँ सुखी एवं प्रसन्न थीं। आमेर जैन समाज का केन्द्र था। भट्टारकों का समाज पर पूर्ण प्रभाव था तथा कोई भी धार्मिक अनुष्ठान, प्रतिष्ठा आदि उनके मार्गदर्शन के बिना नहीं हो सकती थी।

जगत्कीर्ति संवत् १७७० तक भट्टारक रहे। २६ वर्ष के अपने भट्टारक जीवन में उन्होंने इतना अधिक यश का अर्जन कर दिया था कि उनकी चारों ओर जयघोष से आकाश गुंजित रहने लगा था। उनका राज्य शासन में भी विशेष जोर था और महाराज सवाई जयसिंह द्वारा उनका समय-समय पर सम्मान होता रहता था। वे जहाँ भी विहार करते गाँव एवं नगर के झुण्डों के झुण्ड नर-नारी उनका स्वागत करते थे। मन्त्र शास्त्र के भी वे अच्छे ज्ञाता थे और इसमें भी उनकी चारों ओर धाक रहती थी। आमेर, साँगानेर में उनकी गादियाँ थीं लेकिन ये राजस्थान एवं देश के अन्य भागों में विहार किया करते थे।

---

१. संवत् १७६१ के साल भट्टारक जगत्कीर्ति के बारे में गाँव करवर हाडोती का मुलक में सोनपाल छाबड़ा टोडारायसिंह का चौधरी प्रतिष्ठा कराई चार संघ मेला हुआ। जला माल उडायो तब चौधरी कही महाराज माल अटूट करयो। पण जती लोग माल उड़ायो मंगावा छे तब आप कमण्डल के छाँटा दीना तब चाल्यो नहीं आकाश में लख्यो करयो फेर जोर चाल्यो नहीं। प्रतिष्ठा में रुपया दस लाख लाग्या।

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति द्वितीय

[संवत् १७७१ से १७९२ तक]

देवेन्द्रकीर्ति (द्वितीय) भट्टारक जगत्कीर्ति के स्वर्गवास के पश्चात् संवत् १७७० की माह वदी ११ को आमेर में भट्टारक गादी पर बैठे। उस समय आमेर अपने पूर्ण वैभव पर था और महाराजा सवाई जयसिंह आमेर के शासक थे। देवेन्द्रकीर्ति खण्डेलवाल जाति के श्रावक थे और ठोलिया इनका गोत्र था। जगत्कीर्ति अपने समय के अत्यधिक प्रतिभाशाली भट्टारक थे तथा उनका यश एवं कीर्ति चारों ओर फैली हुई थी। ऐसे यशस्वी भट्टारक का उत्तराधिकारी होना ही देवेन्द्रकीर्ति के प्रखर व्यक्तित्व का द्योतक है।

देवेन्द्रकीर्ति का महाभिषेक जिस शानदार ढंग से हुआ वह किसी सम्राट् के राज्याभिषेक से कम नहीं था। एक सप्ताह पूर्व ही आमेर को सजाया जाने लगा था। तोरण द्वार बांधे गये थे और मन्दिरों में विशेष उत्सव आयोजित किये गये थे। आमेर, सांगानेर, मौजमाबाद, सांभर, नरायणा, चाकसू, टोडारायसिंह-जैसे अनेक गाँवों एवं नगरों में सहस्रों की संख्या में श्रावक एवं श्राविकाएँ तथा पण्डितगण सम्मिलित हुए थे। अनेक विद्वानों को विशेष रूप से सादर आमन्त्रित किया गया था। वैसे भट्टारक जगत्कीर्ति के संघ में भी अनेक ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणियाँ, पण्डितगण अच्छी संख्या में थे। माह वदी ११ को शुभ मुहूर्त में उनका पट्टाभिषेक हुआ। नौबत बजने लगे और जनता ने भगवान् महावीर की जय, जैनधर्म की जय, भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की जय के नारों से आकाश गुँजा दिया। चारों ओर से भेंट आना प्रारम्भ हुआ और सभी ने श्रद्धानुसार उनके चरणों में अपना भाग अर्पित किया। देवेन्द्रकीर्ति द्वारा पूर्ण संयम एवं महाव्रतों को स्वीकार करने की प्रतिज्ञा ली गयी।

सर्वप्रथम उन्होंने अपने क्षेत्र का और फिर राजस्थान का विहार किया। सर्वप्रथम इनके भट्टारक बनने के पश्चात् संवत् १७७२ की फाल्गुन सुदी ३ को धूलेटनगर में एक प्रतिष्ठा का आयोजन किया गया। यह प्रतिष्ठा संघी हृदयराम द्वारा करायी गयी थी और भट्टारक जगत्कीर्ति के शिष्य पं. खोवसीजी ने प्रतिष्ठा कार्य करवाया था।

संवत् १७८० की ज्येष्ठ सुदी ३ रविवार को आमेर के पास खोहरा में साह कुँवरपाल ने भट्टारक श्रेयान्सनाथ के चैत्यालय का निर्माण करवाया। इस प्रतिष्ठा कार्य की प्रेरणा आचार्य चन्द्रकीर्ति ने की थी। उस समय भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति (द्वितीय) का

शासन था और उन्हें 'तत्पट्टोदयाद्रिप्रभाकर भट्टारकेन्द्र भट्टारक श्रीदेवेन्द्रकीर्ति देवा:' इन शब्दों में स्मरण किया गया है।[1]

संवत् १७८३ वैशाख सुदी ८ का दिन भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के जीवन में विशेष महत्व का रहा। इस दिन उन्होंने बाँसखोह में एक बड़ी भारी प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न कराया। संवत् १७४६ में चाँदखेड़ी में होनेवाली राजस्थान की यह सबसे बड़ी प्रतिष्ठा थी जिसमें हजारों मूर्तियों की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई। इस प्रतिष्ठा महोत्सव में प्रतिष्ठापित सैकड़ों मूर्तियाँ आज राजस्थान के विभिन्न मन्दिरों में मिलती हैं। बाँसखोह जयपुर राज्य के अधीन ठिकाना था जिसके शासक का नाम ही चूहड़सिंह था। इस प्रतिष्ठा को संघी श्री हृदयराम से उनके परिवार ने सम्पन्न करवाणी थी। इन्हीं हृदयराम ने संवत् १७७३ में भी एक प्रतिष्ठा का आयोजन करवाया था। एक प्रतिष्ठा पाठ के अनुसार इस प्रतिष्ठा को सम्पन्न करवाया।

देवेन्द्रकीर्ति द्वितीय साहित्य-सेवी भी थे तथा विद्वानों से इनका खूब सम्पर्क था। पं. लिखमीराम इनके शिष्य थे और इन्हीं के पास खुशालचन्द्र काला ने कुछ ज्ञान प्राप्त किया था। खुशालचन्द्र ने संवत् १७८० में हरिवंशपुराण की रचना भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शासन में की थी जिसका उल्लेख उन्होंने निम्न प्रकार किया है—

कुंदकुंद मुनि की सु आमनाय माँहि,
भये देवेन्द्रकीर्ति सुपट्टासर पायके।
जिन सु भये तहाँ नाम लिखबीदास,
चतुर विवेकी श्रुतज्ञान कू उपाय के।
तिहने पास मैं भी कछु आल सौ प्रकाश भयो,
फोर्ट में बस्यो जिहानाबाद मध्य आइके।

संवत् १७८५ में पौष शुक्ला चतुर्थी सोमवार को जिनसेनाचार्य कृत हरिवंश पुराण की झिलाय नगर में मनसाराम सोगाणी ने प्रतिलिपि की थी। इसकी प्रशस्ति में भट्टारक चन्द्रकीर्ति द्वितीय के लिए निम्न विशेषणों का प्रयोग किया गया है—

"तत्पट्टोदयाद्रि-दिनमणि निर्बन्ध सम्यो गद्य पद्य
विद्याधरी परिदम्भ—
संतज्जित मूर्खिप्रतापबल: निजश्रमावलिल निर्द्धूत पापपंक:
भट्टारकेन्द्र भट्टारक: श्री देवेन्द्रकीर्ति"

देवेन्द्रकीर्ति २२ वर्ष क़रीब भट्टारक और सन् १८९२ तक जीवित रहकर देश एवं समाज की सेवा करते रहे।

---

१. हरिवंशपुराण प्रशस्ति संग्रह, डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ. संख्या २७६-७७।

भट्टारक महेन्द्रकीर्ति

[संवत् १७९२ से १८१५ तक]

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति द्वितीय के स्वर्गवास के पश्चात् १७९२ में महेन्द्रकीर्ति भट्टारक गद्दी पर पदस्थ हुए। उस दिन पौष सुदी १० का दिन था। इनका महाभिषेक देहली में हुआ था। जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि भट्टारकों के प्रभाव में और भी वृद्धि होने लगी थी और देहली निवासियों में इन भट्टारकों के प्रति श्रद्धा हो गयी थी।

महेन्द्रकीर्ति का ग्रन्थ प्रशस्तियों में एवं शिलालेखों में विभिन्न विशेषणों के साथ उल्लेख मिलता है। 'मुनिसुव्रतपुराण' की एक प्रशस्ति में इन्हें 'भट्टारक शिरोरत्न' की उपाधि से स्मरण किया गया है। एक अन्य प्रशस्ति में सकल भट्टारक शिरोमणि भट्टारक श्री महेन्द्रकीर्ति के रूप में इनका उल्लेख मिलता है। महेन्द्रकीर्ति ने प्रतिष्ठाओं को विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया और साहित्य लेखन एवं उसके प्रचार को अपनी गतिविधियों का माध्यम बनाया। सौभाग्य से इन्हें पं. दयाराम सोनी मिल गये जो नरायण के निवासी थे। ये ग्रन्थों की प्रतिलिपि करने में अत्यन्त निष्णात थे। इनके द्वारा लिखे हुए पचासों ग्रन्थ आज राजस्थान के विभिन्न शास्त्र भण्डारों में संग्रहीत हैं। पाण्डे जिनदास कृत जम्बूस्वामीचरित्र की प्रशस्ति में पं. दयाराम ने भट्टारक महेन्द्रकीर्ति को 'पट्टोदयाद्रि-दिनमणिप्ररूपः भट्टारक श्री महेन्द्रकीर्ति' लिखा है और अपने आपको 'तदाजानुवर्णी पं. दयारामेन' लिखकर अपना परिचय दिया है। इन्हीं दयाराम ने खड्गसेन के त्रिलोकदर्पणकथा, पं. खुशालचन्द्र के यशोधर चरित्र एवं सम्यक्त्व कौमुदी भाषा चौपई एवं नेमिचन्द के हरिवंशपुराण का ग्रन्थों की प्रतिलिपियां करके भट्टारक महेन्द्रकीर्ति को दी थी। इससे ज्ञात होता है कि महेन्द्रकीर्ति की साहित्य निर्माण में अधिक रुचि थी।

महाराजा सवाई जयसिंह के पश्चात् महाराजा ईश्वरीसिंह (सन् १७४३-५०) एवं महाराज सवाई माधोसिंह (सन् १७५०-१७६७) तक जयपुर के शासक रहे। सवाई माधोसिंह के शासनकाल में जयपुर में महाकवि दौलतराम एवं महापण्डित टोडरमल जैसे विद्वान् हुए जिन्होंने जैन समाज एवं साहित्य की अपूर्व सेवा की थी। टोडरमलजी का पहले तो भट्टारकों से मधुर सम्बन्ध था लेकिन बाद में ये इनके घोर विरोधी हो गये। जयपुर में तेरापन्थ का विकास इन्हीं के विरोध का परिणाम था। भट्टारक

महेन्द्रकीर्ति ने भी इस वातावरण के अनुसार साहित्य प्रचार का कार्य प्रारम्भ कर दिया और इस कार्य की ओर विशेष प्रवृत्त हो गये।

महेन्द्रकीर्ति के संघ में मुनि एवं आचार्य भी रहते थे। एक प्रशस्ति में उनके संघ में आचार्य ज्ञानकीर्ति, आचार्य सबलकीर्ति एवं पं. खेतसी का नामोल्लेख किया है।

भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति

[संवत् १८१५ से १८२२ तक]

भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति का महाभिषेक १८१५ में जयपुर में ही हुआ। भट्टारक गादी का प्रमुख केन्द्र जयपुर का दिगम्बर जैन मन्दिर पाटोदी था इसलिए इसी मन्दिर में उनका समाज की ओर से अभिषेक किया गया। लेकिन सं. १८१५ से २२ तक का समय महापण्डित टोडरमल के जीवन के उत्कर्ष का समय था। इसलिए क्षेमेन्द्रकीर्ति अपने समय में कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं कर सके। फिर भी एक प्रशस्ति में इन्हें पट्टोदयाद्रिसहस्ररश्मिसन्निभ कहा गया है। संवत् १८२० में श्रावकाचारकर्म की प्रतिलिपि उनके पण्डित के पठनार्थ की गयी थी।

भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति के समय में जयपुर में तेरापन्थ का बहुत जोर था। चारों ओर पण्डित टोडरमल द्वारा लिखित ग्रन्थों का अध्ययन होता था। संवत् १८२१ में जयपुर में इन्द्रध्वज पूजा का विशाल आयोजन हुआ था। लेकिन भाई रायमल्ल की पत्रिका में भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति का उल्लेख नहीं होना बताता है कि समाज का एक वर्ग इनका पूर्णरूप से विरोधी विचारधारा का बन गया था। लेकिन इससे भट्टारक संस्था पर कोई तत्काल प्रभाव नहीं पड़ा। उस समय जयपुर में बख्तराय साह-जैसे विद्वान् थे जो भट्टारक संस्था के समर्थक थे। इन्होंने मिथ्यात्व खण्डन में तेरहपन्थ की कटु आलोचना की है। यह ग्रन्थ भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति के समय (सं. १८२१) में ही लिखा गया था।

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति
[संवत् १८२२ से १८५२ तक]

जयपुर में महाभिषेक होनेवाले भट्टारकों में सुरेन्द्रकीर्ति दूसरे भट्टारक थे। भट्टारक पट्टावली में इनके महाभिषेक की तिथि संवत् १८२२ फाल्गुन सुदी ४ है। किन्तु तत्कालीन जयपुरिया विद्वान् बखतराम साह ने बुद्धि विलास में पट्टाभिषेक का संवत् १८२३ लिखा है। सुरेन्द्रकीर्ति खण्डेलवाल जाति के श्रावक थे तथा पहाड़िया इनका गोत्र था। ये भट्टारक गादी पर संवत् १८५२ तक रहे।

सुरेन्द्रकीर्ति जब भट्टारक गादी पर बैठे तब महापण्डित टोडरमल की सारे जयपुर नगर में बड़ी भारी प्रतिष्ठा थी। तथा तेरहपन्थवाले श्रावकों का चारों ओर बहुत जोर था। ऐसे समय में भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति का उन्हीं के नगर में पट्टाभिषेक होना भी आश्चर्य-सा लगता है। लेकिन इससे यह भी लगता है कि भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति विद्वत्ता एवं संयम दोनों ही दृष्टि से प्रशंसनीय व्यक्तित्व के साधु थे। भट्टारक बनते ही इन्होंने सारे प्रदेश में विहार करना प्रारम्भ किया और जनसम्पर्क के माध्यम से चारों ओर अपने श्रद्धालु भक्त करने लगे। संवत् १८२४-२५ में महापण्डित टोडरमल का स्वर्गवास हो गया। इससे तेरहपन्थ समाज को बड़ा धक्का लगा और उसके काम में गहरा गतिरोध पैदा हो गया।

दूसरी ओर भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति अपने समाज का पूरा प्रभाव स्थापित करने में लगे हुए थे। इसलिए संवत् १८२६ में इन्होंने सवाई माधोपुर में एक बृहद् पंचकल्याणक महोत्सव को सानन्द सम्पन्न कराया। इस प्रतिष्ठा में देश के विभिन्न भागों के हजारों प्रतिनिधियों ने भाग लिया और महोत्सव की सफलता में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया। एक प्रतिष्ठा-पाठ के अनुसार इस प्रतिष्ठा समारोह में ५ लाख रुपये खर्च हुए थे। संवत् १७८३ के पश्चात् जैनों का ऐसा विशाल समारोह प्रथम बार हुआ था। जयपुर में संवत् १८२१ में आयोजित इन्द्रध्वज पूजन भी सम्भवत: इससे बड़ा समारोह नहीं होगा। इस प्रतिष्ठा में देश के विभिन्न भागों में हजारों मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं और सबका भगवान् बनाकर विभिन्न मन्दिरों में विराजमान किया गया।

संवत् १८४१ में फाल्गुन सुदी ६ के शुभ दिन भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति अपने संघ के साथ खण्डार पधारे। वहाँ के मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाकर एक बड़ा भारी मेला भरवाया। जीर्णोद्धार करवाने में महाराज सवाई प्रतापसिंह के खवास रामकँवर,

प्रधान दीवान रामचन्द्र एवं उनके परिवारवालों सभी का योग रहा। इसके पूर्व संवत् १८३४ में धूलेट में इन्हीं के उपदेश से एक पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन हुआ था।[1] संवत् १८५१ बैशाख सुदी १४ सोमवार के दिन बालन्दा नगर में छाबड़ा गोचार्य साह उदयराम एवं उनके पुत्र सम्भुराम ने प्रतिष्ठा करायी।[2]

एक प्रशस्ति में सुरेन्द्रकीर्ति की निम्न विशेषणों के साथ स्तुति की गयी है—

'तत्पट्टायागमार्तण्ड' 'चण्डोद्योतित' 'परवादिपंचानन'[3]

एक अन्य प्रशस्ति में[4] इन्हें सर्वभौमानां 'पट्टालंकार ललायमान' की उपाधि से विभूषित किया गया। सुरेन्द्रकीर्ति के प्रधान शिष्य पं. चौखचन्द्र थे। इन्हें भी 'परवादिकुम्भस्थलविदारणे मृगेन्द्रः स्ववचन-चातुरीनिरस्तीकृत-मिथ्यात्वादयः'—विशेषणों के साथ सम्बोधित किया गया।

सुरेन्द्रकीर्ति ने अतिशय-क्षेत्र श्री महावीरजी के विकास में प्रारम्भ से ही ध्यान दिया और समय-समय पर वहाँ जाकर क्षेत्र के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति संस्कृत एवं हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनकी अब तक निम्न लघु रचनाएँ प्राप्त हो चुकी हैं—

१. सम्मेद शिखर पूजा[5]
२. पंचकल्याणकविधान[6]
३. पंचणायचतुर्दशी व्रतोद्यापन[7]
४. जम्बूदीप प्रज्ञप्ति-संग्रह[8]
५. चाँदनपुर महावीर पूजा

जम्बूदीप प्रज्ञप्ति-संग्रह में इन्होंने अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है—

श्रीमत्क्षेमेन्द्रकीर्ति भंवर मुनिवर श्रेष्ठशिष्यस्य नित्यं
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति प्रवर रचना रिप्यणीवद्धिधातु।

भट्टारक गादी पर बैठने के पश्चात् इन्होंने अपनी गादी दिगम्बर जैन आचार्य क्षेत्र श्री महावीरजी में स्थानान्तरित की और चाँदनपुर महावीर की पूजा की रचना की। इससे ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र पर इन भट्टारकों का पूर्ण अधिकार था और वे प्रायः वहाँ जाया करते थे तथा काफ़ी समय ठहरकर श्रावकों को धर्मोपदेश दिया करते थे। भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति ने जयपुर एवं सवाई माधोपुर, चाकसू आदि नगरों में अपना प्रभाव पुनः स्थापित किया और जनसामान्य में भट्टारक संस्था के प्रति श्रद्धा के भाव जागृत किये।

---

१. मूर्ति यंत्र लेख संग्रह, महावीर भवन, जयपुर, पृ. सं. ५४।
२. वही, पृ. सं. २६३।
३. प्रशस्ति संग्रह, पृ. सं. ४८।
४. वही, पृ. सं. ५५।
५. रा. जैन ग्रन्थ सूची, पंचम भाग, पृ. सं. ६१२।
६. वही, पृ. सं. ८४६।
७. वही, पृ. सं. ८६६।
८. महावीर भवन, जयपुर, पृ. सं. ८।

भट्टारक सुखेन्द्रकीर्ति

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति द्वितीय के स्वर्गवास के पश्चात् संवत् १८५२ में मंगसिर बदी अष्टमी के दिन जयपुर में ही सुखेन्द्रकीर्ति भट्टारक पद पर पट्टाभिषिक्त हुए। सुखेन्द्रकीर्ति जब भट्टारक बने तो जयपुर जैन समाज एकदम बीसपन्थ एवं तेरहपन्थ धाराओं में बँट चुका था। यद्यपि महापण्डित टोडरमल एवं महाकवि दौलतराम कासलीवाल-जैसे उच्च विद्वानों का स्वर्गवास हो चुका था किन्तु उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर समाज आगे बढ़ रहा था। एक ओर महापण्डित जयचन्द्र छाबड़ा तत्त्व प्रचार कर रहे थे तथा संस्कृत एवं प्राकृत ग्रन्थों की टीकाएँ करके जनता में स्वाध्याय का प्रचार कर रहे थे तो दूसरी ओर टोडरमलजी के पुत्र गुमानीराम तेरहपन्थ में भी और सुधार लाने का प्रयास करते थे। भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति ने भी अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के माध्यम से जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर दिया था और तत्कालीन समाज में भट्टारक गादी की उपयोगिता का प्रचार करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। इसलिए उनके मरने के पश्चात् टोडरमलजी के ही नगर में पुनः सुखेन्द्रकीर्ति का पट्टाभिषेक सानन्द सम्पन्न हो गया।

भट्टारक गादी पर बैठते ही सर्वप्रथम उन्होंने नगर के बाहर अपने पूर्ववर्ती भट्टारक, महेन्द्रकीर्ति एवं भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति की स्मृति में दो छतरियों का निर्माण कराया और उनमें उनके चरण स्थापित किये। यह उनके समाज पर व्याप्त प्रभाव की ओर स्पष्ट संकेत है। यह महोत्सव संवत् १८५३ माघ सुदी पंचमी गुरुवार को सम्पन्न हुआ था।[1]

१. संवत् १८५३ माघ मासे शुक्लपक्षे पंचमी गुरुवासरे ढूंढाहड देशे सवाई जयनगरे महाराजाधिराज महाराज श्री सवाई प्रतापसिंह जी राज्य प्रवर्तमाने श्रीमूलसंघे संघाम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये अंबावती पट्टोदयाद्रि दिनमणि तुल्य भट्टारकेन्द्र भट्टारक जी श्री देवेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे भ. श्री महेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे श्री क्षेमेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे भ. श्री सुरेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे भ. श्री सुखेन्द्रकीर्तिना इयं श्री महेन्द्रकीर्ति गुरौ पादुका प्रत्यय महोत्सवेन प्रतिष्ठापिता पूजकानां कल्याणं करोतु श्रीरस्तु शुभमस्तु।

आचार्य शान्तिसागरजी

दिगम्बर जैन समाज में उत्तरी भारत में तेरहपन्थ के उदय ने भट्टारक सम्प्रदाय पर गहरी चोट की और समाज पर उनका एकाधिकार स्वतः ही कम होता गया। राजस्थान, देहली, मध्यप्रदेश, गुजरात एवं उत्तरप्रदेश में जहाँ भी भट्टारकों की गादियाँ थीं उनके प्रति जनता की आस्था घटने लगी। भट्टारक संस्था के पतन में एक कारण यह भी रहा कि वे न तो विशिष्ट सिद्धान्तवेत्ता ही रहे और न तपस्वी एवं संयमी ही रहे। महापण्डित टोडरमल, जयचन्द्र, सदासुख-जैसे एक के पीछे दूसरे विद्वानों के होने से समाज में विद्वानों के प्रति आदर बढ़ने लगा और भट्टारक साधु संस्था के प्रति निष्ठा कम होती गयी। आज उत्तर भारत में अधिकांश भट्टारक गादियाँ खाली पड़ी हैं और उन गादियों पर बैठने के लिए न किसी में विशेष उत्साह है और न समाज को ही विशेष चिन्ता है।

लेकिन सन् १९२७-२८ के आस-पास उत्तरी भारत में दक्षिण भारत से नग्न मुनियों का संघ प्रवेश हुआ और इस संघ ने सारे देश में एवं विशेषतः दिगम्बर जैन समाज में एक नयी हलचल मचा दी। यह संघ आचार्य शान्तिसागरजी का था जिन्होंने मृतप्राय मुनि संस्था को फिर से जीवनदान दिया। उत्तर भारत के सैकड़ों नगरों एवं ग्रामों में संघ व विहार करके आपने लोगों में जैनधर्म एवं जैनाचार के प्रति जन-सामान्य में एक विशेष स्फूर्ति पैदा की और उसके पश्चात् देश में एक के बाद दूसरे संघ बनने लगे और आज तो सारे भारत में सौ से भी अधिक मुनि एवं आचार्य से कम नहीं होंगे।

आचार्य शान्तिसागर का जन्म दक्षिण भारत के बेलगाँव जिले के बेलगुल ग्राम में आषाढ़ कृष्णा ९ विक्रम संवत् १९२९ में बुधवार की रात्रि को हुआ। आचार्यश्री के पिता का नाम भीमगौडा पारील था तथा माता का नाम सत्यवती था। ये चतुर्थ जैन जाति में पैदा हुए थे। इसी जाति में महापुराण के निर्माता भगवत् जिनसेनाचार्य हुए। आदिगौडा एवं देवगौडा उनके बड़े भाई थे तथा कुम्भ गौडा छोटा भाई था। आचार्यश्री का परिवार अत्यधिक प्रतिष्ठित परिवार था और उसके सभी सदस्य भूमिपति थे। आचार्यश्री की माता अत्यधिक धार्मिक थी। वह अष्टमी चतुर्दशी को उपवास रखती और साधुओं को आहार देती थी। वे भी अपनी माता को साधुओं को आहार देने में योग देते थे। उनके कमण्डलु को हाथ में रखकर उनके साथ-साथ आया करते थे इसलिए छोटी अवस्था में ही उनके साधु बनने की लालसा जागृत हो गयी थी। आचार्यश्री के पिता भी प्रभावशाली, बलवान्, रूपवान्, प्रतिभाशाली थे। उन्होंने १६ वर्ष पर्यन्त एक

बार ही भोजन के नियम का पालन किया और अन्त में ६५ वर्ष की आयु में यम-समाधिपूर्वक मृत्यु का सहर्ष आलिंगन किया।

अपने सद्गुणों के कारण आचार्यश्री सर्वप्रिय थे और जब वे नौ वर्ष के ही थे तभी माता-पिता ने उनका एक ६ वर्ष की बालिका के साथ विवाह कर दिया। लेकिन दैवयोग से उस लड़की का विवाह के ६ मास पश्चात् ही स्वर्गवास हो गया। जब वे १८ वर्ष के हुए तो माता-पिता ने विवाह करने के लिए पुनः आग्रह किया लेकिन आचार्यश्री ने स्पष्ट रूप से मना कर दिया। माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् आचार्यश्री ने जिनदीक्षा ले ली। उनके दीक्षा गुरु मुनि देवेन्द्रकीर्ति थे। कोगनोली (दक्षिण) में उन्होंने अपना प्रथम चातुर्मास व्यतीत किया। इनका दूसरा चातुर्मास नसलापुरा में हुआ। विक्रम संवत् १९८० में उनका चतुर्थ चातुर्मास कोन्नूर में सम्पन्न हुआ। अब महाराजश्री के दर्शनार्थ दूर-दूर से श्रावक आने लगे। एक बार महाराज को जब श्रावकों की उपस्थिति में अपनी तपस्या में बाधा दिखलाई दी तो वे पास ही की एक गुफा में ध्यान करने चले गये। जब वे ध्यानस्थ थे तो गुफा में ही एक सर्प ने उनपर उपसर्ग किया और शरीर पर लिपट गया। लेकिन आचार्यश्री जरा भी विचलित नहीं हुए और अपनी तपःसाधना में लीन रहे। महाराजश्री के शान्त एवं ध्यानस्थ योग मुद्रा को देखकर वह स्वतः ही उतरकर चला गया। इसी तरह जब वे क्षुल्लक अवस्था में थे तब भी एक भयंकर विषधर सामायिक करते समय उनके तन पर तथा गले में लिपट गया था लेकिन आचार्यश्री प्रत्येक परीक्षा में खरे उतरे। समडोली में महाराजश्री ने श्रमण संघ का निर्माण किया उसके कारण लोगों ने उन्हें आचार्य परमेष्ठी के रूप में पूजना प्रारम्भ कर दिया।

दक्षिण से आचार्यश्री का विहार उत्तर भारत में जब हुआ तो समस्त जैन समाज में एक अजीब हलचल मच गयी और उसने आचार्यश्री को पाकर अपने आपको गौरवान्वित समझा। आचार्यश्री महान् तपस्वी थे और रात्रि-दिन आत्मध्यान में लवलीन रहते थे। उन्होंने उत्तर भारत के सभी नगरों एवं गाँवों में विहार किया और जन-जन के हृदय में अहिंसा एवं अनेकान्त के आदर्श को रखा। वे जहाँ विहार करते जनता उनका हृदय से स्वागत करती और ऐसे महान् तपस्वी के चरणों में अपने आपको समर्पित कर देती। आचार्यश्री का सम्पूर्ण जीवन रोमांचकारी घटनाओं से परिपूर्ण था। उनके सम्पर्क में जो भी आया वही उनके समक्ष नतमस्तक होकर चला गया।

महाराजश्री अन्तिम समय कुन्थलगिरि पर थे। वहाँ उन्होंने अपना अन्तिम समय जानकर १४ अगस्त सन् १९५५ को यम सल्लेखना ले ली और १८ सितम्बर १९५५ के प्रभात में छह बजकर पचास मिनट पर उनके औदारिक देह का अन्त हो गया। ३६ दिन की यम समाधि ने समस्त जैन समाज में ही नहीं किन्तु सारे देशवासियों में एक अजीब हलचल मचा दी और समस्त देश ने एक साथ उनके चरणों में अपनी सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित की। इस युग में आचार्य शान्तिसागरजी-जैसा महान् तपस्वी मिलना दुर्लभ है। ऐसे महान् सन्त को लेखक की ओर से शत शत प्रणाम।

आचार्य वीरसागरजी

आचार्य शान्तिसागर महाराज का पट्ट शिष्य होने का सौभाग्य वीरसागरजी को मिला। जब आचार्यश्री ने यम समाधि ले ली थी उसी समय २६ अगस्त १९५५ शुक्रवार को इन्हें आचार्य पद प्रदान किया गया। यद्यपि उस समय वीरसागरजी वहाँ नहीं थे लेकिन आचार्य पद देते हुए उन्होंने कहा था कि "हम स्वयं के सन्तोष से अपने प्रथम निर्ग्रन्थ शिष्य वीरसागर को आचार्य पद देते हैं।" उन्होंने उस समय अपना महत्त्वपूर्ण उपदेश निम्न शब्दों में भेजा था "आगम के अनुसार प्रवृत्ति करना, हमारी ही तरह समाधि धारण करना और सुयोग्य शिष्य को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करना जिसने परम्परा बराबर चले।"

आचार्य वीरसागरजी अधिक दिनों तक आचार्य पद पर नहीं रह सके और सन् १९५७ में ही जयपुर की खानियों में उन्होंने समाधि मरण ले लिया। उनका बड़ा तेज-आत्मबल था और उसी के सहारे वे अपना मार्ग निर्धारण करते थे।

आचार्य वीरसागरजी दक्षिण भारत के गृहस्थ जीवन में अवैतनिक रूप से धर्म-शिक्षण का कार्य करते थे।

आचार्य शिवसागरजी

आचार्य वीरसागरजी के पश्चात् आचार्य शान्तिसागरजी की परम्परा को बनाये रखने के लिए मुनि शिवसागरजी महाराज विक्रम संवत् २०१४ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किये गये। आचार्य बनने के पश्चात् ब्यावर में आपका प्रथम चातुर्मास हुआ। इसके पश्चात् अजमेर, सुजानगढ़, सीकर, लाडनूं, खानियां (जयपुर), पपौरा, श्री महावीरजी, कोटा, उदयपुर एवं प्रतापगढ़ में चातुर्मास सम्पन्न हुए। और फाल्गुन कृष्ण अमावस्या संवत् २०२५ को छह-सात दिन के साधारण ज्वर के पश्चात् श्री महावीरजी में आपका स्वर्गवास हो गया।

शिवसागरजी का जन्म सम्भवतः संवत् १९५८ में हुआ था। ये खण्डेलवाल जाति एवं रावंका गोत्रीय श्री नेमिचन्द्रजी के सुपुत्र थे। आपकी जन्मभूमि औरंगाबाद जिले के अन्तर्गत अडगांव है। आपका जन्म-नाम हीरालाल था। आपके दो भाई एवं दो बहनें थीं। पिता की आर्थिक स्थिति विशेष अच्छी नहीं होने के कारण आप एवं आपके भाई-बहन उच्चाध्ययन से वंचित रहे। १३ वर्ष की आयु में ही आपके माता-पिता एवं बड़े भाई की मृत्यु हो जाने से सारी गृहस्थी का भार आप पर आ गया। जब आप २८ वर्ष के थे तब स्व. शान्तिसागरजी के दर्शन करने का सौभाग्य मिला और प्रथम भेंट में ही आचार्यश्री से आपने व्रत प्रतिमा ग्रहण की। ४१ वर्ष की आयु में आपने मुक्तागिरि सिद्ध क्षेत्र पर सप्तम प्रतिमा धारण कर ली और ब्रह्मचारी के रूप में संघ के साथ रहने लगे। इसके पश्चात् इन्होंने क्षुल्लक दीक्षा ले ली और संवत् २००६ में नागौर (राजस्थान) में आपने मुनि दीक्षा धारण कर ली। इसके पश्चात् १४ वर्ष तक आप आचार्यश्री वीरसागरजी के संघ में मुनि अवस्था में रहे और चारों अनुयोगों का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। और अन्त में संवत् २०१४ में आचार्य वीरसागर-जी के स्वर्गवास के पश्चात् आप संघ के आचार्य बनाये गये। आपने अपने जीवन में ४८ साधुओं को दीक्षा दी।

संवत् २०२० में जब खानियां (जयपुर) में आपका चातुर्मास हुआ तो वहां निश्चय और व्यवहार को लेकर विद्वानों की एक बृहद् गोष्ठी का आयोजन हुआ। यह एक ऐतिहासिक गोष्ठी थी जिसमें समाज के कितने ही मूर्धन्य विद्वानों ने भाग लिया। टोडरमल स्मारक भवन में 'खानिया तत्त्व चर्चा' दो भागों में प्रकाशित भी हो चुकी है। श्री महावीरजी में निर्मित शान्तिवीर नगर आपकी ही प्रेरणाओं का सुखद फल है।

आचार्य शिवसागरजी उच्चतम निर्ग्रन्थ तपस्वी थे। उनके मार्गदर्शन में समाज ने जो लाभ लिया उसे कभी नहीं भुलाया जा सकता। उनकी स्मृति में एक शिवसागर स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है जिसका सम्पादन पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य ने एवं प्रकाशन श्रीमती भँवरीदेवी जैन ने किया है।

आचार्य सूर्यसागर

आचार्य शान्तिसागरजी के पश्चात् जिन जैनाचार्यों का समाज एवं सांस्कृतिक विकास में सबसे अधिक योगदान रहा उनमें से आचार्य सूर्यसागरजी महाराज का नाम सबसे उल्लेखनीय है। आचार्यश्री २०वीं शताब्दी के महान् सन्त थे। आपका महान् व्यक्तित्व एवं तपःसाधना देखते ही बनती थी। देश के विभिन्न भागों में विहार करके आपने समस्त जैन समाज को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया था।

आचार्यश्री का जन्म संवत् १९४० के कार्तिक शुक्ला नवमी के शुभ दिन हुआ था। आपका जन्म-स्थान ग्वालियर राज्य के शिवपुरी जिलान्तर्गत पेपसर ग्राम में हुआ था। आपका बचपन का नाम हजारीमल था। पिता के सहोदर भाई बलदेवजी झालरापाटनवालों के यहाँ लालन-पालन हुआ था। बचपन से ही आप चिन्तनशील रहते थे तथा धार्मिक क्रियाओं में आपकी विशेष रुचि रहती थी जो विवाह होने के उपरान्त भी उसी रूप में बनी रही। जब आप ४१ वर्ष के थे तो एक स्वप्न के फलस्वरूप आपको जगत् से विरक्ति हो गयी और आसोज शुक्ला षष्ठी संवत् १९८१ को आपने इन्दौर में आचार्यश्री शान्तिसागरजी महाराज के पास ऐलक पद की दीक्षा ले ली। उसी समय आपका सूर्यसागर नाम रखा गया। कुछ समय पश्चात् आप मुनि और फिर आचार्य पद को प्राप्त हो गये।

आचार्य सूर्यसागर विद्वान् सन्त थे। उनकी वाणी में मिठास था। इसलिए उनकी सभाओं में पर्याप्त संख्या में श्रोतागण आते थे। उनका महान् ग्रन्थ 'सूर्यसागर ग्रन्थावली' जयपुर से प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ में जैन धर्म एवं उसके सिद्धान्तों का अत्यधिक सुन्दरता से प्रतिपादन किया गया है। आचार्यश्री का स्वर्गवास डालमियानगर में समाधिपूर्वक हुआ था। वहीं पर उनकी संगमरमर की भव्य समाधि बनी हुई है।

संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान्—आचार्यश्री ज्ञानसागरजी महाराज

वर्तमान शताब्दी में संस्कृत भाषा में महाकाव्यों के रचना की परम्परा को जीवित रखने वाले विद्वानों में जैनाचार्य ज्ञानसागरजी महाराज का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। वे ५० वर्षों से भी अधिक समय तक संस्कृत वाङ्मय की अनवरत सेवा करने में लगे रहे।

आचार्यजी के दर्शनों का सौभाग्य लेखक को मिल चुका है। वे काय से गौर वर्ण, ध्यान एवं तप में सन्नद्ध, पठन-पाठन एवं साहित्य निर्माण में दत्तचित्त, सर्वथा दिगम्बर, २४ घण्टों में एक ही बार आहार एवं जल ग्रहण और वह भी निरन्तराय, अस्सी वर्ष को पार करने के पश्चात् भी अपनी क्रियाओं एवं पद के प्रति पूर्णतः सजग, श्रावक-श्राविकाओं को प्रतिदिन ज्ञान देनेवाले, अपने संघ के साधुओं की दिनचर्या के प्रति जागरूक, उनको पढ़ाने की क्रिया में संलग्न रहने पर भी स्वयं के द्वारा साहित्य निर्माण में व्यस्त रहने वाले—आदि कुछ विशेषताओं से युक्त आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के कभी भी दर्शन किये जा सकते थे।

जीवन

आचार्यश्री का जन्म राजस्थान के सीकर जिलान्तर्गत राणोली ग्राम में संवत् १९४८ में एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम चतुर्भुज एवं माता का नाम घेवरी देवी था। उस समय उनका नाम भूरामल रखा गया। गाँव की प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उनको संस्कृत भाषा के उच्च अध्ययन की इच्छा जाग्रत् हुई और माता-पिता की अनुमति लेकर ये वाराणसी चले गये जहाँ उन्होंने संस्कृत एवं जैन सिद्धान्त का गहरा अध्ययन करके शास्त्री की परीक्षा पास की। राजस्थान के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ आपके सहपाठियों में से थे। काशी के स्नातक बनने के पश्चात् ये वापस अपने ग्राम आ गये और ग्रन्थों के अध्ययन के साथ-साथ स्वतन्त्र व्यवसाय भी करने लगे। लेकिन काव्य-निर्माण में विशेष रुचि लेने के कारण उनका व्यवसाय में मन नहीं लगा। विवाह की चर्चा आने पर इन्होंने आजन्म अविवाहित रहने की अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त की और अपने आपको माँ भारती की सेवा में समर्पित कर दिया।

महाकवि के रूप में—

आचार्यश्री ने तीन महाकाव्य—वीरोदय, जयोदय एवं दयोदय चम्पू, कुछ चरित काव्य—समुद्रदत्त चरित, सुदर्शनोदय, भद्रोदय आदि एवं हिन्दी काव्य—ऋषभचरित, भाग्योदय, विवेकोदय आदि क़रीब २० काव्य लिखकर माँ भारती की अपूर्व सेवा की। 'वीरोदय' भगवान् महावीर के जीवन पर आधारित महाकाव्य है जो हमें महाकवि कालिदास, भारवि, श्रीहर्ष एवं माघ आदि के महाकाव्यों की याद दिलाता है। इस काव्य में इन कवियों के महाकाव्यों की शैली को पूर्ण रूप से अपनाया गया है। तथा "माघे सन्ति त्रयो गुणाः" वाली कहावत भी वीरोदय काव्य में पूर्णतः चरितार्थ होती है। प्रारम्भ में जिस प्रकार कालिदास ने अपनी लघुता प्रकट करने के लिए "क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः" छन्द निबद्ध किया है उसी प्रकार वीरोदय काव्य में "वीरो-दयं यं विदधातुमेव न शक्तिमान् श्रीगणराजदेवः" लिखकर अपनी लघुता प्रदर्शित की है। इसी तरह "अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः" के समान ही "हिमालयोल्लासि गुणः स एष द्वीपाधिपस्येव धनुर्विशेषः" हिमालय की प्रशंसा में कुछ छन्द लिखे हैं। नैषध काव्य के भी कुछ छन्दों की प्रतिच्छाया वीरोदय काव्य के पद्यों में देखी जा सकती है। नैषध काव्य के प्रथम सर्ग के चतुर्थ पद्य में "अधीतिबोधाचरण-प्रचारणैर्द-शाश्चतस्त्रः प्रणयन्नुपाधिभिः" के समान ही वीरोदय काव्य में "अधीतिबोधाचरणप्रचारै-श्चतुर्दशत्वं गमितात्युदारैः" छन्द पढ़ने को मिलता है। इसी तरह कुमारसम्भव, शिशु-पालवध एवं भट्टि काव्य के कितने ही पद्यों की वीरोदय महाकाव्य के पद्यों से तुलना की जा सकती है। काव्य में गोमूत्रिका चित्रबन्ध काव्य कला के भी हमें दर्शन होते हैं जो महाकाव्यों की एक विशेषता मानी जाती है। इसी तरह इस महाकाव्य में श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, वक्रोक्ति, अपह्नुति, अन्योक्ति, व्याज-स्तुति, विरोधाभास आदि अनेक अर्था-लंकारों के प्रयोग से सारा काव्य अलंकारमय हो गया है। काव्य के चौथे सर्ग में वर्षा ऋतु, छठे सर्ग में वसन्त ऋतु, १२वें सर्ग में ग्रीष्म ऋतु एवं २१वें सर्ग में शरद् ऋतु का अत्यधिक सुन्दर वर्णन हुआ है।

इस महाकाव्य में यद्यपि महावीर वर्धमान का जीवन चरित ही चित्रित किया गया है किन्तु इतिहास एवं पुरातत्त्व के भी इसमें दर्शन होते हैं। तथा स्याद्वाद, अने-कान्तवाद एवं सर्वज्ञता के वर्णन में पूरा काव्य दार्शनिक काव्य बन गया है। पूरे काव्य में २२ सर्ग हैं।

जयोदय काव्य में जयकुमार-सुलोचना की कथा का वर्णन किया गया है। काव्य का प्रमुख उद्देश्य अपरिग्रह व्रत का माहात्म्य दिखलाना है। इस काव्य में २८ सर्ग हैं जो आचार्यश्री के महाकाव्यों में सबसे बड़ा काव्य है। इसकी संस्कृत टीका भी स्वयं आचार्य-श्री ने की है जिसमें काव्य का वास्तविक अर्थ समझने में पाठकों को सुविधा दी गयी है। यह महाकाव्य संस्कृत टीका एवं हिन्दी अर्थ सहित शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है।

दयोदय चम्पू में मृगसेन धीवर की कथा वर्णित है। महाकाव्यों में सामान्य वर्ग के व्यक्ति को नायक के रूप में प्रस्तुत करना जैन कवियों की परम्परा रही है और इस परम्परा के आधार पर इस काव्य में एक सामान्य जाति के व्यक्ति के व्यक्तित्व को उभारा गया है। धीवर जाति हिंसक होती है किन्तु मृगसेन द्वारा अहिंसा व्रत लेने के कारण इसके जीवन में कितना निखार आता है और अहिंसा व्रत का कितना महत्त्व है इस तथ्य को प्रस्तुत करने के लिए आचार्यश्री ने दयोदय चम्पू काव्य की रचना की है। इसमें सात लम्ब (अधिकार) हैं और संस्कृत गद्य-पद्य में निर्मित यह काव्य संस्कृत भाषा का अनूठा काव्य है।

आचार्यश्री ने संस्कृत में काव्य रचना के साथ-साथ हिन्दी में भी कितने ही काव्य लिखे हैं। कुछ प्राचीन ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया तथा छोटी-छोटी कथाओं के 'कर्तव्य पथप्रदर्शन'-जैसी कृतियों द्वारा जन-साधारण के रूप में दैनिक कर्तव्यों पर प्रकाश डाला है। यह पुस्तक बहुत ही लोकप्रिय रही है और इसकी दो आवृत्ति छप चुकी है। ऋषभदेव चरित हिन्दी का एक प्रबन्ध काव्य है जिसके १७ अध्यायों में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का जीवन चरित निबद्ध है। इस काव्य में आचार्यश्री ने मानव को सामान्य धरातल से उठाकर जीवन को सुखी एवं समुन्नत बनाने की प्रेरणा दी है।

□□